अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विदेशी विनिमय एवं प्रशुल्क नीति

(International Trade, Foreign Exchange & Fiscal Policy)

(विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों के एम० ए०
एवं एम० कॉम० विद्यार्थियों के लाभार्थ
परीक्षा प्रश्नों पर आधारित
एक सरल अध्ययन)

लेखक
एस० सी० मित्तल
एम० कॉम०
रचयिता : प्रिन्सिपल्स आफ इकॉनामिक्स, फाइनैन्सियल आर्गनाइजेशन, ग्रामीण एवं नागरिक अर्थशास्त्र, कृषि अर्थशास्त्र, आर्थिक विचारों का इतिहास, पब्लिक इकॉनामिक्स, यातायात, मुद्रा, बैंकिंग एवं विदेशी विनिमय, भारतीय अर्थशास्त्र, आदि आदि

1

लायल बुक डिपो
पाटनकर बाजार, ग्वालियर

मूल्य : ६ रुपये

प्रकाशक—
कैलाशप्रसाद अग्रवाल
वास्ते
कैलाश पुस्तक सदन
ग्वालियर

एजेण्ट—
१. गयाप्रसाद एण्ड सन्स
हॉस्पीटल रोड, आगरा
२. कैलाश पुस्तक सदन
हमीदिया रोड, भोपाल
३. लॉयल बुक डिपो
ग्वालियर

मुद्रक—
प्रियम्वदा प्रेस
नौबस्ता, आगरा

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तिका "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेशी विनिमय एवं प्रशुल्क नीति" एम० ए० एवं एम० कॉम० के विद्यार्थियों के अनुरोध पर, प्रश्नोत्तर रूप में, नवीन पाठ्यक्रमानुसार, लिखी गई है । इसमें परीक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का पूर्ण ध्यान रखा गया है । विभिन्न विश्वविद्यालयों के चुने हुये 65 प्रश्नों के पूर्ण उत्तर इस पुस्तिका में दिये गये हैं। छह अध्यायों में विभाजित ढाई-सौ से अधिक पृष्ठों वाली यह पुस्तक (नवीनतम तथ्यों एवं आंकड़ों सहित) विद्यार्थियों के लिये विशेष रूप से लाभदायक होगी, ऐसा हमारा विश्वास है ।

४/१४६ बेलनगंज, आगरा

एस० सी० मित्तल

विषय-सूची

प्रश्न पृष्ठ

अध्याय 1—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (सामान्य)

अध्याय 2—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त

अध्याय 3—अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान

अध्याय 5—भारत का विदेशी व्यापार

अध्याय 6—भारत की विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति

अध्याय 1

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (सामान्य)
(INTERNATIONAL TRADE—GENERAL)

Q. 1. Discuss critically the advantages of international trade from the point of view of consumers, labourers and investors in the country. (Agra, M. A., 1962)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के गुण (Merits of International Trade) :

सम्भव है कि कुछ देशों के लिये विदेशी व्यापार का अधिक महत्व न हो। उदाहरण के लिये, अमेरिका अपनी कुल राष्ट्रीय उत्पत्ति का केवल 5% ही आयात और निर्यात करता है। लेकिन अनेक अमेरिकन उद्योगों के लिये विदेशी व्यापार 'जीवन रक्त' (Life blood) बना हुआ है। वे अपनी कुल उत्पत्ति का एक चौथाई से आधा भाग तक निर्यात करते हैं या अपनी आधारभूत सामग्री विदेशों से आयात करते हैं। विश्व के अन्य देशों के लिये तो विदेशी व्यापार का महत्व इससे भी अधिक है। इगलैण्ड अपने लिये अधिकांश खाद्यान्न विदेशों से मंगाता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसे भूखों मरना पड़े। इस आयात का भुगतान वह तब ही कर सकता है जबकि वह अपने निर्यात विदेशों में बेचे। यही बात विश्व के अन्य अनेक देशों के बारे में भी है। केवल अमेरिका, रूस और संभवतः चीन ही इतने विशाल तथा प्रसाधनों से भरपूर हैं कि उन्हें अपना जीवन-स्तर कायम रखने के लिये आयातों पर बहुत कम निर्भर रहना पड़ता है तथापि उनके लिये भी विदेशी व्यापार इनकी अर्थ-व्यवस्थाओं के कुछ महत्वपूर्ण अंगों में एक महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। नीचे हमने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले प्रमुख लाभों पर प्रकाश डाला है :—

(1) प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप हर एक देश अपनी प्राकृतिक सम्पदा का पूर्ण उपयोग करने लगता है, क्योंकि प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं को उत्पन्न करता है जिसके उत्पादन में उसे अधिक तुलनात्मक लाभ है अथवा कम से कम हानि है। तुलनात्मक लाभ का स्वरूप प्राकृतिक साधनों की उपलब्धि पर निर्भर है। अतः जब देश प्राकृतिक साधनों के अनुकूल उद्योग अपने यहाँ चलाता है, तो प्राकृतिक सम्पदा का पूर्ण सदुपयोग सम्भव हो जाता है तथा वह निष्क्रिय नहीं रहती। वह कम लागत पर ही कुछ वस्तुओं को उत्पन्न कर लेता है तथा इनके बदले अन्य देशों से अपनी अन्य आवश्यक वस्तुयें प्राप्त करके, जिनको वह स्वयं अधिक लागत पर ही उत्पन्न कर सकता था, लाभान्वित होता है। वस्तुयें सस्ती मिलने के कारण देश के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा होता है।

(2) **औद्योगीकरण को बढ़ावा**—विदेशी व्यापार की सहायता से देश के उद्योग-धन्धों को चलाने और बढ़ाने के लिये आवश्यक कच्चा माल, मशीनरी, टैक्नीकल सेवायें आदि प्राप्त की जा सकती है और निर्मित पदार्थों की विदेशों में बिक्री करके अपने उद्योगों को विकसित किया जा सकता है। इससे देश में रोजगार भी बढ़ता है।

(3) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सद्भावना में वृद्धि**—विदेशी व्यापार के कारण एक देश के निवासी दूसरे देश के निवासियों के निकट संपर्क में आते हैं। निकट सम्पर्क के कारण एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और परखने का अवसर मिलता है, परस्पर विश्वास एवं सद्भावना बढ़ती है तथा अन्य क्षेत्रों में भी (राजनैतिक एवं सामाजिक) सहयोग की संभावना बढ़ जाती है।

(4) **विदेशी वस्तुओं का उपयोग**—जैसा कि हमने ऊपर बताया है, विदेशी व्यापार के कारण हमें विदेशों में बनी हुई वस्तुयें भी प्रयोग के लिये मिलने लगती हैं। इनमें से अनेक वस्तुयें ऐसी होती हैं, जिन्हें सम्भवतः देश में नहीं बनाया जा सकता अथवा बहुत खर्च बैठता है। किन्तु विदेशी व्यापार के कारण ये वस्तुयें सस्ते मूल्य पर ही उपलब्ध हो जाती हैं और इनसे देशवासियों का जीवन अधिक सुखी बनता है। उदाहरण के लिये, भारत में रेल, तार, वायुयान, रेडियो, मोटर, साइकिल एवं सिनेमा सम्बन्धी अनेक वस्तुयें, जिनसे देश की उन्नति हुई है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही भारत में आ सकी थीं। अब तो देश में भी इनके उत्पादन का कार्यक्रम चल रहा है। किन्तु काफी समय तक इनके अनेक पुर्जों के लिये हमें विदेशी व्यापार पर ही निर्भर रहना होगा। इनके बनाने के काम में आने वाली पूंजीगत मशीनों के लिये भी अभी हम काफी सीमा तक विदेशी व्यापार पर ही निर्भर हैं।

(5) **देशी उत्पादकों में सतर्कता**—विदेशी प्रतियोगिता के डर से देशी उत्पादक सदा सतर्क रहते हैं। वे अपनी उत्पादन-विधियों में सुधार की निरन्तर चेष्टा करते रहते हैं, जिससे उत्पादन व्यय न्यूनतम हो जाय और वस्तु भी अच्छी किस्म की बने। यही नहीं प्रबन्ध कुशलता भी बढ़ाई जाती है। विदेशी प्रतियोगिता एकाधिकारों की स्थापना में बाधा डालती है। इस प्रकार विदेशी प्रतियोगिता के अप्रत्यक्ष प्रभाव स्वरूप देशवासियों को सस्ती व अच्छी वस्तुयें एवं सेवायें मिलने की सम्भावना बढ़ जाती है।

(6) **विदेशी विनिमय की प्राप्ति**—जिस देश के पास कुछ वस्तुयें आवश्यकता से अधिक हैं उनके निर्यात द्वारा उसे सोना-चाँदी तथा विदेशी मुद्रायें प्राप्त हो सकती हैं। भविष्य में, जब उसे अन्य देशों से अपनी आवश्यकता की वस्तुयें मँगानी हों, तो वह सोना चाँदी और विदेशी मुद्रा देकर सरलता से मँगा सकता है। अमेरिका ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा ही विशाल स्वर्ण कोष संचित कर लिये हैं और आज उसे एक सम्मानित स्थान प्राप्त है।

(7) **मूल्यों में स्थिरता**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण संसार भर में प्रायः

सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमतों के समान रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इससे समान मजदूरियों व समान उपभोग-स्तरों को बढ़ावा मिलता है।

(8) संकट काल में सहायता—जब किसी देश में प्राकृतिक संकटों के कारण वहाँ की अर्थ-व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है, तब लोगों को विदेशी व्यापार के द्वारा अपने संकटों का सामना करने की ताकत प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये, जब-जब भारत में बाढ़, अनावृष्टि व अतिवृष्टि के कारण फसलों को बड़ी हानि पहुँची है तथा देश में अभूतपूर्व अन्न संकट उपस्थित हो गया, प्रायः तब-तब विदेशों से, विशेषतः अमेरिका से खाद्यान्नों का आयात करके लोगों को भूखा मरने से बचाया जा सका है।

(9) सभ्यता की उन्नति—व्यापार के कारण जब लोग एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं तब जाने अनजाने वे एक दूसरे को सभ्यता से प्रभावित होते हैं। इससे एक देश की सभ्यता दूसरे देश में फैलती है।

विदेशी व्यापार का इतना अधिक महत्व होते हुये भी विभिन्न सरकारों ने बहुत समय से ऐसी अनेक नीतियाँ अपना रखी हैं, जो कि ऐसे व्यापार को प्रोत्साहन देना तो दूर रहा वरन् अप्रोत्साहित करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं विनिमय कितना आवश्यक है यह एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। ऐसा कोई कारण नहीं है जिससे यह विश्वास किया जाय कि विशिष्टीकरण एवं विनिमय में बाधा डालने से मानव कल्याण की वृद्धि होगी। तब क्या कारण है कि साधारण जनता एवं हमारी विधान सभायें विदेशी व्यापार को अविश्वास की दृष्टि से देखती हैं और उस पर प्रतिबन्ध लगाती हैं ? विदेशी व्यापार के लिये एक अनुकूल आर्थिक कारण होते हुये भी राष्ट्र इसको प्रतिबन्धित क्यों करते हैं ? इन सब प्रश्नों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दोष
(Demerits of International Trade)

जहाँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अनेक लाभ हैं वहाँ इसके कुछ दोष भी हैं। किन्तु यदि सावधानी से काम लिया जाय और कुछ प्रतिबन्ध लगाये जायें, तो ये दोष बहुत सीमा तक कम किये जा सकते हैं। प्रायः निम्न प्रमुख दोष बताये जाते हैं :—

(1) प्राकृतिक सम्पदा का दुरुपयोग—कुछ प्राकृतिक साधन देश में सीमित मात्रा में होते हैं तथा उनका प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता। कोयला, पैट्रोल आदि इसी श्रेणी में आते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण इन साधनों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जाता है, जिससे इनके संचित भण्डारों के शीघ्र समाप्त होने का भय उत्पन्न हो गया है। कुछ खनिज पदार्थों का प्रयोग विदेशियों द्वारा होता है और देशवासियों को इनके लाभ से वंचित रहना पड़ता है। उदाहरण के लिये,

भारत में माइका और मैंगनीज का प्रयोग अभी तक विदेशियों द्वारा ही किया जा रहा था।

(2) विदेशी प्रतियोगिता से हानि — देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से कठिनाई भोगनी पड़ती है। विशेषतः एक अविकसित देश के उद्योग विकसित देशों के उद्योगों की प्रतियोगिता में नहीं टिक पाते या किसी प्रकार टिक जाते हैं तो पनप नहीं पाते। भारत में विदेशी प्रतियोगिता ने कुटीर उद्योगों को गहरी चोट पहुँचाई थी, जिसका दुष्परिणाम अनार्थिक कृषि के रूप में हम अब भी भोग रहे हैं।

(3) हानिकारक वस्तुओं का प्रचलन—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण देश में कुछ हानिकारक वस्तुओं का भी प्रवेश हो जाता है। उदाहरण के लिये, कुछ समय पूर्व भारत से चीन को बहुत सी अफीम जाया करती थी। इसके सेवन से उस देश के लोग आलसी हो गये थे।

(4) निर्भरता के दोष – विदेशी व्यापार के कारण एक देश की अर्थ-व्यवस्था दूसरे देश की अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्धित व उस पर निर्भर हो जाती है। इस निर्भरता की एक हानि यह है कि यदि किसी कारण एक देश में आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाय, तो अन्य देशों की अर्थ-व्यवस्थायें भी लड़खड़ा जाती हैं। उदाहरण के लिये सन् 1929 व 30 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का एक कारण यह था कि संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में चीजों के भाव गिर गये थे।

(5) युद्ध काल में कठिनाई—शान्ति काल में तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रायः सहज गति से चलता है (अब तो इसमें भी बाधायें पड़ने लगी हैं क्योंकि वर्तमान शांति काल वास्तव में एक शीतयुद्ध का अखाड़ा बना हुआ है), किन्तु युद्धकाल में व्यापारिक सम्बन्ध अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। इसमें देश को आवश्यक वस्तुयें प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है। द्वितीय युद्धकाल में भारत को भी अनेक विदेशी वस्तुयें आनी बन्द हो गई थीं, जिससे इनके भाव बहुत बढ़ गये तथा देशवासियों को बड़ी तंगी झेलनी पड़ी।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष—अपना-अपना विदेशी व्यापार बढ़ाने के लिये प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नशील होता है। यह स्वाभाविक है कि एक राष्ट्र के प्रयास दूसरे राष्ट्र के लिये बाधा उपस्थित करें। यहीं से प्रतिद्वन्द्वता व द्वेष भावनायें विभिन्न राष्ट्रों में घर करने लगती हैं और अन्त में युद्ध तक की नौबत आ जाती है। कुछ विद्वानों का मत है कि गत दोनों महायुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण ही लड़े गये थे।

(7) राजनैतिक दासता—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण कभी-कभी एक देश को दूसरे देश का दास बन जाना पड़ता है। एशियाई देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ विदेशियों के 'झण्डे' ने भी प्रवेश पा लिया था। जैसे—भारत में कुछ विदेशियों ने व्यापार के लिये प्रवेश किया था और व्यापारिक सुविधाओं के लिये भारतीय शासकों से याचना की थी। किन्तु धीरे-धीरे इन्हीं सुविधाओं का लाभ उठा कर तथा तत्कालीन शासकों की दुर्बलता के कारण वे भारत के भाग्य विधाता बन बैठे।

(8) राशिपातन का भय—एक देश अपनी वस्तुयें दूसरे देश में उत्पादन-लागत से भी कम मूल्य पर बेच कर वहां के प्रतियोगी उत्पादकों को समाप्त करने की चेष्टा कर सकता है और जब उसका एकाधिकार स्थापित हो जाय, वस्तु के ऊँचे दाम रख कर वहां के उपभोक्ताओं का शोषण कर सकता है। जब ऐसा होता है, देशवासियों को बहुत हानि होती है।

(9) कृषक देशों को हानि—जब विदेशी व्यापार एक कृषक देश और एक औद्योगिक देश के मध्य होता है, तो कृषक देशों को प्रायः हानि उठानी पड़ती है। कारण, कृषक-देश में कृषि-वस्तुयें उत्पत्ति ह्रास नियम के अन्तर्गत और औद्योगिक देश में वस्तुयें उत्पत्ति वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती हैं, जिससे कृषक देश औद्योगिक देश को अपनी मँहगी वस्तु देकर सस्ती वस्तु प्राप्त करता है।

(10) स्वदेश में वस्तुओं की कमी—निर्यात व्यापार से लाभ कमाने के लिये, विशेषत: उस दिशा में जबकि विदेशों में ऊँचे मूल्य हों, स्वदेश के व्यापारी अत्यधिक मात्रा में वस्तुओं का निर्यात करने लगते हैं। इससे आवश्यक वस्तुयें स्वदेश में दुर्लभ हो जाती हैं।

उपर्युक्त दोषों के कारण ही संभवतः वर्तमान सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगाती हैं और राष्ट्रीय आर्थिक स्वावलम्बन पर जोर देती हैं। किन्हीं-किन्हीं दशाओं में तो अत्यन्त संकुचित मनोवृत्ति अपना कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अनुचित प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनेक लाभों को देखते हुये इसे उपयुक्त सुविधायें देना जरूरी है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भी इस बात का प्रयास कर रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगी हुई अनुचित बाधाओं को हटवाया जाय।

☞ **Q. 2. Discuss the grounds for the distinction that has been made between home trade and international trade. Examine the criticisms that have been advanced against such a distinction. (Allahabad, 1955)**

or

Why is there necessity of a separate theory of international trade ? Discuss the views of Ohlin in this connection. (Vikram, 1959)

अन्तर्क्षेत्रीय बनाम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अनेक बातों में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं जिससे एक साधारण दृष्टि डालने पर यह प्रतीत होता है कि इनमें कोई भेद नहीं है। उदाहरणार्थ दोनों प्रकार के व्यापारों को जन्म देने वाला एक ही कारण—श्रम विभाजन है। अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में व्यापारी अपने क्षेत्र की प्रचुर

मात्रा में मिलने वाली वस्तुयें (व सेवायें) दूसरे क्षेत्रों के व्यापारियों को भेजता है, और वहां से ऐसी वस्तुयें (व सेवायें) मंगाता है जो उसके क्षेत्र में दुर्लभता से उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में दोनों पक्षों को लाभ होता है तथा विनिमय की क्रियाओं के फलस्वरूप उपभोक्ताओं को विविध सस्ती वस्तुयें उपभोग के लिये मिलना सरल हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी ऐसा ही देखा जाता है। व्यक्तियों की भांति एक देश भी उस कार्य में जिसके लिये सबसे अनुकूल साधन उपलब्ध हैं, विशिष्टता प्राप्त करता है तथा अन्य कार्य दूसरे देशों के लिये छोड़ देता है। अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की भांति, विभिन्न देशों में भी वस्तुओं का विनिमय होकर अधिक आवश्यकतायें पूर्ण करना संभव हो जाता है तथा विनिमय से सम्बन्धित सभी देश इससे लाभान्वित होते हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है ?

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि स्वभाव से ही आंतरिक अथवा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार विदेशी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के समान होता है। इस मूल समानता के होते हुये भी प्रायः यह विवाद किया जाता है कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता है ? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि जो परिस्थितियां अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देतीं व नियन्त्रण करती हैं वे उन परिस्थितियों से भिन्न हैं जो अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को जन्म देती व नियन्त्रित करती हैं। यही कारण है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से भिन्न, एक पृथक सिद्धान्त की रचना करने का प्रयास किया। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रीय इस मत को नहीं मानते। वे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के तर्कों को भ्रमपूर्ण एवं असत्य ठहराते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्पष्टीकरण के लिये एक पृथक सिद्धान्त को आवश्यक नहीं समझते।

एक पृथक सिद्धान्त के समर्थन में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के तर्क

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार की निम्न भिन्नताओं के आधार पर इनके लिये पृथक-पृथक सिद्धान्तों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है :—

(1) सापेक्षिक या तुलनात्मक लागत—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्यों उदय होता है ? इसका प्रत्युत्तर 'तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त' (Comparative Cost Theory) के रूप में सर्वप्रथम रिकार्डो (Ricardo) द्वारा दिया गया। बाद में मिल ने इसका विकास किया तथा बेसटेबल (Bastable) और केर्नेस (Cairness) ने भी इसमें संशोधन किये। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार इसलिये उदय होता है, कि दो देशों में वस्तुओं के उत्पादन की सापेक्षिक लागतों में अन्तर होता है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि यह सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही लागू होता है, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार पर नहीं।

(2) **उत्पादन के साधनों की गतिशीलता**—रिकार्डो एवं अन्य प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचार में श्रम एवं पूंजी दो देशों के बीच में तो गतिहीन (Immobile) होते हैं जबकि एक ही देश के अन्दर ऐसा नहीं है। उन्होंने वह भी कल्पना की थी कि देश के अन्दर ये साधन पूर्णरूप से गतिशील होते हैं।

(3) **वस्तु विनिमय की उपस्थिति**—अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के अन्तर का एक अन्य आधार वस्तु-विनिमय बताया गया है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (विशेष रूप से मार्शल) ने चतुराई से वक्रों के प्रयोग द्वारा यह दिखाने का प्रयास किया कि दो देशों के बीच सम्पूर्ण व्यापार की प्रक्रिया वास्तव में 'अदल-बदल की प्राक्रियामात्र' (Virtual Barter) है।

(4) **विदेशी विनिमय की समस्या**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से भिन्न मानने के पक्ष में यह तर्क भी दिया गया है कि विदेशी विनिमय की जो समस्या समस्त अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयों में प्रस्तुत रहती है वह आन्तरिक व्यापार में नहीं होती।

एक पृथक सिद्धान्त के विरुद्ध आधुनिक अर्थशास्त्रियों के तर्क

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने, जिनमें ओहलिन (Ohlin) प्रमुख हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय या आन्तरिक व्यापार से भिन्न मानने से इन्कार कर दिया है। वे उसे अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की केवल एक विशेष दशा ही मानते हैं। इन अर्थशास्त्रियों की सम्मति में जिन तर्कों को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भिन्नता का आधार बनाया है, वे असत्य एवं भ्रमपूर्ण हैं।

(1) **सापेक्षिक लागत का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर ही नहीं, वरन् आन्तरिक व्यापार पर भी लागू होता है**—सर्वप्रथम तो 'सापेक्षिक लागत' का विचार अपने आप में त्रुटिपूर्ण है। दो देशों के मध्य व्यापार का उदय उत्पादन की सापेक्षिक लागतों (श्रम-लागत) में अन्तरों के कारण नहीं वरन् दो देशों के सापेक्षिक मूल्यों में अन्तर के कारण होता है। यदि इस त्रुटि को भी भुला दिया जाय, तो भी, जैसे कि (Pareto) ने कहा है, "सापेक्षिक लागतों का विचार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये ही विशेषता नहीं रखता वरन् इसे उन व्यक्तियों को भी लागू किया जा सकता है जो एक आर्थिक इकाई के अन्दर रहते हों।'[1]

एजवर्थ (Adgeworth) ने भी अपने प्रसिद्ध लेख 'Pure Theory of International Value' में लिखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर भी वही मौलिक सिद्धान्त लागू होता है, जो कि घरेलू व्यापार को नियन्त्रण करता है। उनका कहना है कि राष्ट्रीय व्यापार वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की एक विशेष दशा है। बहुत

1. "The consideration of relative advantages is not peculiar to international trade ; it can be applied also to individuals who form an enconomic unit.

समय से लोग मानते चले आ रहे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त घरेलू व्यापार के सिद्धान्तों से भिन्न है क्योंकि सापेक्षिक लागत का नियम केवल पहले प्रकार के व्यापार पर ही लागू होता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि उक्त नियम सभी प्रकार के विनिमयों का स्पष्टीकरण करता है चाहे वे देशों के अन्दर हों अथवा देशों के बीच में। अतः घरेलू या क्षेत्रीय व्यापार के सिद्धान्त से पृथक ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक विशेष सिद्धान्त बनाना निरर्थक है।

प्रो० कैनन ने भी यह कहा है कि रिकार्डो के समय से अब तक के सभी अर्थ-शास्त्रियों की मुख्य भूल यह रही है कि उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले व्यापार के सिद्धान्त से बिलकुल पृथक एवं नया सिद्धान्त बनाने की चेष्टा की है।

ओहलिन का कहना है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही लागू नहीं होता, वरन् यह सभी व्यापारों को लागू होता है चाहे वह एक ही देश के विभिन्न प्रदेशों के बीच हों या किसी देश के एक ही प्रदेश के दो व्यक्तियों के बीच में हों। विनिमय को जन्म देने वाला कारण (सापेक्षिक लाभ, जो कि उत्पादकों को एक वस्तु के उत्पादन में दूसरे की अपेक्षा प्राप्त होता है) प्रत्येक दशा में एक ही है। श्री ओहलिन के ही शब्दों में :—

'प्रदेश और राष्ट्र भी उन्हीं कारणों से विशिष्टता प्राप्त करते हैं और एक दूसरे से व्यापार करते हैं, जिनसे व्यक्ति विशिष्टता प्राप्त करते और व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने स्वभाव से ही किसी कार्य को करने में दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति अच्छा बागवान होता है जबकि दूसरा अच्छा अध्यापक एवं तीसरा कुशल चिकित्सक है। यदि बागवान से अध्यापक का कार्य करने को कहा जाय, तो वह अध्यापक कार्य को कुशलता से न कर सकेगा। इसी प्रकार अध्यापक एक अकुशल चिकित्सक और एक चिकित्सक एक अकुशल बागवान ही प्रमाणित होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विशिष्टता सभी पक्षों को लाभकारी है। यदि सभी व्यक्ति एक ही योग्यता के होते, तो भी विशिष्टीकरण करके वे लाभ उठा सकते हैं।"[1]

---

1. "Regions and nations specialise and trade with each other for the same reasons that individuals specialise and trade. Some persons are better fitted by temperament for one work than other ; one is a better gardener, the other a better teacher while the third proves an excellent doctor. The gardener would prove a poor teacher, and teacher a poor doctor and so on. Thus the gain from specialisation is clear. Even if ever individual were equally exactly alike in ability, it would pay to specialise.

(*Ohlin : Inter-regional and International Trade*)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सापेक्षिक लागत का सिद्धान्त केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ही विशेषता नहीं है, वरन् एक देश के विभिन्न बाजारों और क्षेत्रों के पारस्परिक व्यापार को भी लागू होता है।

एक ही देश के अन्दर विभिन्न प्रान्त एवं एक ही प्रान्त के अन्तर्गत विभिन्न जिले विभिन्न वस्तुओं में विशिष्टीकरण करते हुये देखे जाते हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सापेक्षिक लाभ (अथवा तुलनात्मक लागत) की विशेषता केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही नहीं पाई जाती है। उदाहरण के लिये, अविभाजित भारत में बंगाल को प्राकृतिक सुविधाओं के कारण जूट के उत्पादन का एकाधिकार प्राप्त था जबकि उत्तर प्रदेश एवं बिहार 'गन्ने के घर' बने हुये हैं, क्योंकि इन प्रान्तों में जूट को कम लागत पर अधिक मात्रा में उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वहाँ पर गन्ने को कम लागत पर अधिक मात्रा में पैदा किया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त प्रादेशिक व्यापार का कारण भी सापेक्षिक लाभ ही है। अतः सापेक्षिक लागत के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में भेद करना गलत है।

(2) दो देशों के मध्य ही नहीं वरन् एक ही देश के अन्दर भी साधनों में गतिशीलता का अभाव है—इसके अतिरिक्त उत्पादन के साधनों की गतिहीनता, जिसे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक सिद्धान्त बनाने का आधार बताया है केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ही विचित्रता नहीं है वरन् वह Immobility of factors of production एक ही देश के दो भिन्न प्रदेशों के बीच में देखी जाती है। केर्नेस के शब्दों में "एक ही देश के अन्दर प्रतियोगिता रहित समूहों (Non-competing Groups) का निवास पाया जाता है।" उदाहरण के लिये, खेतों में काम करने वाले श्रमिक कारखानों में काम करने के लिए तैयार नहीं होते भले ही उन्हें कारखानों में अधिक मजदूरी मिल सकती हो। इसी प्रकार कारखाने के श्रमिक खेतों पर काम करने के लिये तैयार नहीं होते, भले ही उन्हें वहाँ अधिक मजदूरी मिले। इसी प्रकार, उत्तरी भारत का श्रमिक दक्षिणी भारत में जाकर काम करने के लिये सरलता से तैयार नहीं होता, क्योंकि भाषा-भेद, जाति भेद जलवायु भेद, आदि उसकी गतिशीलता में बाधा डालते हैं। इस तरह देश के विभिन्न भागों में विभिन्न व्यापारों की मजदूरियों में बहुत अन्तर पाया जाता है और जब देश का आकार बड़ा होता है तो ये अन्तर और भी विशाल हो जाते हैं। इसके विपरीत, संसार के विभिन्न देशों के बीच श्रम एवं पूंजी की गतिशीलता केवल सापेक्षिक होती है। उदाहरणार्थ जब आस्ट्रेलिया, कैलिफोर्निया, दक्षिणी अफ्रीका एवं अलास्का में सोने की खानों का पता चला, तो सभी देशों से श्रमिक वहाँ पहुंचने लगे। क्या नये देशों में लोगों का इस प्रकार जाकर बसना उन्नीसवीं सदी की सबसे अधिक विचित्रता नहीं है? क्या बेल्जियम और स्पेन से लोग फ्रांस में सीमा के आर-पार नहीं आते जाते? क्या यूरोप से पूंजी दक्षिणी अमेरिका के देशों व भारत को नहीं आ रही है?

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में उत्पादन के साधनों की गतिशीलता के सम्बन्ध में रिकार्डो ने जो मान्यता की है वह भ्रमपूर्ण है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में भेद करने का एक अन्य आधार भी टूट जाता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय सभी विनिमय अन्तिमतः अदल-बदल ही तो हैं—वस्तु विनिमय अदल-बदल की उपस्थिति के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में भेद करना भी सही नहीं है, क्योंकि अन्तिम रूप से यह सभी प्रकार के विनिमयों की तह में पाया जाता है, चाहे वह दो देशों के बीच में हो या एक ही देश के विभिन्न व्यक्तियों के मध्य में हो। **प्रोफेसर कैनन** के शब्दों में—

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बारे में यह जोर देने की मूर्खता हमें छोड़ देनी चाहिये कि वह वास्तव में वस्तु-विनिमय मात्र है। निस्संदेह, यदि मुद्रा को नाटक से बाहर कर दिया जाय, तो समस्त व्यापार वस्तु-विनिमय के अतिरिक्त और क्या है? तब हम देखेंगे कि एक प्रकार की वस्तुयें एवं सेवायें उत्पन्न करने वाले व्यक्ति विनिमय द्वारा अन्य व्यक्तियों से इनके बदले में दूसरी प्रकार की वस्तुयें और सेवाएं प्राप्त कर रहे हैं। यह तो मुद्रा का हस्तक्षेप ही है जो वस्तु विनिमय को क्रय-विक्रय में परिणित कर देता है। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में हम मुद्रा को हटाना तो दूर एक मुद्रा के बजाय दो भिन्न मुद्राओं का प्रयोग करते हैं।"[1]

स्पष्ट है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार से पृथक मानने का तीसरा आधार भी अशुद्ध है।

(4) विदेशी विनिमय की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार के मध्य भेद का पर्याप्त आधार नहीं है—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस आधार पर भी विभिन्न सिद्धान्त रचने का प्रयास किया है कि विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयाँ केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ही उठानी पड़ती है, अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में नहीं। कुछ सीमा तक यह सही है लेकिन इसे हम दोनों में अन्तर करने का एक पर्याप्त आधार स्वीकार नहीं कर सकते। मुद्रा-विनिमय की समस्यायें अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार में भी उदय हो सकती हैं। इस बात का साक्ष्य हमें ब्रिटिशकालीन भारत के आर्थिक इतिहास से मिलता है। ब्रिटिश भारत में देशी राजाओं व नवाबों की रियासतें आर्थिक

---

1. "We want an entire abandonment of the stupid insistence on international trade being 'virtually barter; of course, all trade is 'virtually barter', when you drop the intervening money out of the picture and think only of persons producing one set of goods and services for other people and receiving another set from them in exchange. It is the intervention of money which turns barter into selling and buying, and far from eliminating money, international trade usually involves the intervention of not only one money, but two different moneys.".

दृष्टि से स्वतन्त्र इकाइयाँ थीं। प्रत्येक रियासत में वहाँ के राजा व नवाबों की विशेष मुद्रायें चलती थीं। ब्रिटिश भारत में रुपया था। रुपये को किसी रियासती मुद्रा से (जैसे निजाम हैदराबाद की 'हाली' करेन्सी से) विनिमय करने की समस्या किसी विदेशी मुद्रा से विनिमय करने की समस्या से भिन्न न थी ; किन्तु प्रतिष्ठित विचार-धारा प्रथम दशा में (जब कि भारतीय मुद्रा का 'हाली' से विनिमय होता है) तो किसी भी हालत में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को विद्यमान नहीं मानेगी, जबकि दूसरी दशा में (जबकि भारतीय मुद्रा किसी विदेशी देश की मुद्रा से विनिमय की जानी हो) इसे विद्यमान मान लेगी। उक्त त्रुटिपूर्ण भेद कदापि उचित नहीं कहा जा सकता।

इस विषय में **ओहलिन** ने कहा है कि "करेन्सियों का अन्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों में अन्तर सूचित नहीं करता वरन् एक बाजार के मूल्य सिद्धान्त और कई बाजारों के मूल्य सिद्धान्तों के अन्तरों का सूचक है।"[1]

निष्कर्ष :

अतः ओहलिन के अनुसार अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को लागू होने वाला विश्लेषण —तरीका (सामान्य साम्य विश्लेषण) बिना किसी विशेष परिवर्तन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की समस्याओं पर भी लागू किया जा सकता है, कोई पृथक सिद्धान्त बनाने की आवश्यकता नहीं है। ओहलिन के मतानुसार विभिन्न राष्ट्र केवल 'क्षेत्र' मात्र हैं, जो एक दूसरे से राष्ट्रीय सीमाओं, प्रशुल्क बाधाओं, भाषा भेद, मौद्रिक प्रणाली सम्बन्धी भेद आदि से पृथक-पृथक हैं। किन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि राष्ट्रीय सीमायें बदल जाती हैं और प्रशुल्क बाधायें टूट जाती हैं। अतः क्षेत्रों को राष्ट्रों के सदृश्य माना जा सकता है। जब ऐसा है तो अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी भेद नहीं रह जाता है।

हाँ, दो बातों में एक क्षेत्र एक राष्ट्र से भिन्न हो सकता है :—

(i) **कुछ क्षेत्र जो आर्थिक दृष्टि से समान हैं राजनैतिक दृष्टि से दो राष्ट्र हो सकते हैं।** जैसे, विभाजन के बाद बंगाल का पूर्वी भाग पाकिस्तान तथा पश्चिमी भाग भारत में आ गया है। राजनैतिक दृष्टि से बंगाल दो राष्ट्रों में विभाजित है लेकिन आर्थिक दृष्टि से ये दोनों भाग परस्पर बड़ी समानता रखते हैं। ओहलिन का कहना है कि इन दोनों राष्ट्रों (पूर्वी बंगाल एवं पश्चिमी बंगाल) को एक क्षेत्र समझना चाहिये। हाँ प्रशुल्कों और मौद्रिक प्रणालियों के लिये कुछ छूट दी जा सकती है। ऐसी दशाओं में यह देखने में आवेगा कि प्रसाधनों की समानता, श्रमिकों

---

1. "The most important distinction to be made is not between the theory of international commerce and that of national commerce but between a theory of prices for a single market and a theory of prices that is valid for several markets."

की गतिशीलता, पूंजी की गतिशीलता, औद्योगिक एवं अन्य प्रकार के विकास का ढांचा तथा दीर्घकालीन व्यापारिक आदतें राजनैतिक सीमाओं की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। विभिन्न सरकारें भी इन दोनों राष्ट्रीय क्षेत्रों की परस्पर निर्भरता को देखते हुये सीमा व्यापार के सम्बन्ध में अनेक अपवाद घोषित कर देती हैं।

(ii) एक विशाल राष्ट्र में कई क्षेत्र हो सकते हैं। उदाहरणार्थ भारत एक विशाल राष्ट्र है। राजनैतिक दृष्टि से एक होते हुये भी इस भूखण्ड में अनेक आर्थिक क्षेत्र हैं जिनमें उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

"अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार आंतरिक व्यापार की एक विशेष दशा"

इन अन्तरों के होते हुये भी एक क्षेत्र और एक राष्ट्र समान (Indentical) हो सकते हैं। परिणामतः जिन सिद्धान्तों का प्रयोग एक स्थानीय बाजार में मूल्य-निर्धारण एवं विनिमय-प्रक्रिया को समझाने के हेतु किया जाता है उन्हें अनेक बाजारों और अनेक क्षेत्रों के मध्य मूल्य-निर्धारण तथा विनिमय प्रक्रिया को भी लागू किया जा सकता है। मौलिक रूप से, लागतों और कीमतों में अन्तर होने के कारण ही व्यापार का जन्म होता है। यह तथ्य सदा सत्य है चाहे सम्बन्धित भूखण्ड का क्षेत्रफल कितना भी बड़ा हो। **अतः ओहलिन ने ठीक ही कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्स्थानीय एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार की एक विशेष दशा मात्र है। यह विशेष दशा इस कारण से है कि क्षेत्र और राष्ट्रों में कुछ मामूली भिन्नतायें भी होती हैं। अन्यथा वह यह कह सकता था कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्स्थानीय व्यापार और अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का केवल विस्तृत रूप है।**

☞ Q. 3. "International trade arises because of lack of 'mobility' in the factor of production." Discuss. (Agra, 1949)

or

What is the economic basis of inter-regional and international trade ? Discuss. (Agra, M. A. 1962)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं उत्पत्ति-साधनों की गतिशीलता

प्रतिष्ठित मत— अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जन्म का कारण—साधनों की गतिहीनता

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का मुख्य कारण विभिन्न देशों के मध्य उत्पादन के साधनों की गतिशीलता का अभाव है। एक ही देश के अन्दर तो श्रम एवं पूंजी उत्पादन की एक शाखा से दूसरी शाखा को अथवा एक जिले से दूसरे जिले को स्वतंत्रतापूर्वक आती जाती रहती है परन्तु दो देशों के मध्य इनमें गतिशीलता का पूर्ण या आंशिक अभाव है।

विभिन्न देशों के मध्य उत्पत्ति के साधन गतिहीन क्यों होते हैं ? इसके अनेक कारण हैं। एडम स्मिथ ने बताया है कि श्रम सबसे गतिहीन होता है अर्थात् लोग

अपने देश को छोड़कर विदेशों में जाना पसन्द नहीं करते हैं, क्योंकि उनकी भाषा, उनकी प्रथायें, उनका धर्म, उनके रीति-रिवाज, उनका सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन सभी कुछ विदेशों से भिन्न होता है।

पूंजी भी दो देशों के बीच गतिशील नहीं होती। हां, उसमें गतिशीलता का इतना अधिक अभाव नहीं होता जितना कि श्रम में। फिर भी, यह सत्य है कि प्रायः लोग कई कारणों से अपने ही देश में अपनी बचत का विनियोग करना पसन्द करते हैं। स्वदेश में ही विनियोग करने पर उन्हें अधिक सुरक्षा व सन्तोष का अनुभव होता है।

चूंकि दो देशों के मध्य श्रम एवं पूंजी अधिक गतिहीन होते हैं, इसलिये प्रतियोगिता को अपना प्रभाव दिखाने का अवसर नहीं मिलता। प्रतियोगिता के कारण एक देश में तो सर्वत्र समान मूल्य स्तर कायम हो जाता है लेकिन दो देशों के मध्य इसके अभाव के कारण एक ही समान वस्तुओं की उत्पादन लागत एवं मूल्य अलग-अलग होते हैं। ऐसी अवस्था में विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में विभिन्न देशों को असमान लाभ प्राप्त होता है, जिससे उनके बीच अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पनपने लगता है। इस प्रकार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के साधनों की गतिहीनता ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जन्म का कारण है।

प्रतिष्ठित-मत का खंडन एवं मंडन

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के उक्त मत का कुछ अर्थशास्त्रियों ने विरोध किया है। उन्होंने विरोध में तीन प्रमुख बातें कही हैं, जो ऊपर से तो सही मालूम देती हैं, लेकिन जब उनका गम्भीरता एवं सावधानी से विश्लेषण किया जाता है, तो वे सारगर्भित प्रतीत नहीं होतीं और प्रतिष्ठित दृष्टिकोण ही सही प्रतीत होता है। ये बातें निम्नलिखित हैं :—

(1) विश्व में प्राकृतिक साधनों के असमान वितरण ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म दिया है, उत्पत्ति के साधनों की गतिहीनता ने नहीं—विरोधी अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देने वाली वास्तविक बात उत्पत्ति के साधनों की गतिहीनता नहीं है वरन् विश्व के विभिन्न देशों में प्राकृतिक साधनों का असमान रूप से वितरित होना है।

किन्तु जब हम इस तर्क का विश्लेषण करते हैं, तो यह प्रतीत होता है कि वह प्रतिष्ठित दृष्टिकोण के ही पक्ष में जाता है। यदि आज विश्व के विभिन्न देशों में प्राकृतिक साधनों के असमान वितरण की समस्या बनी हुई है, तो क्यों? इसका कारण यह है कि उन्हें उनकी बाहुल्यता के स्थान से अल्पता के स्थान में नहीं भेजा जा सकता। यदि ऐसा करना सम्भव होता (अर्थात् यदि प्राकृतिक साधन गतिशील होते), तो उनके वितरण की असमानता दूर हो जाती। इस प्रकार, प्राकृतिक साधनों के वितरण की असमानता खंडन करने के बजाय इस तर्क की पुष्टि ही करती

है कि गतिशीलता का अभाव ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का एक प्रमुख कारण है।

(2) एक देश के अन्दर एवं दो देशों के मध्य दोनों ही दशाओं में श्रम एवं पूंजी गतिहीन है, केवल अंश का ही फर्क है—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह कल्पना गलत है कि उत्पत्ति के साधन एक देश के अन्दर पूर्णरूपेण गतिशील किन्तु दो देशों के मध्य अगतिशील होते हैं। वास्तव, में विरोधी अर्थशास्त्रियों का कहना है कि, दोनों ही दशाओं में साधन अगतिशील होते हैं। यदि अन्तर है तो केवल अंश (Degree) का अर्थात्, एक देश के मध्य साधन इतने गतिहीन नहीं होते, जितने कि दो देशों के मध्य। देश में भी श्रम की 'खड़ी गतिशीलता' (Vertical Mobility) प्रायः नहीं के बराबर होती है क्योंकि इसमें जाति-पाँति व अन्य सामाजिक प्रथायें बाधक हैं। जहाँ तक 'समतल गतिशीलता' (Horizontal Mobility) का प्रश्न है, वह भी कई कुचक्रों (जैसे—आवागमन के अत्यधिक व्यय आदि) के कारण कम ही होती है। श्रम के बारे में जो कहा गया है वह पूंजी के बारे में भी कम सही नहीं है।

जबकि एक देश के अन्दर श्रम एवं पूंजी गतिहीन देखे जाते हैं, जो देशों के मध्य उनकी गतिशीलता के अनेक प्रमाण हाल के वर्षों में देखे गये हैं। ब्रिटिश द्वीप समूह, यूरोप आदि अनेक देशों की अर्थ-व्यवस्थायें इतनी प्रगतिशील दिखाई दे रही हैं—क्यों ? इनकी उन्नति में उस श्रम का बहुत महत्व है जो विश्व के विभिन्न भागों से इन्हें प्राप्त हुआ था। इसी प्रकार, अविकसित देशों को अपने विकास के लिये विशाल पूंजी कहाँ से मिल रही है ? क्या अपने ही देशवासियों की बचत से ? नहीं, उन्हें तो अपनी आवश्यकतायें पूरी करने के लिये भी आय पर्याप्त नहीं है। वास्तव में अधिकांश विकास पूंजी विदेशों से, विशेषतः पश्चिम के प्रगतिशील देशों से ही, प्राप्त हो रही है। मार्शल ने अपनी पुस्तक Industry and Trade में उद्योगों की कच्चा माल प्राप्त करने की जिस शक्ति का वर्णन किया है वह शक्ति तब से आज तक बहुत बढ़ गई। अतः उत्पादन के साधनों की गतिहीनता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उत्पत्ति का कारण बनाना अनुचित है।

इन विद्वान् अर्थशास्त्रियों की इस उक्ति का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने भी इस तथ्य को उपेक्षित नहीं किया था। उदाहरण के लिये एडम स्मिथ ने प्रवास के महत्व पर जोर दिया था। मिल ने भी स्वीकार किया था कि अब पूंजी अधिक गतिशीलता एवं विश्व-व्यापी होती जा रही है।

साथ ही, यह भी निस्संकोच कहना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत साधनों की गतिहीनता का तर्क जितना आज सत्य है उतना पहले भी न था। आज हम देखते हैं कि विश्व के विभिन्न राष्ट्र दलबन्दी में फँसे हुए हैं, शीत युद्ध में जकड़ गये हैं, पारस्परिक विश्वास अस्त-व्यस्त हो गया है और नित्य नये राजनैतिक विवाद बनते रहते हैं। इन दशाओं में न केवल

पूँजी को एक देश से दूसरे देश में स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने की अनुमति नहीं है वरन् विभिन्न देशों में श्रम के अनियंत्रित आवास पर भी रोक लगा दी गई है। उन्नीसवीं सदी में पूँजी और श्रम की गतिशीलता की बात वर्तमान युग के लिये एक 'अचरज' (Wonder) बन गई है। दूर क्यों जाइये, सन् 1928 तक अमेरिका भी उदारतापूर्वक ऋण देने की नीति अपनाये हुये था और साम्राज्यवादी देशों से पूँजी उपनिवेशों में खिंची चली आती थी। इसी प्रकार श्रम भी कम विकसित देशों से औद्योगिक देशों को बड़े पैमाने पर आता जाता था, जैसे—अमेरिका की सम्पूर्ण तम्बाकू-कृषि अफ्रीका के नीग्रो दास श्रमिक ही करते थे।

लेकिन आज दशायें बिलकुल बदल गई हैं। अब पूंजी और श्रम को स्वतन्त्र प्रवेश नहीं मिलता है। प्रत्येक देश ने बाहरी सब देशों से श्रमिकों के प्रवेश को रोकने के लिये आवास नियन्त्रण लगा रखे हैं। दो देशों के मध्य श्रम के आवागमन में अत्यधिक व्यय की प्राकृतिक बाधा तो थी ही, विदेशी भाषा से अनभिज्ञता, जलवायु सम्बन्धी भेद, पहलपन (Initiative) की भावना का अभाव आदि बाधायें अभी भी मौजूद हैं। किन्तु इनके साथ-साथ एक नई बात यह है कि अब विभिन्न देशों ने कड़े आवास नियम बना दिये हैं। लंका व बर्मा में भारतीय श्रमिकों के निवास का प्रश्न सन्तोषजनक ढंग से हल नहीं हो पाया है। द० अफ्रीकी सरकार तो बहुत समय पहले ही बसे हुए भारतीय एवं अन्य देशों के श्रमिकों की सन्तानों को निकालने पर और अपमानित करने पर तुली हुई है। ब्रिटेन में भी राष्ट्रमण्डलीय नागरिकों के स्वतन्त्र आवागमन पर रोक लगाने की तैयारी हो रही है। ऐसी दशा में विभिन्न देशों के मध्य श्रम को गतिशील कैसे माना जा सकता है ?

यही बात पूंजी के बारे में भी है। पूंजी की गतिशीलता की वास्तविक कसौटी यह है कि विश्व के विभिन्न देशों में ब्याज दरें समान होनी चाहिये। किन्तु ऐसी समानता देखने में नहीं आती है। विभिन्न देशों में ब्याज की बहुत ऊंची एवं नीची दरें प्रचलित हैं। यही नहीं, आज पूंजी कम ब्याज दर वाले देश से अधिक ब्याज दर वाले देश को भी सरलता से जाने को तत्पर नहीं है। उदाहरण के लिये, डालर पूंजी कम्यूनिस्ट चीन में जाने को कदापि तैयार नहीं। पूंजी की गतिहीनता का मुख्य कारण अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक परिस्थितियों का अत्यन्त अस्थिर होना है। एक देश से दूसरे देश की पूँजी के निर्यात पर रोकें लगी हुई हैं तथा पिछले कुछ वर्षों से तो इसमें अधिक कड़ाई आ गई है। एक देश से दूसरे देश को पूँजी के जाने में अन्य स्वाभाविक बाधायें भी हैं, जैसे—कानूनी उपचार की कठिनाई, लाभ के हस्तांतरण की असन्तोषप्रद गारन्टी, हर्जाना दिये बिना राष्ट्रीयकरण का भय, विदेशियों के प्रति अविश्वास आदि। इसके अतिरिक्त, युद्धोत्तर मुद्रा-प्रसारिक परिस्थितियों ने भी पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता को कुप्रभावित किया है।

(3) साधनों की गतिहीनता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त कारण नहीं है—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विरोध में यह भी कहा गया

है कि साधनों की गतिहीनता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का पर्याप्त कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि वह कुछ अन्य बातों पर भी निर्भर है तथा उनसे प्रभावित होती है, जैसे—पृथक करेन्सियाँ, मौद्रिक नीति का स्वतन्त्र रूप से संचालन आदि ।

इस सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इन घटकों के महत्व को भुलाया नहीं था । उनकी त्रुटि यह थी कि उन्होंने उत्पत्ति के साधनों की गतिहीनता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय का एकमात्र कारण माना ।

निष्कर्ष

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्पत्ति के साधनों की गतिहीनता को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय होने का एक प्रधान कारण माना जा सकता है । भले ही अकेला यह एक पर्याप्त कारण न हो किन्तु इसके बिना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के उदय को स्पष्ट करना असम्भव है ।

☞ Q. 4. In what essential way is the international trade different from the regional and international trade ? Would specialization on the basis of international division of labour always lead to the maximisation of world trade ? Give reasons for your answer. (Agra, M. A. 1961)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों की विशेषतायें

(Distinguishing Features of International Transactions)

अन्तर्राष्ट्रीय एवं आन्तरिक व्यवहारों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है । इन्हें एक दूसरे से बिल्कुल ही पृथक समझना भयङ्कर भूल होगी । बाह्य संसार की दशा न केवल हमारे आयातों एवं निर्यातों की मात्रा को वरन् अनेक आन्तरिक विषयों (जैसे आयकर की प्राप्ति और नये गृहों के निर्माण की दर) को भी प्रभावित करती है । फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों की कुछ विशिष्ट विशेषतायें हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विशेष अध्ययन को आवश्यक बनाती हैं—भले ही इसके लिये एक पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता न हो । ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(1) असमान आर्थिक अवस्था वाले उत्पादकों के मध्य लेन-देन—सर्वप्रथम सीमाओं के आर-पार आने-जाने वाले व्यक्तियों को लीजिये । (अस्थाई भ्रमण को यहाँ छोड़ा जा सकता है ।) अनेक व्यक्ति जो भारत में पैदा हुये और भारत में ही पाले-पोसे गये हैं, वे लंका, बर्मा, अफ्रीका आदि देशों में जीविकोपार्जन के लिये बस गये हैं । इसी प्रकार इङ्गलैंड चीन, बर्मा आदि देशों के नागरिक भारत में अपने भाग्य की परीक्षा के लिये आते हैं । इस प्रकार का आवागमन देश के अन्दर भी विभिन्न नगरों एवं गाँवों व नगरों के बीच देखा जाता है । किन्तु अन्तर्देशीय आवागमन का परिमाण

अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन के परिमाण से कहीं अधिक होता है। विभिन्न देशों के बीच श्रम की गतिशीलता एक ही राष्ट्र के विभिन्न भागों की अपेक्षा बहुत कम होती है।

इसके कुछ पर्याप्त कारण हैं—भाषा राष्ट्रीय रुचि एवं भावना सम्बन्धी भेद और आधुनिक युग में, कठोर कानूनी प्रतिबन्ध विभिन्न देशों के मध्य श्रम के स्वतन्त्र आवागमन में रुकावट पैदा करते हैं। इस रुकावट के गम्भीर आर्थिक परिणाम होते हैं। राष्ट्रीय इकाई के भीतर एक ही योग्यता एवं परिश्रम के कार्य के लिये मजदूरी की दर समान होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। एक नगर में देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक मजदूरी कमाने का अवसर उपलब्ध होने पर श्रमिक उस नगर की ओर जाने लगते हैं और इससे देश के विभिन्न भागों में मजदूरी के समानीकरण को बढ़ावा मिलता है। लेकिन, विभिन्न देशों के बीच मजदूरी सम्बन्धी विशाल अन्तर विद्यमान होते हैं। उदाहरण के लिये, न्यूयार्क में वास्तविक मजदूरी का सामान्य स्तर लन्दन की अपेक्षा दूना है और लन्दन में यह रोम की अपेक्षा दूना है। किन्तु एक ही देश के अन्दर इतने विशाल अन्तर विद्यमान नहीं रह सकते हैं। श्रम की भाँति पूंजी एवं साहस के आवागमन के बारे में भी यही बातें देखने में आती हैं।

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि आन्तरिक व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओं के अधिकांश लेन-देन ऐसे उत्पादकों के बीच होते हैं जो कि समान जीवन-स्तर रखते हैं। जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत प्रायः अत्यन्त असमान जीवन-स्तर रखने वाले उत्पादकों के लेन-देन आते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन दो प्रकार के लेन-देनों की गति-विधि एवं स्वभाव को निर्धारित करने वाले सिद्धान्तों में कुछ न कुछ भेद होना स्वाभाविक है।

यही सबसे महत्वपूर्ण परिस्थिति है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विशेष अध्ययन आवश्यक बनाया है। आन्तरिक व्यापार का विश्लेषण करते समय यह मान लिया जाता है कि एक प्रकार का कार्य करने वाले व्यक्तियों के समान जीवन-स्तर विद्यमान होगा। यह मान्यता पूर्णतः सही भले न हो, किन्तु एक मोटे रूप में अवश्य ही सत्य है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता बिलकुल ही त्रुटिपूर्ण हैं, क्योंकि विभिन्न देशों में समान स्तर प्रचलित हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभों का विश्लेषण इस समानता या असमानता की सम्भावना से स्वतंत्र है। प्रायः यह तर्क देना कि सस्ते विदेशी श्रम द्वारा बनाये गये माल के आयात को रोकना चाहिये, विषय के प्रारम्भिक सिद्धान्त के प्रति हमारी अज्ञानता का परिचायक है, क्योंकि इसमें ऐसी धारणा छिपी है कि दो प्रतिस्पर्धी देशों में मजदूरियों की असमानता कोई असाधारण बात है। वास्तव में, इस विशेषता की स्वाभाविक उपस्थिति के कारण ही, आन्तरिक व्यापार से पृथक रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक विशेष अध्ययन की आवश्यकता पड़ती है।

(2) **सरकारों से असमान सुविधायें प्राप्त उत्पादकों के बीच व्यवहार**—उत्पादन के लिये विशेष सुविधायें एक देश में स्थान-स्थान पर भिन्न हो सकती हैं तथा राजनैतिक सीमाओं को पार करके विभिन्न देशों के बीच समान भी होती हैं। किन्तु कुछ ऐसी भी सुविधायें एवं असुविधायें हैं जोकि राष्ट्रीय सीमाओं के साथ सह-विस्तृत होती हैं। इनसे आशय सरकार के कार्यकलापों का है। एक देश के नागरिकों पर समान रूप से राष्ट्रीय एवं स्थानिक कर लगते हैं, स्वास्थ्य, सफाई, कारखाना संगठन, शिक्षा, सामाजिक बीमा सम्बन्धी नियम, यातायात नीति, संयोगों पर प्रतिबन्ध, व्यापार संहिता आदि भी समान रूप से बाधित होती है। किन्तु दो देशों के लिये इन बातों में अन्तर होता है। यहीं पर आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मध्य भेद का दूसरा आधार प्रस्तुत होता है। भले ही देशों के बीच श्रम और पूंजी का स्वतंत्रतापूर्वक आवागमन है जिससे कि मजदूरियों, ब्याज-दरों एवं लाभों आदि के समान रहने की प्रवृत्ति हो, किन्तु सरकारी व्यवस्था द्वारा उपलब्ध श्रेष्ठ लाभों के कारण एक देश में दूसरे देश की अपेक्षा वास्तविक लागतों का सामान्य स्तर नीचा हो सकता है। अतः आन्तरिक व्यापार वह विनिमय है जो सरकार से समान सुविधा प्राप्त उत्पादकों के बीच होता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वह विनिमय है जो सरकार से असमान सुविधा-प्राप्त उत्पादकों के बीच है।

(3) **विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के प्रभाव-क्षेत्र में निवास करने वाले उत्पादकों के बीच व्यवहार**—अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों में विदेशी मुद्रा की समस्या उदय होती है। जब तक एक सामान्य मौद्रिक प्रणाली न अपनाई जायगी, तब तक उन दरों में परिवर्तन होता रहेगा, जिन पर राष्ट्रीय मुद्रायें परस्पर बदल जाती हैं। इससे भी अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनों को विशेषता मिल जाती है।

यदि एक सामान्य मान प्रचलित है और विदेशी विनिमय के परिवर्तन सीमाबद्ध होते हैं, तो भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि प्रत्येक राष्ट्रीय चलन पर उसकी अपनी सरकार एवं केन्द्रीय बैंक का नियन्त्रण होता है। मौद्रिक प्रणाली के सुसंचालन के लिये केन्द्रीय बैंक एक विशेष नीति अपनाता है। किन्तु सभी देशों में एक ही समय पर यह नीति एक समान होना आवश्यक नहीं है। देश की जनता से आर्थिक जीवन पर मौद्रिक नीति का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों को उन व्यवहारों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जो विभिन्न केन्द्रीय बैंकों के प्रभाव-क्षेत्रों में रहने वाले व्यक्तियों के मध्य होते हैं। इसके विपरीत आन्तरिक व्यापार एक ही केन्द्रीय बैंक के प्रभाव-क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों के बीच होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन द्वारा विदेशी व्यापार में वृद्धि

इसके लिये कृपया अगला प्रश्नोत्तर पढ़िये।

☞ Q. 5. "An exchange in general is necessitated by the division of labour, so foreign trade appears when the division of labour is pushed beyond national frontiers. It is the necessary consequence of an international division of labour." (Harrod). Discuss this statement carefully.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के जन्म का कारण—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन :

"साधारणतः विनिमय की आवश्यकता श्रम-विभाजन के कारण उदय होती है और जब श्रम-विभाजन को अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अपनाया जाता है तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का ही एक आवश्यक परिणाम है।"[1] अतः यह प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर श्रम-विभाजन क्यों किया जाता है ?

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन क्यों :

इसके लिये श्रम-विभाजन के दो पहलुओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है :—**प्रथम**, उत्पादन क्रिया को अनेक उप-क्रियाओं में बांटना, जिससे प्रत्येक श्रमिक द्वारा किया जाने वाला कार्य सरल हो जाय और वह उसे प्रभावशाली ढंग से सम्पन्न कर सके; और **द्वितीय**, उत्पादन-व्यवस्था का इस प्रकार संगठित होना कि जो लोग किसी विशेष क्रिया को करने में विशेष सुविधा, योग्यता या क्षमता रखते हैं उनसे वही क्रिया कराई जाय, अन्य क्रियायें नहीं।

जहाँ तक प्रथम पहलू का सम्बन्ध है, हम यह सोच सकते हैं किसी देश में तो लाखों श्रमिक होते हैं, क्या उनकी संख्या उत्पादन-क्रियाओं को अनेक सरल उप-क्रियाओं में बाँटने के लिये पर्याप्त नहीं है ? एडम स्मिथ ने पिन-निर्माण में 18 उप-क्रियाओं की चर्चा की है। किन्तु, आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार पिनों का निर्माण करने के लिये इससे भी कई गुनी क्रियायें आवश्यक होती हैं। यदि हम विभिन्न वस्तुओं को उनकी विभिन्न किस्मों से जिनका प्रयोग आजकल सभ्य समाज में किया जाता है, तथा प्रत्येक किस्म को उसके उत्पादन के लिये आवश्यक अनेक उपक्रियाओं से गुणा करें, तो यह देखेंगे कि गुणनफल देश की श्रम-जनसंख्या से कहीं अधिक है।

एक अन्य तरीके से भी श्रम-विभाजन के प्रथम पहलू पर विचार किया जा सकता है—सभी वस्तुओं के लिये हमारी माँग एक समान नहीं होती है, अतः यदि श्रम-जनसंख्या को विभिन्न वस्तुओं की माँग के अनुपात में विभाजित किया जाय, तो बहुत सम्भव है कि किसी वस्तु या वस्तुओं के लिये निर्धारित की गई श्रम-संख्या

---

1. An exchange in general is necessitated by the division of labour, so foreign trade appears when the division of labour is pushed beyond national frontiers. It is the necessary consequence of an international division of labour."

(*Harrod : International Economics, p. 9.*)

उन वस्तुओं के निर्माण हेतु उपयुक्त श्रम-विभाजन करने के लिये पर्याप्त न हो। यदि राष्ट्र को स्वावलम्बी बनाना है, तो कम से कम प्रमुख वस्तुओं (Staple Commodities) के उत्पादन के लिए एक विशाल अनुपात में श्रमिक लगाने होंगे तथा इससे जो श्रमिक बच रहेंगे, वे विभिन्न अन्य वस्तुओं के लिये अपर्याप्त हो सकते हैं। इस प्रकार, कुछ न कुछ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन वांछनीय हो जाता है।

किन्तु यह बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन होने का पर्याप्त आधार नहीं कहा जा सकता। अतः हमें श्रम-विभाजन के दूसरे पहलू पर ध्यान देने की आवश्यकता है। जिस प्रकार दो व्यक्ति समान क्षमता वाले नहीं होते, उसी प्रकार दो देश भी एक सी क्षमता या सुविधायें वाले नहीं होते। जिस प्रकार एक व्यक्ति को उसी कार्य के करने में कुल लाभ अधिक है जिसे करने के लिये वह अधिक कुशलता एवं सुविधायें रखता है उसी प्रकार देशों को भी उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करने में लाभ है, जिनमें उन्हें विशेष सुविधाएं प्राप्त हों। चूंकि प्रत्येक देश को अलग-अलग सुविधायें प्राप्त हैं, इसलिये वह कुछ विशेष वस्तुओं का ही उत्पादन करता है और अन्य वस्तुएं विनिमय (अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार) द्वारा प्राप्त कर ली जाती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बड़े पैमाने पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन होने का प्रमुख कारण विभिन्न देशों को विभिन्न सुविधायें प्राप्त होना है। सुविधाओं की भिन्नता निम्न अन्तरों के कारण उदय होती है :—

(1) प्राकृतिक साधनों की भिन्नता—प्राकृतिक साधनों की भिन्नता द्वारा भी देशों को विशिष्ट सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिये, जिन देशों में खानें हैं वहां खनिज पदार्थ निकाले जाते हैं। इससे उन देशों को, जिनमें खानों का अभाव है, आवश्यक खनिज पदार्थ प्रथम श्रेणी के देशों से मँगाने पड़ते हैं। कुछ देश जलवायु की उपयुक्तता के कारण कहवा, चाय, रबड़ आदि को कृषि के लिये विशेष उपयुक्त हो सकते हैं। वहां इन पदार्थों के उत्पादन पर विशेष ध्यान दिया जायेगा और इनका विनिमय करके अन्य देशों से अन्य आवश्यक वस्तुयें प्राप्त कर ली जावेंगी। इस प्रकार प्राकृतिक साधनों के अन्तर के कारण अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन आवश्यक हो जाता है।

(2) जनसंख्या का असमान वितरण—यदि प्रकृति माता ने सभी देशों को सभी वस्तुयें समान रूप से प्रचुर मात्रा में दी होतीं, तो भी जनसंख्या के असमान वितरण के कारण विदेशी व्यापार आवश्यक हो जाता। अतः उद्योगों से सम्बन्धित कुछ उत्पादन-क्रियायें प्राकृतिक साधनों के निकट सहयोग से सम्पन्न की जानी आवश्यक होती हैं। किन्तु अन्य क्रियायें, जो कि कच्चे माल को तैयार माल में परिणत करने से सम्बन्धित हैं, प्राकृतिक साधनों से दूर के स्थानों में भी सम्पन्न की जा सकती हैं। अतः प्राकृतिक साधनों की क्षमता के अनुपात में अधिक जनसंख्या वाले देश स्वभावतः अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को उन उत्पादक क्रियाओं में लगावेंगे, जिन्हें प्राकृतिक

साधनों के निकट ही सम्पन्न करना जरूरी नहीं है और फिर वे अपने निर्मित पदार्थों को कम जनसंख्या वाले प्रदेशों से कच्चे माल से विनिमय कर लेंगे।

एक उदाहरण द्वारा उपयुक्त तर्क को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। आस्ट्रेलिया में विस्तृत मैदान हैं किन्तु जनसंख्या एवं पूंजीगत वस्तुयें वहां इनकी तुलना में कम हैं। अतः वह कृषि-उत्पादन में, जिनके लिये प्राकृतिक साधनों के अनुपात में कम श्रम व पूंजी आवश्यक होती है, विशिष्टीकरण कर लेता है। किन्तु इङ्गलैंड में, भूमि कम है जब कि जनसंख्या और पूंजी अधिक। वह उद्योगों के लिये विशेष उपयुक्त है चाहे उसकी भूमि गेहूं उत्पन्न करने के लिये आस्ट्रेलिया से भी अच्छी क्यों न हो। औद्योगिक क्रियाएं प्राकृतिक साधनों से दूर रह कर भी सम्पन्न की जा सकती हैं जबकि कृषि क्रियायें प्राकृतिक साधनों के निकट में ही सम्पन्न हो सकती हैं। अतः इङ्गलैंड अपनी सम्पूर्ण जनसंख्या का सदुपयोग कृषि को अपना कर नहीं कर सकता। उसे उद्योगों पर ही ध्यान देना होगा और उद्योगों को चलाने के लिये कच्चा माल आयात करना पड़ेगा।

(3) मानवीय क्षमताओं एवं गुणों में भिन्नता—जिस प्रकार प्राकृतिक साधन सब देशों में भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार मानवीय गुण भी सब देशों में समान नहीं होते। कुछ श्रम-समूह, विशाल, मजबूत एवं शारीरिक श्रम के लिये श्रेष्ठ होते हैं जबकि अन्य श्रम समूह दस्तकारी में या साहस एवं संगठन योग्यता की दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। इन अन्तरों का कारण दीर्घकालीन जातीय विशेषतायें होती हैं। कुछ सीमा तक राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक वातावरण भी, जिनमें व्यक्तियों का जन्म एवं भरण-पोषण होता है, उक्त अन्तरों के लिये उत्तरदायी हैं। कारण कुछ भी हों, इतना तो स्पष्ट है कि मानवीय क्षमताओं की भिन्नता के कारण भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं व्यापार लाभदायक हो जाता है। जिन क्रियाओं में शारीरिक श्रम की अधिक आवश्यकता पड़ती है उन्हें उन देशों में अपनाया जायेगा जहाँ मजबूत एवं स्वस्थ जनता का निवास है। इसके विपरीत, जिन क्रियाओं में बुद्धि, संगठन, योग्यता व साहस की अधिक आवश्यकता पड़ती है उन्हें प्रगतिशील, शिक्षित एवं वैज्ञानिक ज्ञान सम्पन्न निवासियों वाले देश द्वारा अपनाया जायेगा। पराधीन भारत में टेकनीकल ज्ञान की कमी के कारण ही उद्योग-धन्धों का विकास नहीं किया जा सका था तथा वह एक कच्चा माल उत्पन्न करने वाला देश ही बना रहा।

(4) पूंजीगत वस्तुओं की संचित पूर्ति में भिन्नता—प्रत्येक देश में पूंजीगत वस्तुओं की संचित पूर्ति (Accumulated Supply) भिन्न-भिन्न होती है। कुछ देशों में शताब्दियों के संचय द्वारा स्थिर (Fixed) एवं चल पूंजी (जैसे रेल-मार्ग, इमारतें, मशीनें आदि) विशाल मात्रा में उपलब्ध हैं। ऐसे देशों के उदाहरण हैं इंगलैंड एवं अमेरिका। ये देश औद्योगिक उत्पादन में विशिष्टीकरण कर रहे हैं। किन्तु अन्य देशों में (जैसे भारत एवं मिस्र) पूंजी की कमी है, जिससे उन्होंने कृषि उत्पादन में विशिष्टीकरण किया, क्योंकि इसमें पूंजीगत साज-समान की कम आवश्यकता पड़ती

है। यही नहीं, विभिन्न राष्ट्रों में संचित की गई पूंजी के प्रकारों में भी बहुत अन्तर होता है।

(5) राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण की भिन्नता—उपरोक्त आर्थिक अन्तरों के अतिरिक्त, हम यह भी देखते हैं कि विभिन्न देशों की राजनैतिक एवं सामाजिक जलवायु में भी बड़े अन्तर हैं। स्थायी सरकार एवं कन्जर्वेटिव प्रथाओं वाले देशों में दीर्घकालीन पूंजी के विनियोग वाले विशाल औद्योगिक संगठन उदय हो जाते हैं; किन्तु पिछड़े हुये कुशासन वाले एवं अशिक्षित देशों में बड़े पैमाने के उद्योगों के विकास के लिये परिस्थितियां प्रतिकूल होती हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूगोल एवं जलवायु लोगों की रुचि एवं योग्यता, पूंजीगत वस्तुओं की पूर्ति, राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण तथा जनसंख्या तक सम्बन्धी अन्तरों के कारण कुछ देश अन्य देशों की अपेक्षा कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशेष सुविधायें रखते हैं, जिससे उन्हें इन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करना लाभदायक होता है। जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, अधिकांश अन्तरों के बने रहने का मुख्य कारण साधनों की अन्तर्राष्ट्रीय गतिहीनता है।

कोई देश किसी एक ही वस्तु के उत्पादन पर अपना सारा ध्यान क्यों नहीं देता ?

स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि से अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय समाज के लिये लाभदायक होता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय पर से प्रतिबन्ध हटा लिये जायें, तो विश्व में आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन पहले से कहीं अधिक मात्रा में सम्भव हो जाता है। किन्तु, कुछ दशाओं में कहा जाता है कि सम्बन्धित देशों को हानि उठानी पड़ सकती है अर्थात्, अन्तर्राष्ट्रीय समाज की दृष्टि से तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक होता है किन्तु एक व्यक्तिगत राष्ट्र के दृष्टिकोण से यह हानिप्रद हो सकता है। अतः राष्ट्रीय हित सुरक्षित रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। निम्न दशाओं में राष्ट्रीय हित अन्तर्राष्ट्रीय हितों से टकराता है :—

(1) रोजगार-स्तर—एक राष्ट्र आयातों को कम और निर्यातों को बढ़ा कर अपने यहां रोजगार-स्तर ऊंचा कर सकता है। शुद्ध निर्यात में वृद्धि एक नवीन विनियोग के समान है। अन्य विनियोग के समान उसका भी गृह-आय एवं रोजगार पर 'गुणक प्रभाव' पड़ता है। इसे प्रायः 'विदेशी व्यापार गुणक' (Foreign Trade Multiplier) कहते हैं अर्थात्, शुद्ध निर्यात में वृद्धि होने से आय एवं रोजगार इस शुद्ध वृद्धि की अपेक्षा कई गुना बढ़ जाता है। निर्यात में वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ता है और उत्पादन बढ़ने से रोजगार के अवसर बढ़ते हैं।

किन्तु, उक्त तर्क का गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि कोई राष्ट्र शुद्ध निर्यात बढ़ा कर केवल अस्थायी लाभ ही उठा सकता है।

इसका कारण भी स्पष्ट है, यदि प्रत्येक राष्ट्र निर्यात करना ही पसन्द करें, तो फिर कौन राष्ट्र आयात करना चाहेगा ? जैसे ही एक राष्ट्र अन्य देशों से आयात पर प्रतिवन्ध लगायेगा, वैसे ही अन्य देश भी उसके विरुद्ध प्रतिवन्ध लगा सकते हैं। ऐसी दशा में रोजगार-वृद्धि कैसे होगी ?

(2) श्रमिकों का आवास-प्रवास— यदि सम्पूर्ण संसार का आर्थिक कल्याण करना ही उद्देश्य हो, तो अन्तर्राष्ट्रीय आवास-प्रवास उस दशा में होना जरूरी है जबकि एक देश में वास्तविक मजदूरियाँ दूसरे देशों से अधिक हों। किन्तु ऊँची मजदूरी वाले देशों के मजदूरों के लिये, कम मजदूरी वाले देशों से मजदूरों का आवास बहुत बड़ी वित्तीय हानि का कारण हो सकता है। उदाहरण के लिये, यदि अमेरिका में मजदूरों का आवास होने लगे और ये मजदूर अमेरिकन मजदूरों के स्थानापन्न बन सकते हों, तो सम्पूर्ण विश्व में मजदूरों के लिये औसत वास्तविक मजदूरियाँ बढ़ जायेंगी किन्तु वर्तमान अमेरिकन मजदूरों की मजदूरी एवं आय कम हो जायेगी। अतः कहा जाता है कि यह राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हितों का एक ऐसा संघर्ष है, जिसे तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त को लागू करते समय नहीं भुलाना चाहिये। साधनों के अन्तर्राष्ट्रीय वितरण की एक दी हुई दशा में तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त लागू होता है। किन्तु उक्त सिद्धान्त यह नहीं कहता कि साधनों के अन्तर्राष्ट्रीय स्थानान्तर से प्रत्येक राष्ट्र को तब भी लाभ पहुंचेगा जबकि इस स्थानान्तर से विश्व का औसत जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है।

(3) एक देश द्वारा एकाधिकारी के समान व्यवहार—जिस प्रकार एक घरेलू एकाधिकारी (Domestic Monopolist) अपनी उत्पत्ति को सीमित करके लाभ उठाता है, उसी प्रकार एक देश भी कभी-कभी व्यापार को सीमित करके लाभ उठाने की चेष्टा कर सकता है। किन्तु यह जरूरी नहीं है कि उसका ऐसा प्रयास सफल ही हो जाय। क्योंकि, एक तो अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी को अन्य देशों की सम्भावित प्रतिस्पर्धा का भय रहेगा और दूसरे उसके द्वारा लगाये गये प्रतिवन्धों की प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे देश भी व्यापार पर प्रतिवन्ध लगा सकते हैं। ऐसी दशा में विनिमय में कमी होने से दोनों ही देश हानि उठायेंगे। इस प्रकार केवल अस्थायी रूप से ही कोई देश शेष विश्व के हितों का बलिदान करके व्यापार पर प्रतिवन्ध लगा कर लाभान्वित हो सकता है। अधिक सम्भावना तो यही है कि सभी देशों को अन्त में हानि उठानी पड़ेगी।

ऐसे राष्ट्रों के उदाहरण जो कि एकाधिकारी की भाँति चलने का प्रयास कर रहे हैं, सोवियत रूस आदि हैं जहाँ विदेशी व्यापार सरकारी नियन्त्रण के अन्तर्गत केंद्रित हो गया है। कुछ सीमा तक अन्य देशों ने भी अपने विदेशी व्यापार का सरकारी एजेन्सी के अन्तर्गत केन्द्रीयकरण किया है। ब्राजील की कॉफी (Coffee) इसका उदाहरण है।

(4) **अविकसित क्षेत्रों का विकास**—जब कोई धनी देश अविकसित देशों को ऋण देता है तो इसके परिणामस्वरूप धनी देश की स्थिति दुर्बल हो जाती है, क्योंकि ये नये क्षेत्र उसके प्रतिस्पर्धी उद्योग विकसित कर लेते हैं। किन्तु यह तर्क भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अधिकतर नये उद्योग प्रत्यक्ष रूप से प्रतिस्पर्धात्मक नहीं होते। फिर, यदि नये देश विदेशों में बेचते हैं तो वे खरीदने भी तो लगते हैं।

(5) **युद्ध**—हितों के संघर्ष का सबसे प्रमुख कारण अर्थशास्त्र के बाहर का है और युद्ध एवं युद्ध के लिए तैयारी से सम्बन्धित है। कोई भी राष्ट्र यह नहीं चाहेगा कि उसे आवश्यक कच्चे मालों एवं निर्मित पदार्थों के लिए अपने सम्भावित शत्रुओं पर निर्भर रहना पड़े। वह स्वयं भी अपने सम्भावित शत्रुओं की शक्ति को बढ़ाने में सहयोग देना पसन्द नहीं करेगा।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपवादपूर्ण दशायें :

इस एक प्रमुख अपवाद को छोड़कर, आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टिकोण एक ही दिशा को सूचित करते हैं कि व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं लेन-देन स्थायी शान्ति का सबसे ठोस आधार हैं।

अध्याय 2

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त
(THEORIES OF INTERNATIONAL TRADE)

Q. 6. Discuss the Comparative Cost of Theory of International Trade and show how far it gives a fundamental explanation of the International Division of labour ?

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तुलनात्मक लागत सिद्धान्त तथा इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का स्पष्टीकरण

रिकार्डो के समय में 'संरक्षणवादियों (Protectionists) एवं निर्बाधवादियों (Free Traders) के मध्य बड़ा वाद-विवाद चल रहा था। संरक्षणवादी प्रायः यह तर्क लेते थे कि अनाज और अन्य कृषि-वस्तुयें रूस या पौलेण्ड से क्यों मँगाई जायें जबकि इंगलैंड इन दोनों ही वस्तुओं को उसी प्रकार उत्पन्न कर सकता है जिस प्रकार कि रूस या पोलैण्ड करते हैं। इसके उत्तर में रिकार्डो ने कहा—("क्योंकि) इंगलैंड को कपड़े या अन्य निर्मित वस्तुयें बनाने एवं निर्यात करने में कृषि वस्तुओं के बनाने और निर्यात करने की अपेक्षा अधिक लाभ है।" वास्तव में, विदेशियों को कपड़ा बेच कर इंगलैंड अधिक मात्रा में अनाज मँगा लेता है तथा इस प्रकार अधिक अनाज का उपभोग करने में समर्थ होता है। अपने इस विचार को उन्होंने निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया—

"दो व्यक्ति जूते और टोप दोनों ही वस्तुयें बना सकते हैं और इनमें से एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा इन दोनों ही कार्यों में अधिक कुशल है। किन्तु, टोपों के बनाने में वह अपने प्रतिस्पर्धी की अपेक्षा $\frac{1}{5}$ अथवा 20% से अधिक कुशल है जबकि जूते बनाने में वह उससे $\frac{1}{3}$ या $33\frac{1}{3}\%$ अधिक कुशलता रखता है। ऐसी दशा में क्या दोनों के हित में न होगा कि कुशल व्यक्ति केवल जूतों का ही उत्पादन करे और कम कुशल व्यक्ति केवल टोप ही बनाये।"[1]

---

1. "Two men can both make shoes and hats, and one is superior to the other in both employments ; but in making hats he can excel his competitor by one fifth or 20% and in making shoes he can excel him by one third or $33\frac{1}{3}\%$. Will it not be for interest of both that the superior man should employ himself exclusively in making shoes, and the inferior man in making hats ?"

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त संक्षेप में :

तुलनात्मक लागत का सम्पूर्ण प्रतिष्ठित सिद्धान्त रिकार्डो के उक्त संक्षिप्त विचार की एक विषद् व्याख्या मात्र है। कोई देश किन दो वस्तुओं का आयात एवं किन वस्तुओं का निर्यात करेगा, इस प्रश्न का उत्तर प्रतिष्ठित सिद्धान्त निम्न प्रकार से देता है :— प्रत्येक देश उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनकी उत्पत्ति के लिये यह अपनी जलवायु, मिट्टी की विशेषताओं एवं अन्य प्राकृतिक साधनों, देशवासियों की स्वाभाविक एवं प्राप्त क्षमताओं तथा वास्तविक पूंजी (जो कि देश को अपने भूतकाल से उत्तराधिकार में प्राप्त हों, जैसे इमारतें, प्लान्ट एवं साज सामान और यातायात के साधन) के कारण विशेष रूप से उपयुक्त हो। वह केवल इन्हीं वस्तुओं के उत्पादन पर अपना ध्यान केन्द्रित करेगा और उन्हें अपनी आवश्यकता से भी अधिक उत्पादन करेगा ताकि इनकी अतिरिक्त उपज को बदले में देकर वह अन्य देशों से ऐसी वस्तुयें प्राप्त कर ले जिनके उत्पादन में उसे कम सुविधायें हैं या जिन्हें वह बिल्कुल भी उत्पन्न नहीं कर सकता।

मान लीजिये कि केवल दो देश हैं। प्रत्येक देश उन वस्तुओं के सम्बन्ध में तो अपनी आवश्यकतायें स्वयं ही पूरी करेगा, जिनके लिये दोनों देशों में लगभग समान (equal) परिस्थितियाँ उपलब्ध हैं या जिन्हें यातायात नहीं किया जा सकता अथवा जिनके यातायात का व्यय विशिष्टीकरण से होने वाले लाभ से अधिक होता है। किन्तु (यदि सम्बन्धित देशों में व्यापार पर प्रतिबन्ध नहीं है, तो) अन्य वस्तुओं के उत्पादन में श्रम-विभाजन को अपनाया जायेगा। इस श्रम-विभाजन के कारण सम्पूर्ण विश्व लाभान्वित होता है, क्योंकि इससे प्रत्येक वस्तु अधिक उत्पन्न होने लगती है।

लागत भिन्नताओं का सिद्धांत (Doctrine of Cost Differences)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का अधिक शुद्धता से विवेचन करने के लिये लागत भिन्नताओं के सिद्धान्त (Doctrine of Cost Difference) पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त इसका ही एक विशिष्ट रूप है। क्या एक देश दूसरे देश की अपेक्षा एक विशेष वस्तु का उत्पादन करने में अधिक योग्य है और यदि है, तो किस सीमा तक है, इसे सही-सही उस अन्तर से जाना जा सकता है जो उस वस्तु की एक इकाई के उत्पादन करने की लागतों में उन देशों में हो। वही देश उस विशेष वस्तु के उत्पादन के लिये अधिक उपयुक्त कहा जायेगा जो उसे अधिक सस्ता (अर्थात् प्रति इकाई कम व्यय पर) बना सके।

इस सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने 'मूल्य के श्रम-लागत-सिद्धान्त' (Labour Cost Theory of Value) का प्रयोग किया है, जो यह बतलाता है कि वस्तुयें एक दूसरे से, अपने में निहित श्रम की सापेक्षिक मात्राओं के अनुसार, विनिमय की जाती हैं अर्थात् समान मूल्य वाली वस्तुओं की मात्रायें श्रम की बराबर-बराबर मात्राओं का प्रतिनिधित्व करती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्पादन लागतों के अन्तर निम्न प्रकार के हो सकते हैं :—

(1) लागतों में पूर्ण या निरपेक्ष अन्तर (Absolute Cost Differences) :

कुछ देशों को प्रकृति की विशेष उदारता के कारण अन्य देशों की तुलना में कुछ वस्तुओं के उत्पादन के लिये विशेष प्राकृतिक सुविधायें (जैसे कुछ विशेष खनिज सम्पत्ति का मिलना, भूमि की बनावट आदि) होती हैं, जिससे वे देश ऐसी वस्तुयें बहुत ही कम लागत पर उत्पन्न कर लेते हैं और अन्य देश इन वस्तुओं के लिये उन देशों पर निर्भर रहते हैं। इस प्रकार के व्यापार को जन्म देने वाली दशा को **लागतों का निरपेक्ष अन्तर (Absolute differences in cost)** कहते हैं। भारत को विशेष प्राकृतिक सुविधायें प्राप्त होने के कारण वह अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम लागत पर जूट उत्पन्न कर लेता है जिससे अन्य देश इस वस्तु के लिये भारत पर बहुत कुछ निर्भर रहते हैं। लागतों के निरपेक्ष अन्तर की दशा को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है :—

	'अ' देश में उत्पादन लागत (श्रम-इकाइयां)	'ब' देश में उत्पादन-लागत (श्रम-इकाइयां)
एक इकाई क वस्तु	10	20
एक इकाई ख वस्तु	20	10

उपरोक्त लागत स्थिति से यह प्रगट होता है कि प्रत्येक देश एक वस्तु को दूसरे देश की अपेक्षा निरपेक्ष रूप से कम लागत पर बना सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में, जबकि दोनों ही देश दोनों ही वस्तुयें बनाते हैं, अ देश में क वस्तु की 1 इकाई का विनिमय ख वस्तु की ½ इकाई से होगा और ब देश में क वस्तु की 1 इकाई का विनिमय ख वस्तु की 2 इकाई से होगा। स्पष्ट है कि यदि अ देश क वस्तु का निर्यात करने लगे, तो वह इसकी 1 इकाई के विनिमय में ब देश से ख वस्तु की 2 इकाईयां प्राप्त कर सकता है जबकि स्वयं अपने यहां वह ½ इकाई ही प्राप्त करता है। इसी प्रकार, यदि ब देश ख वस्तु का निर्यात करे, तो वह इसकी 1 इकाई के बदले में अ देश से क वस्तु की 2 इकाइयां पा सकता है जबकि स्वयं अपने यहां ½ इकाई ही प्राप्त कर सकता था। अतः निरपेक्ष लागत-अन्तरों की दशा में अ देश क वस्तु के उत्पादन में और ब देश ख वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करके तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा लाभ उठा सकते हैं। यह कहना अनावश्यक है कि ऐसी दशा में श्रम-विभाजन को अपनाने से कुल उत्पत्ति में वृद्धि हो जावेगी।

(2) लागतों का तुलनात्मक अन्तर (Comparative Differences in Cost) :

विश्व के व्यापार का काफी बड़ा भाग लागतों में निरपेक्ष अन्तरों पर आधारित है। समशीतोष्ण एवं उष्ण कटिबन्धों के मध्य तथा उर्वरा भूमि वाले कृषक

देशों तथा कोयले व लोहे की खानों वाले औद्योगिक देशों के मध्य होने वाला व्यापार इसी श्रेणी का है। किन्तु रिकार्डो इस स्थिति को कम प्रचलित (!) मान कर एक अन्य स्थिति से अपने सिद्धान्त का विवेचन प्रारम्भ करते हैं, जो उनकी सम्मति में बहुत प्रचलित है। वे यह कल्पना करके चलते हैं कि दो देशों में एक देश दोनों ही वस्तुयें दूसरे देश की अपेक्षा कम श्रम-लागत पर बना सकता है। इस सम्बन्ध में उन्होंने निम्न स्थिति को उदाहरण स्वरूप लिया है :—

	इङ्गलैण्ड में उत्पादन लागत; (श्रम-घण्टे)	पुर्तगाल में उत्पादन लागत (श्रम-घण्टे)
कपड़े की एक इकाई	100	90
शराब की एक इकाई	120	80

यदि ऐसी लागत स्थिति (Cost situation) किसी देश के दो जिलों में होती तो समस्त वस्तुयें उसी जिले में उत्पन्न की जातीं, जहाँ कि लागतें कम हैं और श्रमिक भी प्रतिकूल जिले से अनुकूल जिले में चले जाते। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्पत्ति के साधनों के लिये प्रायः यह संभव नहीं होता कि वे एक देश से दूसरे देश को चले जायें इस गतिहीनता के होते हुये भी, प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह प्रमाणित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन होगा। उन्होंने यह भी दिखाया कि इससे दोनों ही देशों को लाभ होगा।

उक्त उदाहरण में पुर्तगाल को उत्पादन की दोनों शाखाओं में निरपेक्ष श्रेष्ठता प्राप्त है किन्तु यह श्रेष्ठता कपड़े की अपेक्षा शराब में अधिक है। इस दशा में यह कहेंगे कि पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में एक तुलनात्मक लाभ (Comparative advantage) है, क्योंकि इसमें उसका लागत अन्तर (Cost-difference) (120—80) कपड़े में उसके लागत अन्तर (100—90) की अपेक्षा अधिक है अथवा लागत-अनुपात (Cost ratio) की दृष्टि से देखने पर, $\frac{80}{120} < \frac{90}{100}$ ।

रिकार्डो यह मान कर चलते हैं कि इस समय उक्त देशों में कोई वस्तु-व्यापार नहीं होता है। ऐसी दशा में सापेक्षिक लागतों के अनुसार इङ्गलैण्ड और पुर्तगाल में निम्न विनिमय-अनुपात प्रचलित होंगे :—

इङ्गलैण्ड—	1 इकाई शराब = 1·2 इकाई कपड़ा,
पुर्तगाल—	9 इकाई शराब = 8 इकाई कपड़ा, अथवा
	1 इकाई शराब = 0·88 इकाई कपड़ा।

यदि इन दोनों देशों में व्यापार आरम्भ हो जाय, तो स्पष्टतः पुर्तगाल के लिये यह लाभदायक होगा कि वह इंगलैंड को शराब भेजे, जहाँ से इसकी एक इकाई के बदले 1·2 इकाई कपड़ा मिल सकता है, इसलिये पुर्तगाल कपड़े को छोड़ कर केवल शराब का ही उत्पादन करने लगेगा। दूसरी ओर, इंगलैंड कपड़े के उत्पादन में

विशिष्टीकरण करके और पुर्तगाली शराब से कपड़े का विनिमय करके बहुत कम व्यय पर शराब प्राप्त कर सकता है। जब तक पुर्तगाल को 1 इकाई शराब के बदले 0·88 इकाइयों से कुछ भी अधिक कपड़ा मिलता रहेगा और इङ्गलैंड को 1 इकाई शराब के लिये 1·2 इकाइयों में कुछ भी कम कपड़ा देता रहेगा, तब तक दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभान्वित होंगे। अतः 1 इकाई शराब के बदले 0·88 इकाई कपड़ा से लगा कर 1 इकाई शराब के बदले 1·2 इकाई कपड़ा मिलने तक का कोई भी अनुपात दोनों देशों के लिये लाभदायक है। मान लीजिये 1 : 1 का विनिमय अनुपात प्रचलित हो जाता है। ऐसी दशा में पुर्तगाल इंगलैंड को 1 इकाई शराब (= 80 घण्टे श्रम) भेज कर वहाँ से 1 इकाई कपड़ा मँगा सकता है, जिसका उत्पादन स्वयं करने पर उसे 90 घण्टे श्रम व्यय करना पड़ता। इस प्रकार उसे 10 घण्टे श्रम की बचत हो जाती है। दूसरी ओर इंगलैंड भी पुर्तगाल को 1 इकाई कपड़ा (= 100 घण्टे श्रम) भेज कर वहाँ से 1 इकाई शराब मँगा सकता है, जिसका उत्पादन स्वयं करने में उसे 120 घण्टे श्रम व्यय करने पड़ते। इस प्रकार उसे भी लाभ होता है जो कि इस उदाहरण में 20 घण्टे श्रम के बराबर है।

परिणामतः प्रत्येक देश उत्पादन की उस शाखा में विशिष्टीकरण करने लगता है, जिसमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है और इस प्रकार अपने उत्पत्ति के साधनों की निश्चित मात्रा से वह अधिक कुल उत्पत्ति प्राप्त करने में समर्थ होता है।

(3) समान लागतों की दशा में कोई व्यापार नहीं

इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न (कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन और व्यापार का क्या कारण है) का उत्तर हमें मिल गया है। हमने यह देख लिया है कि दो देशों में वस्तुओं के उत्पादन में लागत-भिन्नतायें होने के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन और व्यापार सम्भव होता है। यदि लागत सम्बन्धी अन्तर न हों तो कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्भव नहीं होगा। यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है :—

	'अ' देश में उत्पादन लागत (श्रम इकाइयाँ)	'ब' देश में उत्पादन लागत (श्रम इकाइयाँ)
एक इकाई क वस्तु	10	8
एक इकाई ख वस्तु	5	4

उक्त उदाहरण से 'अ' देश क वस्तु की एक इकाई को उत्पन्न करने में 10 श्रम इकाइयाँ लगाता है जबकि 'ब' देश 8 श्रम इकाइयाँ। ख वस्तु की एक इकाई के उत्पादन में अ देश 8 और ब देश केवल 4 श्रम इकाइयाँ लगाता है। स्पष्ट है कि अ की अपेक्षा ब देश दोनों ही वस्तुयें सस्ती उत्पन्न कर लेता है। किन्तु दोनों देशों के

लागत-अनुपात (अ देश में 10 : 5 और ब देश में 8 : 4) बराबर हैं। इससे किसी भी देश को व्यापार से लाभ नहीं होगा। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विकसित नहीं होगा। मान लीजिये 'अ' देश 'ब' देश को 'क' वस्तु की 100 इकाई भेजता है। इसके बदले में उसे वहाँ से ख वस्तु की 50 इकाइयाँ प्राप्त होंगी। इतनी ही मात्रा में ख वस्तु उसे स्वदेश में ही प्राप्त हो सकती थी। स्पष्टतः क वस्तु के निर्यात से अ देश को कोई लाभ नहीं हुआ।

इस प्रकार लागत विभिन्नताओं के सिद्धान्त के उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब उत्पादन लागत में निरपेक्ष या तुलनात्मक अन्तर होते हैं तब ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उदय होता है। 'समान अन्तरों' की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं किया जायेगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त लागत भिन्नताओं के सिद्धान्त (Doctrine of Comparative Costs) का ही एक विशेष रूप है।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचनायें

कुछ समय पहले तक रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित तथा मिल द्वारा संशोधित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त (अथवा तुलनात्मक लागत सिद्धान्त) सबसे सर्वमान्य स्पष्टीकरण समझा जाता था। एल्सवर्थ (Ellsworth) ने बताया है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त को इतना ही निरपेक्ष सत्य और निर्विवाद माना जाता था जितना कि उत्पत्ति ह्रास नियम अथवा श्रम विभाजन को। लेकिन सिद्धान्त का सैद्धान्तिक ढांचा तो प्रारम्भ से ही आलोचना का विषय रहा है, विशेषतः इस कारण कि इसकी आधार-शिलायें हैं बहुत दुर्बल। आधुनिक युग में तो ओहलिन, ग्राहम आदि प्रसिद्ध लेखकों द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कटु आलोचनायें हुई हैं। इन आलोचनाओं का सार नीचे दिया गया है :—

(1) मौद्रिक लागतों के बजाय श्रम लागतों पर जोर—रिकार्डो के तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में उत्पत्ति के मूल्य संबंधी अन्तर (Price Difference) के बजाय सापेक्षिक श्रम-लागतों पर बल दिया गया। इसी कारण इस सिद्धांत की बहुत आलोचना हुई। आलोचकों का कहना है कि सापेक्षिक मूल्य के स्पष्टीकरण के रूप में मूल्य के श्रम सिद्धान्त को 19 वीं शताब्दी में ही अस्वीकार किया जा चुका था। फिर इसे अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों का आधार बनाने की क्या आवश्यकता थी। श्रम-लागत दृष्टिकोण उत्पत्ति—साधनों के परिवर्तन शील संयोगों के तथ्यों से मेल नहीं रखता अकेले मौद्रिक लागत ही तुलना का सर्वोत्तम आधार बन सकती है। अतः आलोचकों का मत है कि श्रम-लागत के दृष्टिकोण को छोड़ देना चाहिये और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को कीमतों के संदर्भ में विश्लेषित करना चाहिये, क्योंकि यह कीमतें ही तो हैं, जो कि यह निर्धारित करेंगी कि कौनसी वस्तुयें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश करेंगी तथा कौन देश उन्हें उत्पन्न करेगा।

(2) बढ़ती हुई एवं घटती हुई लागतों की उपेक्षा—यह सिद्धान्त स्थिर लागतों (Constant Costs) के आधार पर बनाया गया है जबकि वास्तविक संसार

में वस्तुयें या तो बढ़ती हुई लागतों के अन्तर्गत या घटती हुई लागतों के अन्तर्गत उत्पन्न की जाती हैं।

(3) **श्रम को दो देशों के मध्य पूर्ण गतिहीन तथा देश के अन्दर पूर्ण गतिशील समझना**—रिकार्डियन सिद्धान्त के इस अंग की सबसे अधिक आलोचना हुई है। श्रम की गतिशीलता न तो एक देश के विभिन्न नगरों या प्रदेशों के मध्य पूर्ण होती है और न ही विभिन्न देशों के मध्य बिलकुल ही अनुपस्थित होती है। कैर्नेस (Cairness) के शब्दों में 'अ-प्रतिस्पर्धी वर्गों' (Non Competing Groups) की विशेषता एक देश की आन्तरिक व्यवस्था में ही नहीं वरन् विभिन्न देशों के मध्य भी पाई जाती है। एक ही देश के अन्दर भी श्रमिक सदा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं आते-जाते। यही बात विभिन्न देशों और विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न मजदूरियाँ और ब्याज दरें विद्यमान होने से स्पष्ट है। एक निम्न उद्योग से उच्च उद्योग को भी श्रम व पूंजी सरलता से नहीं जाते, वरन् धीरे-धीरे स्थानान्तरित होते हैं। इससे एक दीर्घ अवधि तक साधनों की गतिहीनता कीमतों को तथा इनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करती रहती है। इस सम्बन्ध में वास्तविक रोचक बात यह है कि साधनों की आन्तरिक गतिहीनता वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन का परिणाम है, जिसके अन्तर्गत औद्योगिक उत्पादन के विशिष्ट रूप को अपनाने वाला देश अन्य वैकल्पिक रूपों को अपनाने में असमर्थ रहता है।

(4) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के समस्त कल्पनाओं को सही मानते हुये भी देश के बीच पूर्ण-विभाजन संभव नहीं है**—ग्राहम (Graham) ने कई उदाहरण देकर अपूर्ण विशिष्टीकरण को स्पष्ट किया है। यदि हम दो देशों पर विचार करें, जिनमें एक बहुत बड़ा और एक छोटा देश हो तो छोटे देश के लिये पूर्ण एक वस्तु के उत्पादन में पूर्ण विशिष्टीकरण करना संभव हो सकता है लेकिन बड़े देश के लिये नहीं। उदाहरणार्थ, भारत जैसा एक बड़ा देश बर्मा जैसे एक छोटे देश से व्यापार करता है। भारत की तुलना में बर्मा कपास की अपेक्षा चावल अधिक सस्ता उत्पन्न कर सकता है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार बर्मा चावल में और भारत कपास में विशिष्टीकरण करेगा। किन्तु एक छोटा देश होने के कारण बर्मा न तो भारत की सम्पूर्ण कपास को जो विशिष्टीकरण के अन्तर्गत उत्पन्न की जायेगी, खरीद सकता है और न चावल सम्बन्धी उसकी सम्पूर्ण आवश्यकता को ही पूरा कर सकता है। अतः जबकि बर्मा के लिये पूर्ण विशिष्टीकरण करना संभव है तब भारत के लिये ऐसा करना संभव नहीं है।

इसी प्रकार जब व्यापार की वस्तुयें बराबर मूल्य की नहीं हैं, जैसे कपड़ा व दियासलाई, तो कम मूल्य वाली वस्तु में विशिष्टीकरण करने वाला देश अपूर्ण विशिष्टीकरण ही कर सकेगा, क्योंकि उसके सम्पूर्ण निर्यातों का मूल्य उसकी वस्त्र सम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक न होगा। अतः उसे वस्त्र और दियासलाई

दोनों ही वस्तुओं का निर्माण करना होगा। इस दशा में सम्पूर्ण लाभ कपड़ा उत्पादन में विशिष्टीकरण करने वाले देश द्वारा ही रख लिया जाता है। चूँकि तुलनात्मक लागत का सिद्धांत इन बातों की कल्पना नही करता, अतः वह दोषपूर्ण है। "यदि दो बराबर कुल उपभोग-मूल्य की वस्तुओं में तथा लगभग समान आर्थिक महत्व के दो देशों के बीच व्यापार होने की कल्पना करके पलड़े बराबर रखे जायें, तब ही प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का निष्कर्ष सही हो सकता है।"

(5) यातायात व्ययों की उपेक्षा – तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का एक दोष यह है कि इसने यातायात व्ययों के संदर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना पर विचार नहीं किया। अनेक वस्तुओं के उत्पादन की दशा में यह देखा गया है कि यातायात व्यय उत्पादन लागतों की अपेक्षा कहीं अधिक होते हैं। एक वस्तु तब तक निर्यात या आयात नहीं की जा सकती है जब तक कि दो देशों के मध्य इसकी उत्पादन लागत का अन्तर इसे एक देश से दूसरे देश को यातायात करने के व्यय से अधिक न हो। (कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस कठिनाई पर विजय पाने के लिये यह मान लिया है कि जो देश वस्तु का निर्यात करता है वही यातायात व्यय सहन करता है तथा उत्पादन लागत में यातायात व्यय भी सम्मिलित है)। यातायात व्ययों के प्रभाव के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के बारे में यह विचित्रता देखी जाती है कि किसी देश का एक भाग एक वस्तु का आयात करता है जबकि दूसरा भाग उसी वस्तु का उत्पादन और निर्यात करता है। उदाहरण के लिये जर्मनी के बन्दरगाह इंगलैण्ड से कोयला मँगाते हैं जबकि जर्मनी स्वयं एक प्रमुख कोयला उत्पादक देश है और कोयले का निर्यात करता है।

(6) सामरिक महत्व के कारणों की उपेक्षा—आजकल सामरिक कारणों से प्रत्येक देश अन्य देशों पर अत्यधिक निर्भरता से बचने का यत्न करता है और देशी उत्पादन की रक्षा के लिये प्रतिबन्धात्मक नीतियाँ अपनाता है। इस प्रकार कुछ वस्तुयें प्राकृतिक सुविधायें न होते हुये भी जान-बूझकर स्वदेश में ही उत्पन्न की जाती हैं चाहे इन्हें विदेशों से सस्ता मँगाया जा सकता हो। उदाहरणार्थ उड़ीसा में अधिक लागत पर भी कच्चा जूट उत्पन्न करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं यद्यपि हमारे पड़ोसी देश पाकिस्तान को कच्चे जूट के उत्पादन में विश्व एकाधिकार है।

(7) वस्तु की कई किस्मों की दशा में सिद्धान्त का लागू न होना—कुछ लेखकों के मतानुसार प्रतिष्ठित सिद्धान्त तब लागू नही होता जबकि कोई देश किसी वस्तु की एक किस्म का आयात करे और इसकी दूसरी किस्म का उत्पादन व

---

1. "The conclusion of the classicists can hold true only "if the dice are loaded by assuming trade in two commodities of approximately equal total consumption value and between two countries of approximately equal economic importance." (*Prof. Graham*)

निर्यात करे। [वास्तव में यह आलोचना निराधार है, क्योंकि आर्थिक विश्लेषण में वस्तु की कई किस्मों को पृथक-पृथक वस्तुयें माना जाता है।]

(8) जटिल एवं अवास्तविक—ओहलिन ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त को जटिल एवं अवास्तविक बताया है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त जटिल इसलिये है कि यह विभिन्न देशों में पूर्ण लागत-भिन्नताओं पर प्रत्यक्ष रूप से विचार नहीं करता। वह इस बात की परीक्षा नहीं करता कि एक देश में उत्पादन का सस्तापन किस सीमा तक कम मजदूरी, कम ब्याज, कम यातायात व अन्य व्यय के कारण हैं। वह केवल श्रम की उत्पत्ति को दो देशों में मजदूरी के साथ मिलाता है तथा अन्य लागत-तत्वों को छोड़ देता है। इसके अतिरिक्त, प्रतिष्ठित सिद्धान्त दो देशों और दो वस्तुओं के संदर्भ में ही विचार करता है जबकि वास्तविक जगत में अनेक वस्तुयें एवं अनेक देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में साथ-साथ संलग्न होते हैं।

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में आधुनिक सुधार :

वर्तमान अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त में निम्न सुधार किये हैं :—

(1) वस्तु की लागत का माप 'श्रम' में न करके मुद्रा में किया है—इसके कारण भी स्पष्ट हैं—प्रथम, वर्तमान अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम-सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते और दूसरे, वस्तुओं की उत्पत्ति में श्रम के अलावा अन्य साधनों का भी प्रयोग होता है। आजकल मूल्य 'सीमान्त लागत' (Marginal Cost) के रूप में प्रकट किया जाता है। अतः तुलनात्मक लागत सिद्धान्त को भी सीमान्त लागत के रूप में प्रकट किया जाता है।

(2) व्यापार की शर्तों पर वस्तुओं की तुलनात्मक मांग की लोच के प्रभाव को सम्मिलित करना—प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह तो बताया था कि तुलनात्मक लागत द्वारा ही विदेशी व्यापार में विनिमय की दरों की सीमायें निर्धारित होती हैं लेकिन वे निर्धारित नहीं कर सके थे कि लाभ की मात्रा किन-किन बातों पर निर्भर रहती है। उनका मत था कि विनिमय-अनुपात बाजार में वस्तुओं के मोल-भाव द्वारा ही निर्धारित होता था। किन्तु अर्थशास्त्रियों ने बताया कि विनिमय की शर्तें मोल-भाव द्वारा नहीं वरन् एक देश की वस्तुओं की मांग की लोच पर निर्भर होती हैं। जिस देश में अन्य देश की वस्तुओं की तुलनात्मक मांग की लोच अधिक अनुकूल होगी उस देश के लिये व्यापार की शर्तें अधिक अनुकूल होंगी। इस प्रकार अब तुलनात्मक लागत के सिद्धन्त में व्यावहारिकता आ गई है।

(3) उत्पत्ति वृद्धि एवं उत्पत्ति ह्रास नियमों को भी लागू करना—रिकार्डो आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस मान्यता के आधार पर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था कि दोनों देशों के मध्य उत्पत्ति समता नियम लागू होता है तथा विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में होने वाले यातायात-व्यय का कोई महत्व नहीं है।

लेकिन वर्तमान अर्थशास्त्री इसे स्वीकार नहीं करते। उन्होंने यातायात-व्ययों और उत्पत्ति के तीनों नियमों की कार्यशीलता को विचार में लिया है। उन्होंने बताया है की घटती हुई लागतें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन देती हैं जबकि बढ़ती हुई लागतें इसे हतोत्साहित करती हैं।

"तुलनात्मक लागत सिद्धान्त विभिन्न देशों पर श्रम-विभाजन के नियम को लागू करना मात्र है"

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त वास्तव में विभिन्न देशों पर श्रम विभाजन के लागू होने का स्पष्टीकरण मात्र है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अनेक तरह के काम कर सकता है। परन्तु वह उस काम को करने में विशिष्टता प्राप्त करता है, जिसमें उसे विशेष योग्यता होती है। ऐसा करके उसे विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन के समस्त लाभ प्राप्त होते हैं। बिलकुल इसी तरह यद्यपि एक देश अन्य देशों की तुलना में अनेक वस्तुयें सस्ती और अच्छी बना सकता है तथापि वह उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है, जिनमें उनकी श्रेष्ठता सबसे अधिक है। ऐसा करके वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से अधिकतम लाभ प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति विभिन्न कार्यों में अपनी लागतों और आयों की तुलना करके सबसे लाभप्रद कार्य को चुनता है, उसी प्रकार विभिन्न देश भी विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन लागतों की तुलना करके विशिष्टीकरण के लिये उस वस्तु को चुनते हैं, जिसमें उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता सबसे अधिक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तुलनात्मक लागतों में अन्तर होना है और तुलनात्मक लागतों में अन्तर निम्न बातों के कारण पाया जाता है :—(i) प्राकृतिक साधनों की भिन्नता। (ii) जन-संख्या का असमान वितरण। (iii) मानवीय क्षमताओं की भिन्नता। (vi) पूंजीगत वस्तुओं की संचित पूर्ति में भिन्नता। (v) राजनैतिक एवं सामाजिक वातावरण में भिन्नता।

उक्त बातों के कारण कुछ देश अन्य देशों की अपेक्षा कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशेष सुविधा रखते हैं। इन्हीं कारणों से विभिन्न देशों में किसी एक या अधिक वस्तुओं की उत्पादन-लागतों में अन्तर होता है। इससे प्रादेशिक श्रम-विभाजन का जन्म होता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार तुलनात्मक लागतों में अन्तर तथा प्रादेशिक श्रम-विभाजन है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सदा उक्त सिद्धान्त पर आधारित नहीं रहता :

यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सदा तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होता है। वास्तव में यह सिद्धान्त केवल एक प्रवृत्ति (Tendency) का सूचक है और पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में (जबकि देशों के बीच श्रम, पूंजी व वस्तुयें पूर्ण गतिशील होती हैं विभिन्न देश स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त का निर्वाह करते हैं) ही क्रियाशील होता है। लेकिन आधुनिक युग में अबाधित व्यापार

समाप्त हो गया है, प्रत्येक राष्ट्र सुरक्षा के दृष्टिकोण से आत्म-निर्भर बनना चाहता है और इस कारण प्रत्येक वस्तु न्यूनाधिक मात्रा में उत्पन्न करने के लिये प्रयत्नशील है। इन बातों से उक्त सिद्धान्त के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के होने में बाधायें पड़ने लगी हैं। राजनैतिक दशाओं के अलावा कुछ आर्थिक दशायें भी इस सिद्धान्त को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लागू होने से रोकती हैं, जैसे—(i) मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन, (ii) विनिमय दर में उतार-चढ़ाव, (iii) आयात-निर्यात कर, (iv) कोटा और लाइसेन्स प्रणाली आदि।

☞ Q. 7. How are the prices of internationally traded goods determined ? (Agra, 1958)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण

अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य की उच्चतम एवं निम्नतम सीमायें—रिकार्डो :

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उन अन्तरों के कारण होता है, जो कि देशों में उनकी उत्पादन लागतों के मध्य हों। रिकार्डो एवं उसके अर्थशास्त्रियों का मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य लागत-अन्तरों (Cost differences) की ऊंची और नीची सीमाओं के मध्य कहीं भी स्थिर हो सकते हैं। 'उत्पादन-लागत' (Cost of production) से उनका आशय 'श्रम-लागत' (Labour Cost) का है। उच्च एवं निम्न सीमायें उन सापेक्षिक लाभों द्वारा निर्धारित तथा उन पर निर्भर होती हैं जो कि एक देश को अन्य देश की अपेक्षा कुछ वस्तुओं का उत्पादन करने मे प्राप्त हैं। इस बात को एक उदाहरण देकर समझाया जा सकता है :—

देश	श्रम लागत	उत्पादित वस्तु एवं इसकी मात्रा	
अमेरिका में	10 दिन का श्रम	20 गेहूँ	उत्पन्न करता है
,,	10 दिन का श्रम	20 कपड़ा	,, ,, ,,
जर्मनी में	10 दिन का श्रम	10 गेहूँ	,, ,, ,,
,,	10 दिन का श्रम	15 कपड़ा	,, ,, ,,

यहाँ अमेरिका दोनों ही वस्तुओं का उत्पादन करने में जर्मनी की अपेक्षा श्रेष्ठ (Superior) है किन्तु कपड़े में उसकी श्रेष्ठता गेहूँ में उसकी श्रेष्ठता से कम है। गेहूँ में यह 20 : 10 है जबकि कपड़े में यह केवल 20 : 15 है अर्थात् गेहूँ के उत्पादन में अमेरिका जर्मनी की अपेक्षा दूनी कुशलता रखता है लेकिन कपड़े के उत्पादन में वह अधिक कुशल तो है लेकिन दूने से कम है। इसी बात को जर्मनी के

दृष्टिकोण से यों भी रख सकते हैं कि जर्मनी को गेहूं और कपड़ा दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में तुलनात्मक हानि (Comparative Disadvantage) है। किन्तु यह हानि कपड़े के उत्पादन में गेहूं उत्पादन की अपेक्षा कम है। अतः अमेरिका द्वारा केवल गेहूं पर और जर्मनी द्वारा केवल कपड़े पर ही उत्पादन-प्रयास केन्द्रित करने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगेगा।

यदि दोनों देशों में व्यापार नहीं हो रहा है, तो अमेरिका में 20 गेहूं का विनिमय 20 कपड़े से किया जायेगा (क्योंकि दोनों की उत्पादन लागतें समान हैं) और जर्मनी में 15 कपड़ा का विनिमय 10 गेहूं से होगा। इस प्रकार यहाँ एक लागत सम्बन्धी अन्तर (Cost Differential) उपस्थित है। इसी कारण दोनों देशों के बीच व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है। अमेरिका 10 गेहूं का 10 से अधिक किसी भी मात्रा में कपड़े से विनिमय करने को तैयार हो जायेगा, जबकि जर्मनी भी 10 गेहूं की प्राप्ति के बदले 15 से कम मात्रा में कपड़ा देने के किसी भी सौदे को स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार वास्तविक विनिमय अनुपात (जिसे मुद्रा-अर्थ-व्यवस्था में 'मूल्य' कहते हैं) इन दो सीमाओं के बीच कहीं भी स्थिर हो सकता है।

मिल का सिद्धान्त—प्रतिपूरक माँग का सिद्धान्त

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य की उच्चतम एवं निम्नतम सीमाओं का ज्ञान प्राप्त होना ही पर्याप्त नही, वरन् यह भी मालूम होना आवश्यक है कि जिस अनुपात पर वस्तुओं का वास्तव में विनिमय होगा वह क्या है ? रिकार्डो का सिद्धान्त इस बात का उत्तर नहीं देता। वह विनिमय अनुपात के परिवर्तन की सीमायें मात्र ही निर्धारित करता है।

किन्तु उक्त उपेक्षित प्रश्न का उत्तर मिल ने सन् 1948 में प्रकाशित हुई अपनी पुस्तक 'Principles' में दिया। उन्होंने प्रतिपूरक माँग के सिद्धान्त (Principle of Reciprocal Demand) की खोज की। बाद में मार्शल ने इसका और अधिक विकास किया। यह सिद्धान्त ही व्यापार की वास्तविक शर्तों (Real Terms of the Trade) अर्थात् वास्तविक विनिमय अनुपातों का निर्धारण करता है।

उपरोक्त उदाहरण में, यदि जर्मन कपड़े के लिये, अमेरिका की माँग अधिक है किन्तु अमेरिकन गेहूं के लिए जर्मनी की माँग कम है, तो दोनों सीमाओं के बीच एक ऐसा अनुपात स्थापित हो जायगा, जो कि स्वभावतः एक सीमा की अपेक्षा दूसरी सीमा के अधिक निकट होगा तथा उस पर व्यापार से होने वाले लाभ का अधिकांश भाग जर्मनी को मिलेगा। अन्य शब्दों में, मिल ने यह प्रदर्शित किया कि जिस बिन्दु पर निर्यातों का कुल मूल्य आयातों के कुल मूल्य के बराबर हो जाय, वहीं पर साम्य (Equilibrium) स्थापित हो जायेगा तथा एक स्थाई मूल्य सम्बन्ध विद्यमान हो सकेगा।

Q. 8. **Discuss the basis of gains from international trade. What factors influence the gains from international trade? (Agra, 1960)**

Or

How do you measure, the gain from international trade and how can it be maximised? (Vikram, M. A. 1959)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ
(The Gain From International Trade)

लाभ की गणना

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ की गणना किस प्रकार की जाती है यह देखने के लिये हम तुलनात्मक लागत परिस्थिति (Comparative Cost Situation) को लेते हैं। निम्न उदाहरण में भारत और अमेरिका के मध्य तुलनात्मक लागत की परिस्थिति प्रदर्शित की गई है :—

सीमान्त लागत

(प्रतिमन रुपयों में)

	गेहूँ	कपास
भारत	5	10
अमेरिका	4	6

गेहूँ और कपास का लागत-अनुपात भारत में 1 : 2 तथा अमेरिका में 1 : 1½ है अर्थात् इस दशा में, अमेरिका में दोनों ही वस्तुयें भारत की अपेक्षा सस्ती उत्पन्न की जा सकती हैं, किन्तु तुलनात्मक लाभ (सस्तापन) गेहूँ की उत्पत्ति की अपेक्षा कपास की उत्पत्ति में अधिक है। भारत के दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि उसे दोनों वस्तुओं की उत्पत्ति में तुलनात्मक हानि है किन्तु यह हानि कपास की उत्पत्ति की अपेक्षा गेहूँ में कम है। अतः भारत गेहूँ की उत्पत्ति में तथा अमेरिका कपास की उत्पत्ति में विशिष्टता प्राप्त करेगा एवं अन्य वस्तु दूसरे देश से प्राप्त कर लिया करेंगे। भारत को गेहूँ के बदले कपास लेना तब तक लाभदायक रहेगा जब तक कि वह 1 मन गेहूँ के बदले ½ मन कपास से अधिक प्राप्त करता है और इसी प्रकार, अमेरिका को कपास के बदले गेहूँ लेना तब तक लाभदायक रहेगा जब तक कि उसे ⅔ मन कपास के बदले में 1 मन गेहूँ से अधिक प्राप्त हो। यातायात व बीमा-व्यय जोड़कर देश के लाभ की इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, हाँ लाभ की मात्रा कम हो जायेगी।

भारत में उत्पत्ति के साधनों की एक इकाई से या तो 1 मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है अथवा ½ मन कपास उत्पन्न की जा सकती है। इसी तरह, अमेरिका में उत्पत्ति-साधनों की एक इकाई से या तो 1 मन गेहूँ उत्पन्न किया जा सकता है अथवा ⅔ मन कपास उत्पन्न की जा सकती है। मान लीजिये, प्रत्येक देश उत्पत्ति के साधनों की दो-दो इकाइयाँ स्तेमाल करता है, तो ऐसी दशा में :—

भारत उत्पादन	$=1$ मन गेहूँ $+\frac{1}{2}$ मन कपास	
अमेरिका में उत्पादन	$=1$ मन गेहूँ $+\frac{2}{3}$ मन कपास	
संयुक्त उत्पादन	$=2$ मन गेहूँ $+1\frac{1}{6}$ मन कपास	

यदि दोनों देश एक-एक वस्तु में विशिष्टता प्राप्त करें और दोनों ही इकाइयाँ एक वस्तु की उत्पत्ति के लिये प्रयोग में लायें, तो ऐसी दशा मे :—

	गेहूँ		कपास
भारत में उत्पादन	$=2$ मन	+	×
अमेरिका में उत्पादन	= ×	+	$1\frac{1}{3}$ मन
संयुक्त उत्पायन	$=2$ मन	+	$1\frac{1}{3}$ मन

स्पष्टत: विशिष्टीकरण की दशा में $\frac{1}{6}$ मन कपास की उत्पत्ति अधिक हुई है। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यावार का लाभ है और इसी के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उदय होता है।

लाभ की मात्रा या इसके वितरण को प्रभावित करने वाले घटक

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाला लाभ दोनों पक्षों में किस प्रकार बंटता है ? अथवा, यों कहिये कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ की मात्रा किन बातों पर निर्भर करती है। लाभ की मात्रा या इसके वितरण को प्रभावित करने वाले प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं :—

(1) **लागत के अनुपातों में अन्तर**—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ की मात्रा दोनों देशों में लागत के अन्तर पर निर्भर करती है। उत्पादन लागत में जितना अधिक अन्तर होगा, लाभ की सीमा भी उतनी अधिक होगी। प्रो० हैरोड के शब्दों में एक देश को विदेशी व्यापार में तब लाभ होता है जबकि इस देश के व्यवसाइयों को यह अनुभव हो कि उनके देश में वस्तुओं के मूल्य का जो अनुपात प्रचलित है उससे कहीं अधिक भिन्न मूल्य अनुपात विदेशों में विद्यमान है, तो वे उन वस्तुओं को जो उन्हें सस्ती प्रतीत होती हैं, खरीदते और जो वस्तुयें महँगी प्रतीत होती हैं उन्हें बेचते हैं। उनकी दृष्टि में इन ऊँचे व नीचे चिन्हों में जितना अन्तर होगा और जितनी अधिक महत्वपूर्ण वस्तुयें होंगी, उतना ही व्यापार में अधिक लाभ होगा।"[1]

1. "A Country gains by foreign trade, if and when the traders find that there exists abroad a ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home, they buy what to them seems cheap and sell what to them seems dear. The bigger the gap between what to them seem low point and high point and important the articles affected, the greater will we the gain from trade." *(Prof. Horrod : International Economics, p. 34.)*

उदाहरण के लिये मान लीजिये कि A देश B देश से कुछ वस्तुओं का आयात करता है और कुछ वस्तुओं का निर्यात भी करता है। अब यदि A देश की निर्यात वस्तुयें उत्पन्न करने की क्षमता बढ़ती है, तो B देश को इन वस्तुओं से मिलने वाली लाभ की मात्रा बढ़ेगी। परन्तु स्वयं A देश की इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा घटेगी। इसी प्रकार, अगर B देश को निर्यात पदार्थों के उत्पादन की क्षमता बढ़ती है तो A देश को इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाली लाभ की मात्रा में वृद्धि होगी, परन्तु स्वयं B देश को इन वस्तुओं से प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा घटेगी। अतः स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दो देशों को प्राप्त होने वाली मात्रा, उन देशों में वस्तुओं के लागत अनुपातों के अन्तर पर निर्भर करती है।

(2) व्यापार की शर्तें—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी देश को कितना लाभ होगा यह बहुत कुछ व्यापार की शर्तों पर भी निर्भर करता है। कोई देश अन्य देशों से जिन शर्तों पर वस्तुओं का आयात व निर्यात करता है उन पर उस देश में दूसरे देश की वस्तुओं की माँग की लचक अथवा दोनों देशों की एक वस्तुओं के प्रति सापेक्षिक माँग का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये कल्पना कीजिये कि A देश में चावल की उत्पत्ति तथा B देश में जूट की उत्पत्ति होती है। अब यदि A देश की जूट की माँग अधिक बेलोचदार है तो यह देश जूट की एक निश्चित मात्रा के लिये चावल की अधिक मात्रा देने के लिये तैयार हो जायेगा। परन्तु, इसके विपरीत, यदि B देश की चावल की माँग लोचदार है तो वह चावल की एक निश्चित मात्रा के लिये जूट की अधिक मात्रा देने को कभी तैयार नहीं होगा। अतः स्पष्ट है कि किसी देश में दूसरे देश की वस्तुओं की माँग जितनी अधिक बेलोचदार या लोचदार होगी, व्यापार की शर्तें भी उतना अधिक उसके लिये क्रमशः प्रतिकूल या अनुकूल होंगी और जैसा कि प्रो० टाजिग (Taussig) ने बताया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उस देश को सबसे अधिक लाभ होगा (या व्यापार की शर्तें उस देश के अधिक पक्ष में होंगी) जिसकी वस्तुओं की माँग विदेशों में अधिक है (अथवा जिसकी वस्तुओं की माँग विदेशों में बेलोचदार हो) परन्तु उसकी अपनी माँग विदेशी वस्तुओं के लिये कम (या लोचदार) होती है।[1] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि किसी देश में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ की मात्रा दो बातों पर निर्भर है—लागतों के अनुपातों में अन्तर और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें।

(3) द्रव्य आय का स्तर—किसी देश के द्रव्य आय के स्तर से भी उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाली लाभ की मात्रा का अनुमान लगाया जा सकता है।

---

1. "That country gains most from International Trade whose exports are most in demand and which itself has little demand for the things it imports, i. e., for the exports of other countries. That country gains the least which has the most insistent demand for the products of other countries." (*Taussig*)

जिस देश की वस्तुओं की माँग अन्य देशों में निरन्तर रहती है उस देश की द्रव्य आय का स्तर भी ऊंचा होता है। इसका कारण यह कि ऐसे देश में निर्यात वस्तुओं के उद्योग में अपेक्षाकृत अधिक उन्नति होती है। वहाँ मजदूरी की दर भी अधिक होती है, जिसके परिणामस्वरूप अन्य उद्योगों की मजदूरी भी स्वभावतः बढ़ जाती है। इस प्रकार जिस देश की वस्तु की माँग विदेशों में निरन्तर रहती है, उसकी द्रव्य आय बढ़ जाती है किन्तु वहाँ विदेशी वस्तुओं का मूल्य बहुत कम होता है। अतः उपभोक्ताओं को विदेशी वस्तुओं के उपभोग से अधिक लाभ होता है। इसके विपरीत जिस देश में विदेशी वस्तुओं की अधिक माँग रहती है, उसकी द्रव्य आय का स्तर कम हो जाता है और परिणामस्वरूप विदेशी वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है। अधिक मूल्य होने के कारण उपभोक्ताओं को भी हानि होती है। इस प्रकार, द्रव्य आय के स्तर से भी इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि कौनसा देश अधिक लाभदायक सौदा कर रहा है।

☞ Q. 9. What do you understand by 'Terms of Trade'? Discuss briefly the factors governing the terms of trade of any country.

व्यापार की शर्तों से आशय तथा इस पर प्रभाव डालने वाले घटक

व्यापार की शर्तों से आशय

जब व्यापार दो क्षेत्रों के मध्य होता है और दोनों ओर से एक वस्तु विनिमय के लिये प्रस्तुत की जाती है, तो ऐसी दशा में 'विनिमय अनुपात' (Exchange Ratio) या 'विनिमय दर' (Exchange Rate) का प्रश्न उठता है। लेकिन, जब दो से अधिक वस्तुओं का विनिमय किया जाता हो, तब 'व्यापार की शर्तों' का प्रश्न उदय होता है। दूसरे शब्दों में, 'व्यापार की शर्तों' से आशय उस दर का है जिस पर आयतों का क्रय निर्यातों के बदले किया जाता है। जब दिये हुये आयातों के लिये अधिक वस्तुओं का निर्यात करना पड़े या दिये हुये निर्यातों के लिये कम वस्तुओं का आयात किया जा सके, तो कहेंगे कि 'व्यापार की शर्तें' देश के लिये 'प्रतिकूल' हो गई हैं। विपरीत क्रम से (Conversely) उन्हें 'अनुकूल' कहेंगे।

शायद ही कभी ऐसा देखा जाय कि किसी देश के लिये व्यापार की शर्तें सदा अनुकूल या प्रतिकूल रहें। वास्तव में विदेश अथवा स्वदेश या दोनों ही स्थानों में आर्थिक परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ व्यापार की शर्तें भी समय समय पर बदलती रहती हैं। इस प्रकार, यह संभव है कि जो देश किसी एक समय अनुकूल व्यापार संतुलन का सुख उठा रहा था वह किसी दूसरे समय प्रतिकूल व्यापार संतुलन

के दोष से पीड़ित हो। वास्तव में व्यापार की शर्तों को प्रभावित करने वाली अनेक बातें हैं, जिन पर संक्षेप में नीचे प्रकाश डाला गया है।—

(1) मांग की लोच :—व्यापार की शर्तों पर सबसे अधिक देश की निर्यात वस्तुओं के लिये विदेशों में मांग की लोच का तथा विदेशी आयात वस्तुओं के लिये देश में मांग की लोच का प्रभाव पड़ता है। अन्य बातों के समान रहने पर, यदि देश की निर्यात वस्तुओं के लिये विदेशी मांग की लोच कम है, तो देश 'अनुकूल व्यापारिक शर्तें' प्राप्त कर सकता है और यदि विदेशी मांग की लोच अधिक है, तो व्यापारिक शर्तें उसके प्रतिकूल होंगी।

(2) स्थानापन्नों का उत्पादन :—व्यापार की शर्तों का अनुकूल या प्रतिकूल होना इस बात पर भी निर्भर करता है कि क्या विदेशी देश द्वारा कुछ ऐसी वस्तुयें उत्पादित की जाती हैं, जो कि स्वदेशी निर्यात वस्तुओं की उपयुक्त स्थानापन्न हैं। यदि ऐसी स्थानापन्न वस्तुयें नहीं हैं, तो व्यापार-शर्तें देश के अनुकूल रहेंगी।

(3) स्वदेश में पूर्ति की लोच :—किसी देश के लिये व्यापार शर्तें अनुकूल होना या न होना उस देश में पूर्ति की लोच पर भी निर्भर होता है। यदि पूर्ति की लोच अधिक है, तो अन्य बातें समान रहने पर, स्वदेश को अनुकूल व्यापार-शर्तें मिल सकेंगी, क्योंकि तब वह विदेशी मांग में हुये परिवर्तनों के अनुसार अपनी वस्तुओं की पूर्ति को सरलता एवं शीघ्रता से समायोजित कर लेगा।

(4) आयात करने वाले देश की मांग का आकार :—व्यापार-शर्तें आयात करने वाले देश की मांग के आधार पर भी निर्भर हैं। भारत या अमेरिका जैसे विस्तृत आकार वाला देश पूर्तिकर्त्ता देश के साथ सौदा करने की सुदृढ़ स्थिति रखता है क्योंकि वह 'बड़ा ग्राहक' है। जब पूर्ति करने वाला देश डेन्मार्क या स्वीडन जैसा छोटा देश हो, तो उसकी सौदा करने की शक्ति अधिक दृढ़ हो जाती है। उदाहरण के लिये यदि अमेरिका डेनिश मक्खन का एक इतना बड़ा खरीदार है कि समस्त डेनिश उत्पादन अमेरिका को निर्यात कर दिया जाता है, तो डेनिश अर्थ व्यवस्था ऐसी दशा में अमेरिका पर निर्भर हो जाती है, जिसमें अमेरिका डेनिश मक्खन की खरीद कम करके तथा अन्यत्र खरीद कर डेन्मार्क से अधिक अनुकूल व्यापार-शर्तें प्राप्त कर सकता है। मान लीजिये कि डेन्मार्क को अपने मक्खन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में कोई अन्य ग्राहक नहीं मिलता है, तो ऐसी स्थिति में उसे अमेरिका की मूल्य घटोती सम्बन्धी अनुचित मांगों को भी स्वीकार करना होगा।

(5) विनिमय दर :—व्यापार-शर्तें विनिमय दर पर निर्भर होती हैं। एक देश अपनी करैन्सी के विदेशी विनिमय मूल्य को बढ़ाकर व्यापार-शर्तें अपने अधिक अनुकूल बनाने का प्रयास कर सकता है।

इस प्रकार, व्यापार-शर्तें अनेक बातों पर निर्भर होती हैं।

Q. 10. Discuss Taussig's concept of Net and Gross Terms of Trade and Estimate the significance of the latter.

शुद्ध एवं ग्रॉस व्यापार-शर्तें तथा इनका महत्व

शुद्ध एवं ग्रॉस व्यापार की शर्तें

प्रो० टॉजिग ने शुद्ध व्यापार-शर्तों (Net Terms of Trade) और कुल व्यापार-शर्तों (Gross Terms of Trade) में भेद किया है। उनके अनुसार **'शुद्ध व्यापार-शर्तों' से आशय आयात-मूल्यों और निर्यात-मूल्यों के अनुपात से है, जिसे वस्तु-व्यापार-शर्तें' (Commodity Terms of Trade) भी कहते हैं।** टॉजिग का कहना है कि यह अनुपात तब ही उचित होता है जबकि सम्बन्धित देश के 'भुगतान-संतुलन' में केवल वस्तुओं और सेवाओं के भुगतान ही सम्मिलित हों। यदि इसमें एकपक्षीय भुगतान (Unilateral payments) भी सम्मिलित हैं (जिससे कि या तो आयात का या निर्यात का आधिक्य प्रगट होता है) तब हमें उस लाभ का अनुमान लगाने के हेतु जो कि देश को अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त हो रहा है, 'शुद्ध व्यापार-शर्तों' पर नहीं वरन् 'कुल व्यापार शर्तों' पर ध्यान देना चाहिये। **'कुल व्यापार शर्तों' से आशय आयात के कुल द्रव्य मूल्य और निर्यात के कुल द्रव्य मूल्य की सापेक्षिकता से है।** 'कुल व्यापार शर्तों' का पता लगाने के लिये आयात व निर्यात सम्बन्धी जो कुल द्रव्य मूल्य निकाले जायें उनसे सम्बन्धित अंकों को सम्बन्धित मूल्य-सूचनांक की सहायता से सुधार लेना चाहिये, जिससे आयात अथवा निर्यात के मूल्य स्तर में किसी परिवर्तन के कारण हुये परिवर्तन समायोजित हो जायें।

ग्रॉस व्यापार शर्तों का महत्व

इस विधि के द्वारा हम एक देश जो माल भेजता है उसके कुल (संशोधित) मूल्य की तुलना उस माल के कुल (संशोधित) मूल्य से कर सकते हैं जोकि वह मंगाता है। टॉजिग के अनुसार, जब किसी देश के पास निर्यात आधिक्य है (क्योंकि वह ब्याज का भुगतान कर रहा है, अथवा पुराना ऋण चुका रहा है या ऋण दे रहा है), तो 'शुद्ध व्यापार शर्तें' उसके निर्यात के उतने भाग से ही सम्बन्धित होंगी जो कि उसकी चालू आयातों के भुगतान के रूप में हों, तथा इसलिये वे उसकी स्थिति की उचित से अधिक अनुकूलता सूचित करती हैं। इसके विपरीत, यदि देश का आयात-आधिक्य है तो शुद्ध व्यापार-शर्तें उचित से अधिक प्रतिकूलता की स्थिति सूचित करती हैं।

इस प्रकार, 'शुद्ध व्यापार शर्तें' किसी देश की सही स्थिति कदापि सूचित नहीं करती हैं अर्थात् इनसे यह ठीक-ठीक पता चलना कठिन है कि देश ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से क्या लाभ उठाया। वे सम्पूर्ण दशा का या तो आवश्यकता से अधिक अनुकूल या उचित से अधिक प्रतिकूल चित्र प्रस्तुत करती हैं।

व्यापार-शर्तों की गणना के दोष :

प्रो० टॉजिग ने एक सांख्यकी विधि के रूप में कुल व्यापार शर्तों की जिस

तरह गणना की है तथा उपयोग किया है उसकी बड़ी आलोचना हुई है। प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(1) **आयात व निर्यात आधिक्यों के कारणों की उपेक्षा**—आयात एवं निर्यात के वास्तविक मूल्यों (Real values) की एक बैलेन्स शीट बनाना निस्सन्देह रोचक एवं ज्ञान वर्धक है किन्तु इसके साथ-साथ यह जानना भी आवश्यक है कि आयात और निर्यात आधिक्य के कारण क्या हैं ? किसी देश का निर्यात आधिक्य हर्जाना देने के कारण (जैसे कि जर्मनी की दशा में सन् 1930-31 में) अथवा विदेशों को ऋण देने के कारण (जैसे कि अमेरिका की दशा में युद्धोत्तर काल में) अथवा पुराने ऋणों पर ब्याज की अदायगी के कारण उदय हो सकता है। इन विभिन्न कारणों से उदय होने वाले भुगतानों को एक ही श्रेणी में इकट्ठा सम्मिलित कर देना ठीक नहीं है। इन रकमों को अलग-अलग दिखाना ही अधिक उचित होगा।

व्यापार शर्तों की गणना के प्रमुख 4 दोष

(1) आयात व निर्यात आधिक्यों के कारणों की उपेक्षा।
(2) ऋण स्वीकृति से उदित निर्यात-आधिक्य प्रतिकूलता का सूचक नहीं।
(3) एक पक्षीय ब्याज-भुगतानों का समावेश।
(4) वास्तविक आयात-निर्यात मूल्यों वाले बैलेन्स शीट से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ हानि पता लगाना अनुचित।

(2) **ऋण स्वीकृति से उदित निर्यात आधिक्य प्रतिकूलता का सूचक नहीं**—किसी शोधक्षम देनदार को ऋण स्वीकार करने से उदय हुये निर्यात आधिक्य को प्रतिकूलता का सूचक मानना तथा उसे पुराने ऋणों पर ब्याज या ट्रिब्यूट की अदायगी के समान समझना अनुचित है। यह सच है कि इसके सुधार के लिये अवधि इतनी पर्याप्त लम्बी ली जा सकती है जिसमें ऋण की स्वीकृति और उसका भुगतान दोनों ही आ जायें, लेकिन, यदि पूंजी का निर्यात इस सम्पूर्ण अवधि भर निरन्तर जारी रहें, तो यह युक्ति काम नहीं दे सकेगी।

(3) **एक पक्षीय ब्याज-भुगतानों का समावेश**—यदि किसी तरह हम एक लम्बी अवधि मालूम कर भी लें, जिसमें विदेशी ऋणों के सभी भुगतान व प्रति भुगतान (Payments and counter payments) सम्मिलित हों तथा पूंजी का निर्यात लगातार जारी न रहे, तो भी स्थिति स्पष्ट न हो सकेगी, क्योंकि ब्याज सम्बन्धी एक पक्षीय भुगतानों के कारण लेनदार देश को संपूर्ण अवधि पर आयात आधिक्य हो जाता है। इससे यह धारणा बनती है कि देनदार देश को एक पक्षीय लाभ प्राप्त हुआ है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। यदि ऋण न दिया जाता, तो गृह-देश में ही पूंजी उचित प्रकार से प्रयोग की जा सकती थी। अतः, जैसे कि प्रो० वाइनर ने भी कहा है, "उन

मूल्यों की गणना करते समय जिन्हें कोई देश प्राप्त करता और देता है, निर्यात की गई पूंजी की सेवाओं के लिये कुछ न कुछ रकम विपरीत पक्ष में (प्राप्त हुये ब्याज के विरुद्ध) अवश्य शामिल कर लेनी चाहिये।"[1]

(4) **वास्तविक आयात-निर्यात मूल्यों वाले-बैलेन्स शीट से अन्तर्राष्ट्रीय लाभ हानि का पता लगाना अनुचित**—हमें इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिये कि उस बैलेन्स शीट को, जिसमें किसी देश के आयात व निर्यात के वास्तविक मूल्य (Real values) दिखाये जाते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन देनों से किसी देश को हुये लाभ-हानि का माप करने के प्रयोग में न लावें। यह स्पष्ट है कि हर्जाने के भुगतानों को 'हानि' मानना चाहिये। यह भी स्पष्ट है कि इस हानि को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण नहीं माना जा सकता। वास्तव में हानि लाभ को मालूम करने में व्यापार शर्तों की भूमिका मूल रूप में कुछ भिन्न थी। व्यापार शर्तों की धारणा का प्रयोग पहले यह दिखाने के लिये किया गया था कि कुल लाभ (अर्थात् कुल उत्पादन में वृद्धि) दो देशों के बीच किस प्रकार वितरित होता है। अधिकांश लाभ इस देश को या उस देश को, व्यापार शर्तों के दो सम्भावित सीमाओं में से एक या दूसरे के अधिक निकट होने पर, निर्भर रहता था। किन्तु उपरोक्त किसी भी अर्थ में, व्यापार शर्तों से अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन द्वारा किसी देश को होने वाले लाभ का पता लगाना मौलिक रूप से असम्भव है। हम उनसे केवल माँग में घट बढ़ के कारण हुये प्रतिकूल एवं अनुकूल परिवर्तनों का तथा सम्भवतः एक पक्षीय भुगतानों के कारण उदय होने वाले सेकेन्डरी भार (Burden) का ही पता लगा सकते हैं।

प्रो० टॉजिग ने बताया है कि जब व्यापार शर्तें किसी देश के विरुद्ध विदेशी वस्तुओं के प्रति उसकी माँग में वृद्धि के कारण, पलट जायें, तो हम यह नहीं कह सकते कि उस देश को हानि हुई है, क्योंकि माँग में इस प्रकार परिवर्तन होना एक 'ऐच्छिक' कार्य है। जब कोई व्यक्ति नई प्रकार की वस्तुयें बढ़े हुये मूल्यों पर भी खरीदने का निर्णय करता है, तो हमें यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि वह समझता है अपनी आदतों को बदलने से उसे लाभ होगा। (हाँ, यह देखना आवश्यक है कि माँग में ऐसा परिवर्तन रुचियों में परिवर्तन के कारण हुआ है या अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि के कारण हुआ है।)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से एवं देश की अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति में परिवर्तनों से होने वाले 'लाभ' के बारे में उक्त विवेचन से अनेक महत्वपूर्ण बातें जैसे—वितरण में परिवर्तन और विस्तार अथवा संकुचन की एक वृद्धि मूलक प्रक्रिया प्रारम्भ होने,

---

1. "When drawing up the Balance Sheet of the values which a country parts with and receives, we should include something for the services of the capital it exports as a contra of the interest payments it receives." (Viner, Quoted by, Prof. Haberler in his Theory of International Trade, p, 165.)

बाधित अथवा उत्साहित होने के फलस्वरूप हुये लाभ हानि (आदि छूट गई हैं ; अतः उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता ।

☞ **Q. 11. Discuss critically the principle of comparative costs. Does it hold good when its basic assumptions are withdrawn ?**

मान्यताओं के हटाने पर तुलनात्मक लागत सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि वह केवल मानी हुई परिस्थितियों के अन्तर्गत ही सही हो सकता है; अतः वास्तविक विश्व में उसका कोई महत्व नहीं है । किन्तु उनकी यह धारणा गलत है, क्योंकि, जैसा कि नीचे दिखाया गया है, उक्त मान्यताओं को हटा देने से भी सिद्धान्त की सत्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

(1) मुद्रा के रूप में तुलनात्मक लागतें :—श्रम विभाजन को अपनाने वाली अर्थ व्यवस्था में जिसमें कि हम आजकल निवास करते हैं, वस्तुओं का विनिमय प्रत्यक्ष रूप से वस्तुओं के साथ नहीं किया जाता वरन् मुद्रा के द्वारा किया जाता है । अतः लोग वस्तुओं के विनिमय सम्बन्धों पर मौद्रिक-मूल्यों के सन्दर्भ में विचार करते हैं श्रम लागतों के संदर्भ में नहीं । अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर मूल्यों में निरपेक्ष अन्तरों (Absolute differences in money costs) का प्रभाव पड़ता है । श्रम लागत सम्बन्धी तुलनात्मक अन्तरों के मूल्य सम्बन्धी निरपेक्ष अन्तरों में बदलना बहुत सरल है, जैसा कि नीचे उदाहरण में दिखाया गया है—

देश	श्रम-लागत	गेहूँ की उत्पादित इकाइयाँ	कपड़े की उत्पादित इकाइयाँ
अमेरिका	10 दिन का श्रम	20	20
जर्मनी	10 दिन का श्रम	10	15

यहाँ अमेरिका को उत्पादन की दोनों ही शाखाओं में श्रेष्ठता अधिक है किन्तु गेहूँ में उसे तुलनात्मक लाभ है, जिससे वह गेहूँ में विशिष्टीकरण करेगा जबकि जर्मनी कपड़े में ।

मुद्रा के आधार पर उनकी स्थिति इस प्रकार होगी—

देश	दैनिक मजदूरी डालर	कुल डालर	10 दिन के श्रम की उपज	मौद्रिक लागत (=पूर्ति) प्रति इकाई मूल्य (डालर)
अमेरिका	1·5	15	गेहूँ की 20 इकाइयाँ	0·75
,,	1·5	15	कपड़े की 20 इकाइयाँ	0·75
जर्मनी	1·0	10	गेहूँ की 10 इकाइयाँ	1·00
,,	1·0	10	कपड़े की 15 इकाइयाँ	0·66

गेहूं का मूल्य जर्मनी की अपेक्षा अमेरिका में कम है। अतः अमेरिका से जर्मनी को गेहूं का और जर्मनी से अमेरिका को कपड़े का निर्यात किया जायेगा। यही निष्कर्ष तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का भी था।

यहां पर यह आपत्ति की जा सकती है कि मजदूरी की दरें मनमौजी (Arbitrary) चुनी गई हैं। किन्तु, यह आपत्ति ठीक नहीं हैं। विभिन्न राष्ट्रों की लागत-लाभ परिस्थिति द्वारा उनकी मजदूरी की एक न्यूनतम (Lower) एवं एक अधिकतम (Upper) सीमा निश्चित हो जाती है। अतः न्यूनतम एवं अधिकतम दरों का चुनाव मनमौजी नहीं है। हां, इन सीमाओं के भीतर जो मजदूरी दरें ली गई हैं, वे मनमौजी अवश्य है। किन्तु इससे समस्या पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अमेरिका में दैनिक मजदूरी जर्मनी की मजदूरी से दूने (Double) से अधिक नहीं हो सकती है। मान लीजिये जर्मनी में दैनिक मजदूरी 1 डालर है। ऐसी दशा में अमेरिका में दैनिक मजदूरी 2 डालर से अधिक नहीं हो सकती है। यह उच्चतम सीमा गेहूं में अमेरिका के लागत-लाभ (Cost advantage) द्वारा निश्चित की गई है। यदि अमेरिकन मजदूरी दो डालर हो जाय, तो प्रति इकाई गेहूं एवं कपड़े दोनों का अमेरिकन मूल्य 1 डालर होगा, जिससे गेहूं का निर्यात करना अलाभदायक हो जायेगा किन्तु कपड़े का आयात जारी रहेगा। इससे अमेरिकन भुगतान-संतुलन (Balance of Payments) निष्क्रिय (Passive) हो जायेगा, सोना बाहर जाने लगेगा तथा मूल्य एवं मजदूरी पुनः गिरने लगेंगे।

इसी प्रकार, यह भी दिखाया जा सकता है कि अमेरिका में दैनिक मजदूरी 1·33 डालर अर्थात् जर्मन मजदूरी के $\frac{4}{3}$ से कम भी नहीं हो सकती है। यह निम्नतम सीमा कपड़े में अमेरिका के लागत-लाभ (अर्थात् 20 : 15) द्वारा निश्चित होती है। यदि अमेरिकन मजदूरी 1·33 डालर से नीचे गिर जाय, तो जर्मन मजदूरी 1 डालर होने के कारण जर्मनी का व्यापार संतुलन निष्क्रिय हो जावेगा। तथा वहां से सोना बाहर जाने लगेगा जिससे जर्मनी में मूल्य एवं मजदूरी कम हो जायेंगे किन्तु अमेरिका में बढ़ जायेंगे।

(उपरोक्त न्यूनतम एवं अधिकतम सीमाओं के बीच जर्मन कपड़े और अमेरिकन गेहूं के विनिमय का वास्तविक अनुपात क्या होगा, इसके सम्बन्ध में मिल ने बताया है कि प्रतिपूरक मांग की परिस्थितियां इसे निर्धारण करेंगी।

(II) दो से अधिक वस्तुयें :—तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह बताता है कि एक देश उस वस्तु का निर्यात करता है, जिसके उत्पादन में उसे दूसरे देश की अपेक्षा अधिक सापेक्षिक लाभ है और उस वस्तु का आयात करता है जिसके उत्पादन में उसे दूसरे देश की अपेक्षा कम सापेक्षिक लाभ है। संक्षेप में, दूसरे देश की अपेक्षा जिस वस्तु के उत्पादन में अन्य वस्तु से अधिक सापेक्षिक लाभ (अर्थात् तुलनात्मक लाभ) है उसका निर्यात तथा जिस वस्तु के उत्पादन में अन्य वस्तु से कम सापेक्षिक लाभ है उसका आयात किया जायेगा। निम्न उदाहरण लीजिये :—

	इंगलैण्ड (श्रम लागत)	पुर्तगाल (श्रम-लागत)
A वस्तु की एक इकाई	100	90
B वस्तु की एक इकाई	120	80

पुर्तगाल को दोनों ही वस्तुओं के उत्पादन में सापेक्षिक लाभ (relative advantage) प्राप्त है, लेकिन A वस्तु में उसका सापेक्षिक लाभ तुलनात्मक रूप से B वस्तु में सापेक्षिक लाभ से कम है। अतः यह B वस्तु का निर्यात करेगा और बदले में A वस्तु का आयात करेगा।

किन्तु, वास्तविक व्यवहार में पुर्तगाल और इंगलैण्ड के मध्य विदेशी व्यापार की अनेक वस्तुयें होती हैं। क्या तब भी तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागू होगा? अर्थात्, क्या पुर्तगाल उन्हीं वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनके उत्पादन में उसे आयात-वस्तुओं की अपेक्षा अधिक सापेक्षिक लाभ (या तुलनात्मक लाभ है) है? निम्न उदाहरण में यह दिखाया गया है कि अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में भी तुलनात्मक लागत सिद्धान्त लागू होता है।

मान लीजिये पाँच वस्तुयें A, B, C, D, व E, हैं। प्रत्येक वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने में श्रम-लागतों की इकाइयाँ इंगलैंड में क्रमशः a_1, b_1, c_1, d_1 एवं e_2 तथा पुर्तगाल में क्रमशः a_2, b_2, c_2, d_2 एवं e_2 लगती हैं। इनका पूर्ति-मूल्य (या मौद्रिक लागत) इंगलैंड में $p\,a_1$, $p\,b_1$, $p\,c_1$, $p\,d_1$ एवं $p\,e_1$ है और पुर्तगाल में $p\,a_2$, $p\,b_2$, $p\,c_2$, $p\,d_2$ एवं $p\,e_2$ हैं। मान लीजिये कि इंगलैंड में मजदूरी प्रति श्रम इकाई w_1 और पुर्तगाल में w_2 है। इन कल्पनाओं के संदर्भ में यह स्पष्ट है कि—

$$\text{प्रत्येक वस्तु की एक इकाई का मूल्य}\left(\text{जैसे } p\,a_1\right)=\text{प्रत्येक वस्तु की श्रम लागत की इकाइयाँ}\left(a_1\right)\times\text{मजदूरी प्रति इकाई}\left(w_1\right)$$

अर्थात्

$$\begin{array}{l|l} p\,a_1=w_1\,a_1 & p\,a_2=w_2\,a_2 \\ p\,b_1=w_1\,b_1 & p\,b_2=w_2\,b_2 \\ p\,c_1=w_1\,c_1 & p\,c_2=w_2\,c_2 \\ p\,d_1=w_1\,d_1 & p\,d_2=w_2\,d_2 \\ p\,e_1=w_1\,e_1 & p\,e_2=w_2\,e_1 \end{array}$$

हम यह भी कह सकते हैं कि प्रत्येक देश में सापेक्षिक मूल्य (relative prices) श्रम लागतों द्वारा निर्धारित होते हैं, जिससे

$$p\,a_1 : p\,b_1 : p\,c_1 : p\,d_1 : p\,e_1 = a_1 : b_1 : c_1 : d_1 : e_2$$

और

$$p\,a_2 : p\,b_2 : p\,c_2 : p\,d_2 : p\,e_2 = a_2 : b_2 : c_2 : d_2 : e_2$$

अब मान लीजिये कि विनिमय दर R है अर्थात् पुर्तगाल की R मुद्रा-इकाइयों के बदले इंगलैंड की एक मुद्रा इकाई प्राप्त की जा सकती है। ऐसी दशा में पुर्तगाल के

दृष्टिकोण से दोनों देशों में पुर्तगाली करैन्सी में प्रत्येक वस्तु की एक इकाई का मूल्य इस प्रकार है :—

	इंगलैंड (मूल्य)	पुर्तगाल (मूल्य)
A की एक इकाई	$a_1 \times w_1 \times R$	$a_2 \times w_2$
B की एक इकाई	$b_1 \times w_1 \times R$	$b_2 \times w_2$
C की एक इकाई	$c_1 \times w_1 \times R$	$c_2 \times w_2$
D की एक इकाई	$d_1 \times w_1 \times R$	$d_2 \times w_2$
E की एक इकाई	$c_1 \times w_1 \times R$	$c_2 \times w_2$

अब पुर्तगाल द्वारा निर्यात की जाने वाली प्रत्येक वस्तु के लिये पुर्तगाली-मूल्य इंगलैण्ड-मूल्य की अपेक्षा कम और आयात की जा सकने वाली प्रत्येक वस्तु के लिये पुर्तगाली मूल्य इंगलैण्ड के मूल्य की अपेक्षा अधिक होना चाहिये। यदि A वस्तु का निर्यात होना है तो $a_2 \times w_2 < a_1 \times w_1 \times R$ अर्थात् $\frac{a_2}{a_1} < \frac{W_1 \times R}{w_2}$ और, यदि B वस्तु का आयात होना है, तो $b_2 \times w_2 > b_1 \times w_1 \times R$ अर्थात् $\frac{b_2}{b_1} > \frac{w_1 \times R}{w_2}$।

$$\text{चूँकि, } \frac{a_2}{a_1} < \frac{w_1 \times R}{w_1},$$

$$\frac{b_2}{b_1} > \frac{w_1 \times R}{w_2} \text{ है, अत: } \frac{a_2}{a_1} < \frac{b_2}{b_1}$$

अर्थात्, निर्यात एवं आयात की विभिन्न वस्तुओं के मूल्य-सम्बन्ध परस्पर $\frac{a_2}{a_1} < \frac{b_2}{b_1}$ की भांति ही होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, पुर्तगाल को निर्यात की वस्तुओं में आयात वस्तुओं की अपेक्षा तुलनात्मक लाभ होना चाहिये। यही बात हमें तुलनात्मक लागत सिद्धान्त दो वस्तुओं के बारे में बताता है।

[पुर्तगाल के दृष्टिकोण से विभिन्न वस्तुओं को तुलनात्मक लाभ के क्रम में रखा जा सकता है। मान लीजिये यह क्रम A, B, C, D और E है, तो $\frac{a_2}{a_1} < \frac{b_2}{b_1} < \frac{c_2}{c_1} < \frac{d_2}{d_1} < \frac{e_2}{e_1}$। यदि हम आयात वस्तुओं को निर्यात वस्तुओं से अलग करने के लिये एक रेखा खींचें, तो इस रेखा के एक ओर सब निर्यात और दूसरी ओर सब आयात पड़ेंगे। अतः पुर्तगाल के लिये यह संभव न होगा कि

(उदाहरणार्थ) वह A वस्तु एवं C वस्तु का तो निर्यात करे किन्तु B वस्तु का आयात करे। विभाजक-रेखा (Dividing Line) की सही स्थिति क्या होगी, इसका पता लगाने के हेतु हमें एक शर्त यह भी जोड़नी होगी कि भुगतान संतुलन के दोनों पक्ष बराबर होने चाहिये।]

(III) यातायात-व्यय

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का यह निष्कर्ष कि किसी वस्तु का साहस ही एक निर्यात वस्तु से आयात वस्तु में बदला जा सकता है, अवास्तविक प्रतीत हो सकता है, क्योंकि यह हमारी इस मान्यता से उदय होता है कि यातायात में कोई व्यय नहीं किया जाता। चूँकि यह मान्यता अवास्तविक है, इसलिये इससे उदय होने वाला निष्कर्ष भी अवास्तविक होना चाहिये। अतः हमें यातायात व्ययों को विचार में लेकर यह देखना है कि इनसे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का निष्कर्ष किस सीमा तक प्रभावित होता है।

यातायात व्यय (Transport Costs) को विचार में लेने से वस्तुओं की एक तीसरी श्रेणी (जो घरेलू व्यापार से सम्बन्धित है) बनती है। यह आयात एवं निर्यात वस्तुओं की श्रेणियों से पृथक है। कोई वस्तु सीधे ही निर्यात श्रेणी से आयात-श्रेणी में नहीं बदल जाती, वरन् उसे पहिले उक्त तीसरी श्रेणी में से गुजरना पड़ता है और यह दोनों ही देशों द्वारा अपने गृह बाजारों के लिये उत्पन्न की जानी चाहिये। इसे हम निम्न प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :—

मान लीजिये, पुर्तगाल से इंग्लैंड को वस्तु का आयात करने की वास्तविक लागत (श्रम इकाइयाँ) a'_{12} और विपरीत दिशा में यातायात करने की लागत a'_{21} है। हम यह भी माने लेते हैं कि सप्लाई करने वाला देश ही सदा यातायात व्यय चुकाता है। ऐसी दशा में कोई वस्तु तब ही निर्यात की जायेगी जब कि $\frac{a_2+a'_{12}}{a_1}<\frac{W_1\times R}{W_2}$ और आयात तब की जावेगी जब कि $\frac{a_2}{a_1+a'_{21}}<\frac{W_1\times R}{W_2}$।

लेकिन $\frac{a_2}{a_1+a'_{21}}<\frac{a+a'_{12}}{a_1}$ है; अतः यदि $\frac{W_1\times R}{W_2}$ का संख्यात्मक मूल्य (Numerical value) उक्त दोनों मूल्यों के बीच में है, जिससे $\frac{a_2}{a_1+a'_{21}}<\frac{W_1\times R}{W_2}<\frac{a_2+a'_{12}}{a_1}$, तो वस्तु का न तो आयात किया जायेगा और न उसका निर्यात ही किया जायेगा। यह बात केवल A वस्तु को ही नहीं वरन् अन्य वस्तुओं पर भी लागू होती है।

दूसरे शब्दों में, जब तक दो देशों में वस्तु की उत्पादकता लागतों में अन्तर उस वस्तु को एक देश से दूसरे देश को यातायात करने के व्यय से अधिक नहीं होगा, तब तक उसका आयात-निर्यात किया जावेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी

देश की निर्यात क्षमता उसकी तुलनात्मक उत्पादन लागत पर ही निर्भर नहीं है, (जैसा कि हमने पहले मान लिया था) वरन् यातायात के व्यय पर भी निर्भर है। किन्तु इस जटिलता के कारण तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का यह निकर्ष झूठा नहीं हो जाता कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन प्रत्येक देश को लाभ पहुंचाता है। यदि यातायात व्यय होते हुये भी कोई देश वस्तुओं का आयात व निर्यात करता है, निस्संदेह वह ऐसा तब ही करता होगा जबकि इसमें उसे कुछ दिखाई दे।

(IV) उत्पादन की परिवर्तन लागतें (Variable Costs of Production)

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि दोनों ही देशों में स्थिर-लागत-नियम (Law of Constant Unit Costs) क्रियाशील है, जिससे किसी वस्तु की अतिरिक्त मात्रायें पहले के बराबर प्रति इकाई श्रम-व्यय पर ही उत्पन्न की जा सकती हैं। अमेरिका एवं जर्मनी के उदाहरण पर पुनः विचार कीजिये। यदि जर्मनी धीरे-धीरे गेहूं की खेती छोड़ता जाता है और कपड़े का उत्पादन बढ़ाता जाता है, तो प्रत्येक 10 इकाई गेहूं के लिये (जिसका उत्पादन करना उसने बन्द किया है) वह कपड़े की 15 इकाइयां उत्पन्न कर सकेगा। प्रतिस्थापन अनुपात 10 : 15 या 1 : 1·5 है, जो कि स्थिर मान लिया गया है। इसी प्रकार, अमेरिका में भी दोनों वस्तुओं में प्रति-स्थापन-अनुपात (अर्थात् 1 : 1) स्थिर रहेगा।

किन्तु स्थिर लागतें (Constant Costs) असाधारण दशा में देखी जाती हैं। अधिक प्रचलित दशायें तो बढ़ती हुई लागतें (Increasing Costs) या घटती हुई लागतें (Decreasing Costs) हैं। एक सीमा के पश्चात् (प्रतियोगिता के अन्तर्गत यह सीमा सदा ही पार कर ली जाती है)। अतिरिक्त मात्राओं का उत्पादन प्रति इकाई बढ़ती हुई लागत पर ही संभव है। अतः हमें यह देखना है कि इन परिस्थितियों (बढ़ती हुई लागतों) का तुलनात्मक लागत सिद्धान्तों निष्कर्षों पर क्या प्रभाव पड़ता है।

मान लीजिये कि जर्मनी एवं अमेरिका दोनों ही देशों में उत्पादन की दोनों शाखाओं में बढ़ती हुई लागतें क्रियाशील हैं तथा उदाहरण में जो आंकड़े दिये गये हैं वे सीमान्त उत्पत्ति सूचित करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ होने के पूर्व जर्मनी में उत्पन्न किये गये गेहूं की मात्रा में अन्तिम वृद्धि की लागत प्रति 10 इकाई गेहूं के लिये 10 इकाई श्रम है, और, इसी प्रकार, कपड़े की सीमान्त लागत प्रति 15 इकाई 10 है।

जब विदेशी प्रतियोगिता के दबाव से जर्मनी को अधिक कपड़ा (किन्तु कम गेहूं) उत्पन्न करना पड़ता है, तो उसके कपड़ा-उत्पादन की सीमान्त लागत अवश्य बढ़ेगी (क्योंकि खराब भूमि को भी कपास की खेती में लाना होगा तथा अधिक श्रम व पूंजी व्यय करनी होगी) किन्तु गेहूं उत्पादन की सीमान्त लागत गिरेगी (क्योंकि कम उपयुक्त भूमि हटा दी जावेगी तथा श्रम व पूंजी की कम मात्रा प्रयोग करनी पड़ेगी।)

फलतः सीमान्त लागतों का अनुपात जर्मनी में (Ratio of Marginal Costs) गेहूं के पक्ष में परिवर्तित हो जायेगा जबकि अमेरिका में कपड़े के पक्ष में परिवर्तित

होने लगेगा (क्योंकि अमेरिका कपड़ा कम और गेहूँ अधिक पैदा करेगा।) इस प्रकार, दोनों देशों के बीच तुलनात्मक लागत-अनुपात (Comparative Cost Ratio) चारों दिशाओं से निरन्तर कम हो जायेगा और अन्त में प्रतिस्थापन की क्रिया समाप्ति पर पहुँच जावेगी। श्रम-विभाजन इस अर्थ में अपूर्ण रहेगा कि न तो जर्मनी ने गेहूं का उत्पादन बिल्कुल छोड़ा (केवल सीमित ही किया है) और न अमेरिका ने ही कपड़े का उत्पादन पूर्णतः छोड़ा। श्रम विभाजन किस सीमा तक चलेगा, यह उस गति पर निर्भर है जिससे उत्पादन की वृद्धि के साथ लागतें बढ़ती हैं और उत्पादन की कमी के साथ घटती है :

Q. 12. Discuss the theory of international trade as propounded by Prof. Ohlin.

ओहलिन के मतानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सिद्धान्त मूल्य के सामान्य साम्य सम्बन्धी सिद्धान्त पर आधारित है तथा इसी का एक विस्तार मात्र है। ऐसी दशा में ओहलिन के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सिद्धान्त का विवेचन करने के पूर्व मूल्य के सामान्य साम्य सिद्धान्त के बारे में कुछ शब्द कह देना अनुचित नहीं होगा।

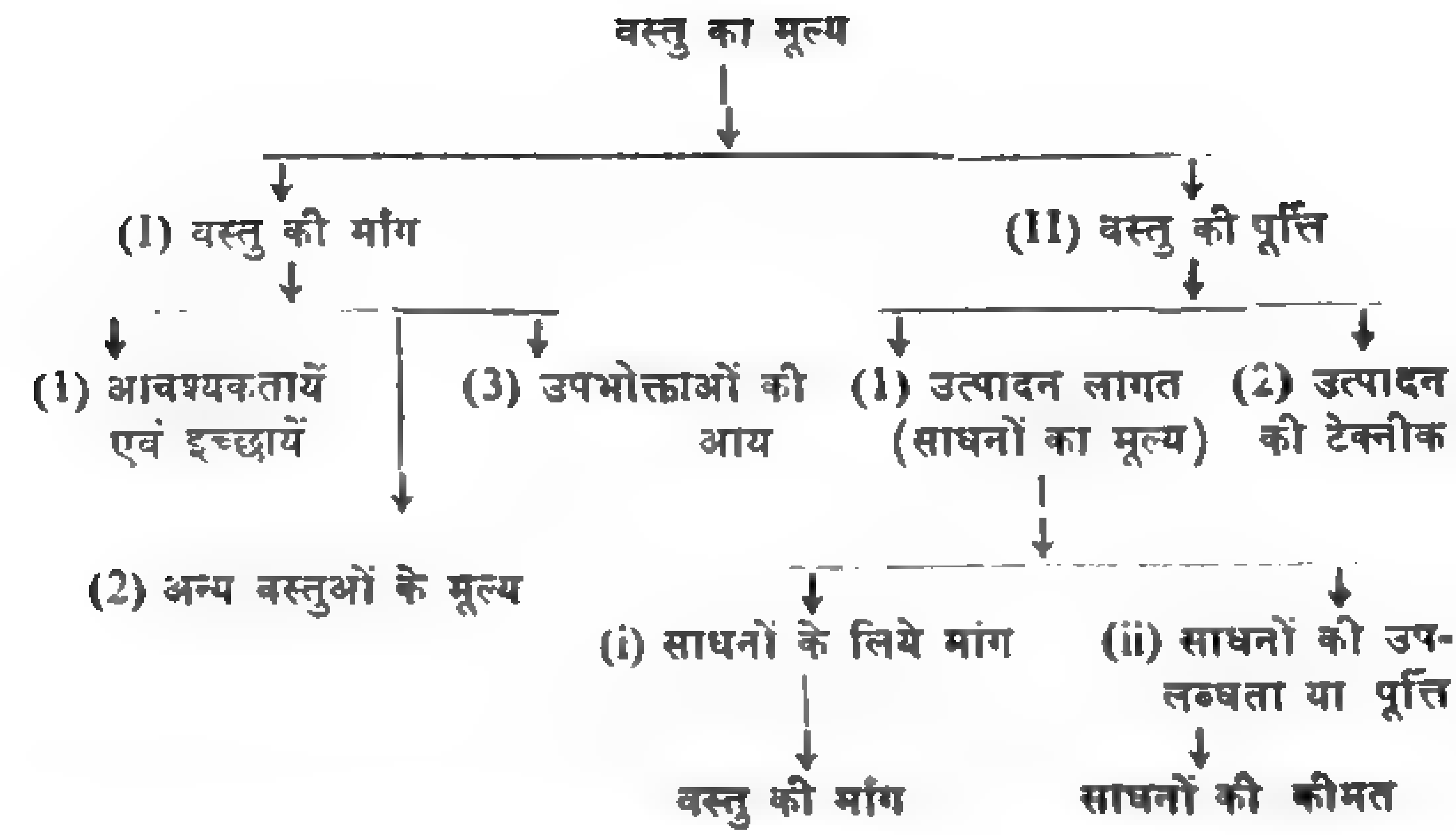
मूल्य सम्बन्धी सामान्य साम्य सिद्धांत
(General Equilibrium Theory of Value)

माँग-पूर्ति के संतुलन द्वारा वस्तु के मूल्य का निर्धारण

किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की पूर्ति तथा माँग द्वारा निर्धारित होता है। वस्तु की माँग स्वयं उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं और इच्छाओं पर उनकी आय तथा अन्य वस्तुओं की उपलब्धता व कीमतों पर निर्भर होती है। दूसरी ओर पूर्ति भी वस्तु के उत्पादन की संभावना अर्थात् उत्पत्ति के साधनों की उपलब्धता एवं उत्पत्ति की भौतिक एवं टैक्नीकल दशाओं पर निर्भर है ; जिस वस्तु पर माँग एवं पूर्ति का साम्य स्थापित हो जाता है वही वस्तु की कीमत निर्धारित होती है। यह कीमत वस्तु की उत्पादन लागत के बराबर होगी। यहाँ उत्पादन लागत में लाभ-मार्जिन भी शामिल है। किसी वस्तु की उत्पादन-लागत उन सब साधनों की कीमतों का योग होती है जो कि वस्तु के उत्पादन में सहयोगी बनते हैं।

माँग और पूर्ति को प्रभावित करने वाली बातें

उत्पत्ति के साधनों की कीमतें इन साधनों की माँग और पूर्ति द्वारा तय होती हैं। साधनों के लिये माँग अन्ततः तैयार माल की माँग पर ही निर्भर होती है क्योंकि उनका इस्तेमाल इन वस्तुओं के निर्माण हेतु ही होना है। स्पष्टतः तैयार माल की माँग जितनी अधिक होगी, उतनी अधिक माँग इन साधनों के लिये होगी। किसी साधन के लिये कुल माँग समस्त उद्योगों में आवश्यक उस साधन की विभिन्न मात्राओं का योग होती है। साधनों की पूर्ति उनकी कीमतों के साथ घटती बढ़ती है।



मूल्य निर्धारण पर प्रभाव डालने वाली घटनाओं की पारस्परिक निर्भरता

उपरोक्त तालिका में, जो कि हमारे प्रस्तुत विवेचन पर आधारित है, दो रोचक बातें उल्लेखनीय हैं—(i) साधनों की मांग वस्तुओं की मांग का परिणाम है और (ii) उपभोक्ताओं की आय जिस पर मांग बहुत सीमा तक निर्भर है साधन-स्वामियों द्वारा उत्पत्ति कार्य में साधन की सेवा के लिये प्राप्त कीमतों का फल है। वस्तुओं की कीमतें उत्पत्ति के साधनों की कीमतों पर निर्भर हैं जो स्वयं भी वस्तुओं की कीमतों पर निर्भर हैं। इस प्रकार ओहलिन वस्तुओं की कीमतों, उत्पत्ति के साधनों की कीमतों, निर्मित वस्तु की मांग, उत्पत्ति के साधनों की मांग एवं पूर्ति आदि की निर्भरता दिखलाता है। यदि हम प्रत्येक बाजार में साधनों की पूर्ण गतिशीलता व पूर्ण विभाज्यता के बारे में कल्पना करलें और यह भी मान लें कि साधनों की पूर्ति स्थिर (Constant) एवं ज्ञातव्य (Known) है, तो यह देख सकेंगे कि प्रत्येक बाजार की मूल्य प्रणाली निम्न पांच कृत्य जनित सम्बन्धों (Functional relaions) पर आधारित होती है :—

(i) कीन्स वस्तु की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होती है।

(ii) प्रत्येक वस्तु की मांग सभी वस्तुओं की कीमतों तथा उपभोक्ताओं की आयों पर निर्भर होती है।

(iii) किसी व्यक्ति की आय उसकी साधन सम्बन्धी सेवा की मात्रा व इसकी कीमत पर निर्भर है।

(iv) किसी उत्पत्ति के साधन के लिये मांग साधन की पूर्ति के बराबर होती है जिसे दिया हुआ व स्थिर मान लिया गया है, तथा

(v) वस्तु के उत्पादन के लिये आवश्यक साधन-मात्रा उत्पत्ति की भौतिक दशाओं तथा उत्पत्ति के साधनों की कीमतों पर निर्भर होती है।

अन्तर्सम्बन्धों से साधनों और वस्तु की कीमतें निकालना

उपरोक्त सम्बन्धों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक क्षेत्र में किसी क्षण पर सभी वस्तुओं और उत्पत्ति साधनों की कीमतें अन्तिम रूप से चार मौलिक घटकों द्वारा निर्धारित होती हैं। इनमें से दो मौलिक घटक मांग से और दो मौलिक घटक से सम्बन्ध रखते हैं और निम्न हैं—(i) उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें व इच्छायें, (ii) उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व की दशायें जो कि व्यक्तियों की आय को और आय के द्वारा मांग को प्रभावित करती हैं; (iii) उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति, एवं (iv) उत्पत्ति की भौतिक दशायें। यदि ये चार बातें दी हुई हों, तो उपरोक्त पांच सम्बन्धों के आधार पर साधनों व वस्तु दोनों की ही कीमतों को निकाला जा सकता है।

ओहलिन के सिद्धान्त की मान्यतायें

'साम्य मूल्य सिद्धांत' (Equilibrium Theory of Value) के आधार पर अपना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी सिद्धांत प्रतिपादित करते हुये ओहलिन ने निम्न मान्यतायें (Assumptions) की हैं :—

(1) केवल दो क्षेत्रों पर ही विचार किया जाना है।
(2) उत्पत्ति के साधनों में गुणात्मक भिन्नताओं पर ध्यान नहीं देना है।
(3) क्षेत्र के भीतर उत्पत्ति के साधन पूर्ण गतिशील हैं लेकिन क्षेत्रों के बीच नहीं हैं।
(4) अन्य सब चीजें पूर्णतः गतिशील हैं।
(5) केवल वस्तु-व्यवहारों पर ही विचार किया गया है।
(6) प्रत्येक क्षेत्र की स्वतंत्र पत्र-मुद्रा प्रणाली है।

ओहलिन के सिद्धान्त की मुख्य बातें

(1) ओहलिन व्यक्तियों के श्रम विभाजन अथवा विशिष्टीकरण तथा क्षेत्रों के विशिष्टीकरण की समानता का उल्लेख करते हुये अपने सिद्धान्त का प्रारम्भ करते हैं। उनका कहना है कि—"प्रदेश और राष्ट्र भी उन्हीं कारणों से विशिष्टता प्राप्त करते हैं और एक दूसरे से व्यापार करते हैं, जिनसे व्यक्ति विशिष्टता प्राप्त करते और व्यापार करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने स्वभाव से ही किसी कार्य को करने में अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक योग्य होते हैं। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति अच्छा बागवान होता है जबकि दूसरा अच्छा अध्यापक और तीसरा कुशल चिकित्सक है। यदि बागवान से अध्यापक का कार्य करने को कहा जाय, तो वह अध्यापक कार्य को कुशलता से न कर सकेगा। इसी प्रकार एक अध्यापक अकुशल चिकित्सक और एक चिकित्सक अकुशल बागवान ही प्रमाणित होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विशिष्टता सभी पक्षों को लाभकारी है। यदि सभी व्यक्ति एक ही योग्यता के होते, तो भी विशिष्टीकरण करके वे लाभ उठा सकते हैं।" व्यक्तियों की भांति एक ही देश के अन्दर विभिन्न प्रान्त और एक ही प्रान्त के अन्तर्गत विभिन्न जिले विभिन्न

वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते हुए देखे जाते हैं, क्योंकि कुछ वस्तुओं के उत्पादन में एक क्षेत्र विशेष को अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक उत्पादकता सुविधायें होती हैं। **उत्पादक-सेवाओं में भिन्नतायें होने से अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार को उसी प्रकार से प्रोत्साहन मिलता है जिस प्रकार विभिन्न योग्यताओं वाले व्यक्तियों के बीच विनिमय को मिलता है।**

स्पष्ट है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण सदा ही यह है कि वस्तुयें बाहर से मुद्रा के रूप में, देशी उत्पादन की अपेक्षा, सस्ती प्राप्त की जा सकती हैं।"[1] **संक्षेप में कीमत भिन्नतायें ही वस्तुओं में अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का कारण हैं।**

(2) कीमत भिन्नतायें किन परिस्थितियों में पाई जाती हैं अथवा क्षेत्रों के बीच कीमतों की असमानता के क्या कारण हैं, इसका उत्तर देते हुये ओहलिन बताते हैं कि **सापेक्षिक कीमतों में भिन्नतायें दोनों क्षेत्रों में वस्तु की माँग एवं पूर्ति सम्बन्धी दशाओं पर निर्भर होती है।** किसी वस्तु की माँग निम्न पर निर्भर होती है :—

(i) उपभोक्ताओं की आवश्यकतायें व इच्छायें।

(ii) उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व सम्बन्धी दशायें, जो व्यक्तिगत आय एवं इसके द्वारा माँग को प्रभावित करती हैं।

(iii) उत्पादक साधनों की पूर्त्ति।

(iv) उत्पादन की भौतिक दशायें। इनके बारे में ओहलिन का कहना है कि ये सर्वत्र समान हैं, इसलिए इनको विचार से अलग रखा जा सकता है।

परिणामतः वस्तु-कीमतों में भिन्नतायें माँग सम्बन्धी दशाओं [अर्थात् (i) और (ii)] तथा साधन सेवाओं की पूर्त्ति [अर्थात् (iii)] पर संयुक्त रूप से निर्भर होती हैं।

(3) सभी वस्तुओं की सापेक्षिक कीमतें दोनों क्षेत्रों में तब समान होंगी जबकि (i) वस्तुओं के लिये माँग को निर्धारित करने वाली दशायें दोनों ही क्षेत्रों में एक समान हों; (ii) दोनों ही क्षेत्रों में उत्पत्ति के साधन समान अनुपात में उपलब्ध हों; (ii) उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति में यदि कोई भिन्नतायें हों; तो इनकी क्षति पूर्ति माँग सम्बन्धी दशाओं में भिन्नता द्वारा हो जाय। **किन्तु ये दशायें समान नहीं भी हो सकती हैं और तब सम्बन्धित साधन पूर्त्तियों और माँग में भिन्नतायें होंगी। फलतः साधनों (एवं वस्तुओं) की कीमतों में भिन्नतायें पाई जावेंगी। अतः मूलतः उत्पादक साधनों की सापेक्षिक दुर्लभतायें— माँग की तुलना में उत्पत्ति साधनों की**

---

1. **"The immediate cause of inter-regional trade is always that goods can be brought cheaper from outside in terms of money than they can be produced at home."** (***Ohlin : Inter-regional and International Trade, P. 12.***)

पूर्ति कम होना—दो क्षेत्रों के मध्य व्यापार प्रारम्भ होने की आवश्यक शर्त है। जिन तीन दशाओं की हमने चर्चा की है पहली और तीसरी दशायें किसी भी समय पर विद्यमान होने की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अत: ओहलिन इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण दो क्षेत्रों में वस्तु—कीमतों की असमानता होना है और वस्तु-कीमतों में असमानता उन क्षेत्रों में उत्पादक साधनों की पूर्ति सम्बन्धी भिन्नताओं के कारण उदय होती है।

उदाहरण के लिये आस्ट्रेलिया में भूमि की प्रचुरता है जबकि श्रम और पूंजी की कमी अर्थात् वहां भूमि सस्ती है जबकि अन्य साधन मँहगे हैं। परिणामत: जिन वस्तुओं के उत्पादन के लिये बड़ी मात्राओं में भूमि की आवश्यकता पड़ती है किन्तु श्रम और पूंजी की अधिक आवश्यकता नहीं है (जैसे गेहूँ, ऊन, मांस आदि) वे आस्ट्रेलिया में सस्ती होंगी। दूसरी ओर इङ्गलैंड में जहां पूंजी की प्रचुरता है जबकि भूमि की कमी है, वही वस्तुयें सस्ती होंगी जिनके उत्पादन में भूमि की अपेक्षा पूंजी की अधिक आवश्यकता पड़ती है। ऐसी दशा में प्रथम प्रकार की वस्तुयें इङ्गलैंड आस्ट्रेलिया से और दूसरी प्रकार की वस्तुयें आस्ट्रेलिया इङ्गलैंड से मंगायेगा। इस प्रकार अन्तर्क्षेत्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार सापेक्षिक वस्तु कीमतों में (एवं अन्तिमत: उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक पूर्ति में) भिन्नतायें होना है।[1]

(4) सापेक्षिक साधन पूर्ति में भिन्नताओं से केवल यह प्रगट होता है कि कुछ वस्तुयें अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती होंगी। लेकिन यह पता नहीं चलता कि किन विशेष वस्तुओं में व्यापार किया जायगा। इसे जानने के लिए प्रत्येक क्षेत्र में क्रेताओं को देशी वस्तुओं की कीमतें निर्मित वस्तुओं से मिलानी चाहिए। इस हेतु एक सामान्य करेन्सी (Common currency) के प्रयोग की आवश्यकता है अथवा भिन्न करैन्सियों की दशा में इनके बीच विनिमय दर का पता होना जरूरी है।

उदाहरणार्थ, भारत और पाकिस्तान दो क्षेत्र हैं। मान लीजिये कि इनमें समान करैन्सी प्रणाली प्रचलित है। यदि इन देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध नहीं हैं तो विभिन्न वस्तुओं की कीमतें उनकी क्रमिक आन्तरिक मांगों के अनुसार निर्धारित होंगी। व्यापारिक सम्बन्ध कायम हो जाने पर प्रत्येक क्षेत्र की मांग दूसरे क्षेत्र की मूल्य प्रणाली के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आती है। अपेक्षाकृत सस्ते साधनों वाली वस्तुओं

---

1. "Roughly speaking, abundant industrial agents are relatively cheap, scanty agents relatively dear in each region. Commodities requiring for their production much of the former and little of the latter are exported in exchange for goods that call for factors in the opposite proportions. Thus, indirectly, factors in abundant supply are exported and factors in scanty supply are imported." *(Ibid. p. 15.)*

के लिये स्वदेशी मांग के साथ उन्हीं वस्तुओं के लिये विदेश की मांग जुड़ जायेगी। इसके साथ ही साथ अपेक्षाकृत मंहगे साधनों वाली वस्तुओं की विदेशी मांग विदेश को स्थानान्तरित हो जावेगी। **प्रतिपरक मांगों (Reciprocal demands) के प्रभाव के फलस्वरूप सापेक्षिक कीमतों में भिन्नता उत्पन्न होगी और साम्य की स्थापना तब** होगी जबकि समान मूल्य की वस्तुयें दोनों देशों के बीच यात्रा करेंगी।

यदि भारत और पाकिस्तान में भिन्न करेंन्सियां हैं, तो उनके मध्य विनिमय पर भी ध्यान देना जरूरी हो जाता है, क्योंकि सापेक्षिक साध्य-कीमतों (Factor prices) में अन्तर अपने आपको वस्तु-कीमतों के निरपेक्ष अन्तर के रूप में (जो कि व्यापार का तात्कालिक कारण है) केवल विदेशी विनिमय दर के द्वारा ही प्रदर्शित कर सकती है। अन्य शब्दों में, **प्रतिपरक मांगें दोनों ही क्षेत्रों में कीमतों पर विनिमय दर के माध्यम से प्रतिक्रिया दिखावेंगी।** इन बातों को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

विभिन्न करेंन्सियों वाले क्षेत्रों में साधन-कीमतों की तुलना दिखाने वाली तालिका

उत्पत्ति के साधन	साधन — कीमतें		साधन कीमतें भारत में जबकि विनिमय दर 1 पाक रु० = 1·5 भारतीय रुपया हो	साधन कीमतें भारत में जबकि विनिमय दर 1 पाक रु० = 2 भारतीय रुपये हों
	पाकिस्तान में (पाक रुपये)	भारत में (भारतीय रु०)		
O	1	0·20	0·30	0·40
P	1	0·30	0·45	0·60
Q	1	0·40	0·60	0·80
R	1	0·50	0·75	1·00
S	1	0·60	0·90	1·20
T	1	0·70	0·05	1·40

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान में सभी साधनों की कीमतें समान है जबकि O साधन सबसे सस्ता और T साधन सबसे मंहगा है। व्यापार के आशय के लिये सापेक्षिक सस्तापन महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है समान करेंन्सी इकाई के सन्दर्भ में निरपेक्ष सस्तापन (Absolute cheapness)। निरपेक्ष सस्तापन विनिमय दर पर निर्भर होगा। जब विनिमय दर 1 पाक रु० = 1·5 भारतीय रुपया है तब पहले पांच साधन भारत में सस्ते और छठा साधन मंहगा है। यदि विनिमय दर 1 पाक रुपया = 2 भारतीय रुपये हैं, तो केवल प्रथम तीन साधन

भारत में सस्ते और शेष साधन मँहगे हैं। द्वितीय दशा में भारत उन वस्तुओं को बनायेगा जिन्हें सस्ते साधनों (O. P. Q.) की अधिक मात्रा आवश्यक है जबकि पाकिस्तान उन वस्तुओं पर अपना ध्यान देगा जिन्हें R S और T साधनों की अधिक मात्रा आवश्यक है। सस्ते साधनों वाली वस्तुयें निर्यात की जायेंगी और मँहगे साधनों वाली वस्तुयें आयात की जायेंगी।

इस प्रकार, विनिमय दर यह दिखाती है कि कौनसा साधन सस्ता और कौनसा मँहगा है परन्तु वह साधनों का सस्ता या मंहगा होना निर्धारित नहीं करती है। साधनों की कीमतें प्रतिपरक मांग (Reciprocal demand) द्वारा निर्धारित होती हैं। विनिमय दर भी प्रतिपरक मांग द्वारा निर्धारित होती है। विनिमय दर ऐसी होनी चाहिये जिससे कि आयात और निर्यात में साम्य हो जाय।

ओहलिन का सिद्धान्त संक्षेप में :

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि (i) अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का तात्कालिक कारण दोनों क्षेत्रों में सापेक्षिक साधन-कीमतों में असमानता होना है; (iii) वस्तु कीमतों में असमानता उत्पत्ति साधनों की सापेक्षिक दुर्लभताओं में अन्तर होने से पैदा होती है; (ii) विनिमय दर की उपस्थिति में सापेक्षिक कीमत-भिन्नतायें निर-पेक्ष कीमत भिन्नताओं में परिणित हो जाती हैं। इससे यह पता चलता है कि प्रत्येक क्षेत्र किन वस्तुओं में विशिष्टीकरण करेगा, एवं (iv) विनिमय दर तथा अन्तर्क्षेत्रीय वस्तु या व्यापार का मूल्य प्रतिपरक मांग द्वारा निर्धारित होता है।

मान्यताओं को हटाकर वास्तविक जीवन के संदर्भ में सिद्धान्त का कथन :

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ओहलिन ने कुछ कल्पनायें (Assumptions) की थीं। परन्तु वास्तविक जीवन के संदर्भ में सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिये ओहलिन इन मान्यताओं को छोड़ देता है। उसने बताया है कि—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उक्त आधुनिक सिद्धान्त कई देशों पर लागू किया सकता है। ऐसा करने पर सिद्धान्त के निष्कर्षों में कोई परि-वर्तन नहीं आवेगा केवल उसकी जटिलता में ही वृद्धि हो जावेगी।

(2) उसने यह भी कहा है कि समान उत्पादन साज-सज्जा वाले क्षेत्रों में भी विशिष्टीकरण एवं व्यापार का उचित आधार होता है, क्योंकि एक विशाल बाजार (स्वदेशी+विदेशी) बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययितायें प्राप्त करने में सहायक होगा। दूसरे शब्दों में, बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययितायें अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार का एक अतिरिक्त आधार हैं।

(3) उत्पत्ति के तीन साधनों—भूमि, श्रम और पूँजी में गुणात्मक भिन्नतायें होने पर इन्हें अन्तर्क्षेत्रीय तुलना की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में रखा जा सकता है।

(4) ओहलिन अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य सम्बन्धों की समस्या को स्थान घटक (space factor) से सम्बन्धित करता है। वह यातायात व्ययों को भी

विचार में लेता है। उसने यह दिखाया है कि स्थानान्तरण सम्बन्धी व्यय व्यापार को घटाते हैं तथा कीमतों पर इसके सुप्रभाव को दुर्बल बनाते हैं।

(5) ओहलिन ने साधनों की अन्तर्क्षेत्रीय गतिशीलता के बाधकों को भी समझाया है और यह बताया है कि किस प्रकार वस्तुओं के आवागमन के स्थान में साधन आवागमन प्रारम्भ हो सकता है।

चूंकि अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर केवल परिमाणात्मक (Quantitative) हैं, इसलिये यह कह सकते हैं कि ओहलिन का अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार-सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी लागू हो सकता है। यदि हम प्रस्तुत अध्याय में 'अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार' के स्थान में 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' शब्दों को प्रयोग करें, तो यह अनुचित न होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी प्रतिष्ठित एवं आधुनिक सिद्धान्त की तुलना :

अनेक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि ओहलिन का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त से भिन्न है तथा श्रेष्ठ भी। स्वयं ओहलिन ऐसा ही समझता है। किन्तु जर्मन अर्थशास्त्री हैबरलर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि दोनों सिद्धान्तों में काफी सादृश्य है। हैबरलर के अनुसार प्रत्येक व्यापारी देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है, जिन्हें वह कम अवसर लागत (Lower opportunity costs) पर बना सकता है, और उन वस्तुओं का आयात करता है जिन्हें वह अन्य देशों की अपेक्षा अधिक अवसर लागत पर बना सकता है। हैबरलर का कहना है कि 'कम अवसर लागत वाली वस्तुयें वास्तव में वे हैं जिनके लिये प्रचुरता वाले साधनों की अधिक आवश्यकता पड़ती है और अधिक अवसर लागत वाली वस्तुयें वे हैं जिनके लिये दुर्लभता वाले साधनों की अधिक आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार ओहलिन के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित सिद्धांत के पुनःकथन (Restatement) से मिलाया जा सकता है।

फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि एक बात में ओहलिन का सिद्धांत प्रतिष्ठित सिद्धांत से श्रेष्ठ है। सर्वसम्मत मूल्य सिद्धांत को ही यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार प्रारम्भ से अन्त तक लागू करता है। ओहलिन ने निर्णयात्मक रूप से यह दिखा दिया है कि अन्तर्क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में केवल परिमाणात्मक अन्तर मात्र है अधिक नहीं, और एक बाजार वाला मूल्य सिद्धांत अनेक बाजारों में मूल्य को स्पष्ट करने के हेतु सुविधापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है।

लेकिन, ओहलिन का सिद्धांत परम्परावादियों के श्रम लागत स्पष्टीकरण की तुलना में अधिक जटिल है क्योंकि (i) यह जटिल मूल्य सिद्धांत पर आधारित है तथा (ii) जो तथ्य यह स्पष्ट करने का प्रयास करता है वह भी जटिल है। जटिल होते हुये भी ओहलिन का सिद्धांत एक पूर्ण स्पष्टीकरण है। साथ ही यथार्थवादिता से परिपूर्ण है। ये गुण परम्परावादी सिद्धांत में नहीं हैं।

अध्याय 3

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान
(INTERNATIONAL PAYMENTS)

Q. 13. What is meant by 'Balance of Payments'? How does 'balance of payments' balances? What methods are generally used by a country to correct adverse balance of payments? Explain clearly.

भुगतान-संतुलन का अर्थ, इसका समतुलित होना तथा इसकी प्रतिकूलता का सुधार

प्रारम्भिक :

'भुगतान-संतुलन' किसी देश के अन्तर्राष्ट्रीय वित व्यवहारों का परिमाणात्मक सारांश (Quantitative Summary) है। अतः इससे उस देश के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। यदि हम किसी नये अविकसित देश के भुगतान-संतुलन का अध्ययन करें, तो इससे यह मालूम हो जायेगा कि वह अपने आर्थिक विकास के लिये विदेशी पूंजी पर कहाँ तक आश्रित है। इसके विपरीत, एक पुराने एवं उन्नत देश के भुगतान संतुलन का अध्ययन करने से यह मालूम किया जा सकता है कि वह विदेशी विनियोगों से कितनी आय प्राप्त करता है। भुगतान-संतुलन वास्तव में एक 'आर्थिक बैरोमीटर' (Economic Barometer) है। इसका गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करके इससे किसी देश की बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक दशा का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संभावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है, उसकी अन्तर्राष्ट्रीय शोध क्षमता को आंका जा सकता है और उसकी विनिमय दर की (अर्थात् मौद्रिक इकाई के मूल्य की) उपयुक्तता को परखा जा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि विभिन्न देशों के भुगतान-संतुलनों का निष्पक्षता से अध्ययन किया जाय, तो वह बहुत लाभप्रद होगा। जेवन्स (Jevons) के शब्दों में, **"एक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्री के लिये भुगतान संतुलन का वही महत्व है, जो कि एक रसायनशास्त्री के लिये तत्वों की 'आवधिक तालिका' का है।"**[1]

भुगतान संतुलन का अर्थ

'भुगतान-संतुलन' वाक्यांश का कई प्रकार से प्रयोग किया गया है, अर्थात्,

---

1. "What the periodic Table of Elements is to the chemist, the Balance of Payments is to the International Economist."

(W. S. Jevons)

इसके कई अर्थ प्रचलित हैं। विवेचन की स्पष्टता के लिये इन विभिन्न अर्थों पर विचार करना आवश्यक है। साधारणतः 'भुगतान-संतुलन' के निम्न पांच अर्थ प्रचलित हैं :—

(1) एक विशेष अवधि में विदेशी मुद्रा की खरीदी व बेची गई मात्राएँ (Amount of foreign currency bought and sold—'भुगतान-संतुलन' विदेशी मुद्रा की उन मात्राओं का संकेत करता है, जोकि एक दी हुई अवधि के भीतर खरीदी और बेची गई हों। इस अर्थ में, किसी देश का भुगतान-संतुलन सदा ही 'साम्य अवस्था' (Equilibrium) में होगा, क्योंकि खरीदी गई मात्रा आवश्यक रूप से बेची गई मात्रा के बराबर होती है।

(2) एक विशेष अवधि में विदेशों से प्राप्त एवं विदेशों को किये गये भुगतान (Payments made within the period to and from foreign countries) :— 'भुगतान संतुलन' से अभिप्राय उन भुगतानों का भी हो सकता है जो कि विदेशों से प्राप्त हों और विदेशों को किये जायें। भुगतान-संतुलन का यह अर्थ इसके पहले अर्थ से भिन्न है, क्योंकि न केवल विदेशी मुद्रा के क्रय द्वारा वरन् विद्यमान विदेशी विनियोगों के हस्तांतरण द्वारा भी विदेशी भुगतान किये जा सकते हैं। यदि पर्याप्त लम्बी अवधि को विचार में लें, तो उक्त अर्थ में भी भुगतान-संतुलन साम्यावस्था (Equilibrium) में होता है।

(3) 'आय खाते पर' भुगतानों का संतुलन (Balance of Payments on Income Account) :—कभी-कभी 'भुगतान-संतुलन' शब्द का प्रयोग 'आय खाते पर भुगतानों के सन्तुलन' के लिये भी किया जाता है। इस अर्थ में 'ब्याज का संतुलन' और 'व्यापार एवं सेवाओं का संतुलन' भी उसमें सम्मिलित होता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता का संतुलन (Balance of International Indebtedness) :—अन्तर्राष्ट्रीय ऋणग्रस्तता का माप करने के लिये भी भुगतान संतुलन के विचार का प्रयोग किया गया है। यह दायित्वों एवं पावनों की मात्राएँ दिखाता है, जो किसी विशेष समय पर चुकानी और प्राप्त करनी हैं।

(5) विदेशी करेंसी की मांग एवं पूर्ति की अवस्था (Demand and supply situation of foreign currency) :—भुगतान-संतुलन का सबसे महत्वपूर्ण अर्थ विनिमय दर इसके प्रभाव से सम्बन्धित है। विनिमय दर करेंसी की मांग एवं पूर्ति के द्वारा निर्धारित होती है। अतः 'भुगतान-संतुलन' वाक्यांश का प्रयोग संपूर्ण मांग एवं पूर्ति सम्बन्धी परिस्थिति के अर्थ में किया जाता है और यही वह अर्थ है जिसमें भुगतान-संतुलन का विचार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी विवेचनाओं में सबसे अधिक प्रयोग होता है।[1]

---

1. "The term 'Balance of Payments' is used in the sense of the whole demand and supply situation, and it is in this sense that the concept of Balance of Payments is most used in International trade discussions."

'व्यापार संतुलन' एवं 'भुगतान संतुलन' में अन्तर :

'व्यापार-संतुलन' (Balance of Trade) तथा भुगतान 'संतुलन' (Balance of Payments) में बहुत अन्तर है, जिसे साधारणतः लोग ठीक से नहीं जानते। परिणामतः उनके विवेचनों में अस्पष्टता होती है। यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सही रूप से समझना चाहते हैं तो हमें भुगतान संतुलन एवं व्यापार संतुलन के अन्तर को भली प्रकार जान लेना चाहिये।

एक देश अनेक मदों का (दृश्य एवं अदृश्य) आयात और निर्यात करता है। अदृश्य मदों (Invisible Items) का तात्पर्य उन सेवाओं से है (जैसे शिपिंग, बैंकिंग एवं बीमा) जिनके लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश द्वारा दूसरे देश को भुगतान तो दिया-लिया जाता है किन्तु बन्दरगाहों पर उनका लेखा नहीं किया जाता। चूंकि इन मदों का बन्दरगाहों पर लेखा नहीं होता है, इसी से उन्हें विदेशी व्यापार की 'अदृश्य मदें' कहते हैं। 'दृश्य मदों' (Visible Items) का तात्पर्य वस्तुओं के आयात-निर्यात से है। चूंकि इन मदों का बन्दरगाहों पर लेखा कर लिया जाता है, अतः उन्हें 'दृश्य मदें' कहते हैं।

'व्यापार सन्तुलन' में केवल दृश्य मदों का ही समावेश होता है, अर्थात् वह केवल वस्तुओं के आयात और निर्यात-मूल्यों को सूचित करता है। यदि आयात-वस्तुओं का मूल्य निर्यात वस्तुओं के मूल्य से अधिक है, तो इसे 'प्रतिकूल' या 'ऋणात्मक' व्यापार-संतुलन और, यदि निर्यात वस्तुओं का कुल मूल्य आयात-वस्तुओं के कुल मूल्य से अधिक है, तो इसे 'अनुकूल' या 'धनात्मक' व्यापार-संतुलन कहते हैं।

जब कि 'व्यापार संतुलन' में विदेशी व्यापार की केवल 'दृश्य मदों' की गणना होती है, तब 'भुगतान संतुलन' में दृश्य तथा अदृश्य दोनों ही प्रकार की मदों की गणना की जाती है। दूसरे शब्दों में, भुगतान सन्तुलन की गणना करने में समस्त विकलन (Debits) और समस्त समाकलन (Credits) सम्मिलित किये जाते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि 'भुगतान संतुलन' का विचार 'व्यापार सन्तुलन' के विचार की अपेक्षा अधिक व्यापक है। हाँ, 'व्यापार-संतुलन' को 'भुगतान संतुलन' का सबसे बड़ा अंग (Component) कहा जा सकता है। भुगतान संतुलन के अन्य प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं :—(i) बीमा, जहाज किराया, बैंक शुल्क ; (ii) पूंजी हस्तांतरण सम्बन्धी भुगतान, (iii) राजनैतिक शुल्क व अन्य सेवाओं का पुरस्कार।

'व्यापार संतुलन' की अपेक्षा भुगतान संतुलन का अधिक महत्व :

'व्यापार-संतुलन' की अपेक्षा 'भुगतान-संतुलन' अधिक महत्वपूर्ण होता है। इसका कारण भी स्पष्ट है 'व्यापार-संतुलन' 'भुगतान संतुलन' का एक प्रमुख अंग मात्र है, किसी देश का व्यापार संतुलन तो उसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल रह सकता है (और वास्तव में ऐसा रहता भी है) किन्तु उसका भुगतान संतुलन प्रतिकूल नहीं होना चाहिये। यदि उसका भुगतान-संतुलन 'प्रतिकूल' (Unfavourable) है, तो इसका यह अर्थ है कि उस देश की आर्थिक दशा बिगड़ती जा रही है। किन्तु प्रतिकूल

व्यापार संतुलन से सदा ही यह आशय नहीं होता कि देश की आर्थिक दशा असन्तोषजनक है और न अनुकूल व्यापार संतुलन से ही सदा देश की आर्थिक अवस्था सन्तोषजनक होने का निष्कर्ष निकलता है।

उदाहरण के लिये, द्वितीय महायुद्ध के पहले प्रायः भारत का अनुकूल तथा इंगलैंड का प्रतिकूल व्यापार-संतुलन रहता था लेकिन वास्तव में इंगलैंड भारत की तुलना में बहुत अधिक उन्नत और सम्पन्न देश था। बात यह थी कि इंगलैंड विश्व के विभिन्न देशों में लगी हुई पूंजी से व्याज के रूप में तथा शिपिंग आदि सेवाओं के लिये शुल्क के रूप में बहुत आय प्राप्त करता था, जिसमें से वह न केवल अपने व्यापार-संतुलन के घाटे को पूरा कर लेता था वरन् अपने निवासियों की आवश्यकताएँ पहले से अधिक अच्छी तरह पूरी कर लेता था। इसके विपरीत, भारत को इंगलैंड के प्रति विभिन्न प्रकार की सेवाओं का शुल्क तथा विनियोजित पूंजी का व्याज (Home charges) चुकाना पड़ता था। अतः उसे अपने आयात से अधिक निर्यात करना पड़ता था, जिसके लिये देशवासियों को विवशतः अपनी आवश्यकताओं में कटौती करनी पड़ती थी। इस प्रकार, भारत का व्यापार संतुलन उसके अनुकूल किन्तु भुगतान-संतुलन उसके प्रतिकूल था, जो उसकी असन्तोषजनक आर्थिक दशा का सूचक है। दूसरी ओर इंगलैंड का व्यापार-संतुलन उसके प्रतिकूल लेकिन भुगतान-संतुलन उसके अनुकूल था जो उसकी सन्तोषजनक आर्थिक दशा का सूचक है। **दूसरे शब्दों में, व्यापार-संतुलन की अनुकूलता की अपेक्षा भुगतान संतुलन की अनुकूलता अधिक महत्त्वपूर्ण है।**

'भुगतान संतुलन सदा समतुलित (Balanced) हो जाता है'—क्यों ?

किन्तु राष्ट्र का भुगतान-संतुलन एक व्यक्ति के खाते या बैलेन्स शीट के समान है। बैलेन्स शीट के दोनों पक्षों (देनदारियों और लेनदारियों) का सदा समतुलन रहता है। इस प्रकार, भुगतान संतुलन के दोनों पक्षों (भुगतानों एवं प्राप्तियों) का भी सदा समतुलन हो जाता है। परन्तु प्रश्न है कि ऐसा क्यों होता है ? उत्तर में निवेदन है कि जिन कारणों से एक व्यक्ति के खाते (या बैलेन्स शीट) का समतुलन हो जाता है उन्हीं कारणों से राष्ट्र का भुगतान-संतुलन भी सदा संतुलित रहता है। जब कोई व्यक्ति अपनी वर्तमान (Current) आय से अधिक व्यय करता है, तो ऋण लेने या पिछली बचत (Past Savings) का प्रयोग करने से उसका आय-व्यय समतुलित हो जाता है। इसी तरह, जब किसी राष्ट्र के भुगतान संतुलन में डेबिट मदें (अर्थात् प्राप्तियाँ) क्रेडिट मदों (भुगतानों) से अधिक हो जाती हैं, तो इस घाटे की पूर्ति निम्न तरीकों से की जाती है, जिससे डेबिट और क्रेडिट पक्ष सदा समतुलित रहते हैं—

(1) वह स्वर्ण का निर्यात करती है। स्वर्ण-निर्यात एक क्रेडिट मद होने के कारण भुगतान संतुलन में क्रेडिट की ओर सम्मिलित हो जाता है। इससे डेबिट और क्रेडिट पक्ष समतुलन की प्रवृत्ति दर्शाते हैं।

(2) राष्ट्र द्वारा विदेशों में गत वर्षों के अन्दर जो आय अर्जित की गई थी तथा जो अब भी वहाँ बकाया पड़ी हुई है उसे हस्तांतरित करके भी भुगतान-संतुलन के अन्तर को दूर किया जा सकता है, विदेशों में प्राप्य ऋण राशि का भुगतान ले लिया जाय। यह भी एक क्रेडिट मद है, जिसे क्रेडिट पक्ष में सम्मिलित करने से घाटा पूरा होता है तथा दोनों पक्षों का समतुलन हो जाता है।

(3) घाटे को पूरा करने के लिये सम्बन्धित राष्ट्र विदेशों से पूंजी का आयात करे। यह भी एक क्रेडिट मद है, जिसे भुगतान संतुलन में क्रेडिट की ओर सम्मिलित करने क्रेडिट और डेबिट पक्ष में समतुलन की प्रवृत्ति दिखलाते हैं।

यदि उपरोक्त उपाय न भी किये जायें, तो भी भुगतान संतुलन के दोनों पक्षों का समतुलन हो जायेगा, क्योंकि जिस रकम का भुगतान नहीं किया जाता है वह विदेशों के प्रति उस राष्ट्र का दायित्व (Liability) होती है। इस दायित्व को क्रेडिट पक्ष में 'अल्पकालीन विदेशी ऋण' शीर्षक के अन्तर्गत सम्मिलित करने से भुगतान-संतुलन के दोनों पक्ष समतुलित हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि यदि भुगतान संतुलन उचित एवं सही ढंग से बनाया जाय, तो क्रेडिट मदों का योग अनिवार्यतः डेबिट मदों के योग के बराबर होता है। इसी दृष्टिकोण से यह कह सकते हैं कि 'भुगतान-संतुलन सदा समतुलित हो जाता है' (Balance of Payments always balances)।

समतुलन और असाम्यता का सह-अस्तित्व :

जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, जब किसी देश के भुगतान-संतुलन में स्वर्ण के आयात-निर्यात या पूंजी के आवागमन के बिना ही समतुलन (Balance) स्थापित हो जाय, तो इसे 'वास्तविक समतुलन' (True Balancing) समझना चाहिये। अन्य दशाओं में (जबकि स्वर्ण या पूंजी का आयात-निर्यात करना पड़े) भुगतान संतुलन का इस अर्थ में तो समतुलन हो जाता है कि उसके कुल लेन और कुल देन बराबर हैं, परन्तु ऐसा संतुलन वास्तविक नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर्गत एक अ-साम्यता (Dis-equilibrium) विद्यमान होती है। जैसे, दूसरे उदाहरण में असाम्यता है कि देश को विदेश के लिये पूंजी का निर्यात करना पड़ा है। अदृश्य आयात के रूप में इसे 'देन' पक्ष में जोड़कर ही भुगतान-संतुलन समतुलित होता है। तीसरे उदाहरण में असाम्यता यह है कि देश को विदेश से पूंजी का आयात करना पड़ा है और अदृश्य निर्यात के रूप में इसे 'लेन' पक्ष से जोड़ ही भुगतान संतुलन समतुलित हुआ है। अन्य शब्दों में दूसरी और तीसरी दशाओं में भुगतान संतुलन वास्तव में असंतुलित है। दूसरी दशा में असाम्यता देश के अनुकूल और तीसरी दशा में देश के प्रतिकूल है। स्पष्ट है कि समतुलन के साथ असाम्यता का अस्तित्व होने से यह जरूरी हो जाता है कि देश की सच्ची आर्थिक दशा का पता लगाने के हेतु भुगतान संतुलन की असाम्यता पर ध्यान दिया जाय।

भुगतान संतुलन की असाम्यता का सुधार :

इसके लिये कृपया अगला प्रश्नोत्तर पढ़िये ।

☞ Q. 14. Discuss the various ways of correcting the adverse balance of payments situation.

भुगतान संतुलन की असाम्यता—कारण एवं उपचार

असाम्यता का कारण :

किसी देश के भुगतान-संतुलन में असाम्यता (Disequilibrium in the Balance of Payments) अल्पकाल के लिये हो सकती है, अथवा दीर्घकाल के लिये । भुगतान-संतुलन वास्तव में किसी देश के विदेशी विनिमय व्यवहारों से सम्बन्धित कुल सम्पत्तियां एवं दायित्व दिखाने वाली स्थिति विवरण (Balance Sheet) है । इसकी प्रमुख मदें हैं दृश्य एवं अदृश्य आयात-निर्यात, एकपक्षीय भुगतान एवं प्राप्तियां आदि । यदि किसी कारण से इन मदों मे निरन्तर ही एकपक्षीय आवागमन होने लगे, तो इससे भुगतान संतुलन में असाम्यता उत्पन्न हो जाती है । मान लीजिये कि किसी देश का भुगतान संतुलन साम्यावस्था मे है अर्थात् उसका वास्तविक रूप संतुलन हो रहा है, इसमें विघ्न निम्न तरह से पड़ सकता है :—

(I) निर्यात बढ़ना या घटना जबकि आयात पूर्ववत् रहें ।

(II) आयात बढ़ना या घटना जबकि निर्यात पूर्ववत् रहें ।

(III) आयात और निर्यात दोनों ही घटना बढ़ना किन्तु भिन्न अनुपात में ।

उदाहरण के लिये, जब स्वदेश में लागत-मूल्य बढ़ जाते हैं अथवा विदेश में हमारे निर्यातों के लिये मांग की लोच किसी स्थानापन्न के उदय के कारण बढ़ जाती है, तो ऐसी दशा में वस्तुओं के निर्यात में कमी हो जाती है किन्तु आयात अप्रभावित ही रहते हैं । कभी-कभी तो आयात विपरीत दिशा में प्रगति करते हैं अर्थात् बजाय घटने के बढ़ने लगते हैं । जैसे, भारत में पूंजीगत वस्तुओं का आयात निरन्तर बढ़ रहा है, क्योंकि पंचवर्षीय योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये देश को उनकी बड़ी आवश्यकता है । कभी-कभी अल्पकालीन या मौसमी कारणों से भी निर्यातों में कमी आ सकती है । यदि हमारे माल के विदेशी क्रेताओं की आयों में कमी आ जाय, तो अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हमारे माल के लिये मांग घट जायेगी और इससे निर्यात कम हो जायेंगे । यदि हमारे देश की मुद्रा का अवमूल्यन हो जाय, तो हमारे निर्यात विदेशियों के लिये मंहगे पड़ने लगेंगे । इससे भी निर्यात कम होने लगते हैं ।

इसी प्रकार, सेवाओं के अत्यधिक आयात के कारण भी असाम्यता उत्पन्न हो सकती है । मुआवजा या दण्ड की पूर्ति के लिये जब अनिवार्य निर्यात किया जाता है तब भी अन्तर्राष्ट्रीय असाम्य उत्पन्न होकर विभिन्न देशों के सहज व्यापारिक सम्बन्धों को अस्त-व्यस्त कर देता है ।

भुगतान-संतुलन की असाम्यता को सुधारने के उपाय :

किसी देश में भुगतान संतुलन में लगातार 'असाम्यता' रहना नियमित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये तथा उस देश की अर्थ-व्यवस्था के लिये भी हानिकारक होती है । अतः सरकारों को उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये तथा साम्यता (Equilibrium) स्थापित करने के हेतु आवश्यक उपाय करने चाहिये । प्रतिकूल असाम्यता को निम्न उपायों द्वारा दूर किया जा सकता है :—

(1) निर्यात में वृद्धि :

भुगतान संतुलन की असाम्यता को दूर करने का सबसे महत्वपूर्ण तरीका व्यापार-संतुलन की प्रतिकूलता को ठीक करना है । इसके लिये निर्यात को प्रोत्साहित और (अथवा) आयात को हतोत्साहित करना पड़ता है । निर्यात को प्रोत्साहित करने के उपाय निम्न हैं :—(i) **उत्पादन लागत को कम करना**—उत्पादन लागत को कम करने के लिये उत्पादन सम्बन्धी साधनों के पुरस्कारों (मजदूरी, ब्याज, और लाभ) में कमी करनी होगी । (ii) **निर्यात-कर में कमी करना**—वस्तुओं के निर्यात-कर में कमी करके सरकार उनके निर्यात को प्रोत्साहित कर सकती है । (iii) **आर्थिक सहायता देना**—स्वदेशी उत्पादकों को आर्थिक सहायता देकर भी सरकार देश के निर्यात को बढ़ावा दे सकती है । आर्थिक सहायता मिलने से इन उत्पादकों की वस्तु की लागत कम हो जाती है जिससे वे इसका कम मूल्य रख सकते हैं, अर्थात् विदेशों में सस्ता बेच सकते हैं । इससे विदेशों में स्वदेशी वस्तु की माँग बढ़ जाती है तथा निर्यात प्रोत्साहित होते है ।

(2) आयातों में कमी :

यदि उक्त उपायों से निर्यातों में वृद्धि इतनी पर्याप्त न हो कि असाम्यता पूर्णतः सुधर सके, तो फिर निर्यातों में वृद्धि करने के प्रयासों के साथ ही साथ आयातों को कम करने के उपाय भी करने चाहिये । ये उपाय निम्न हैं :—(i) **आयात-कर लगाना अथवा उसमें वृद्धि करना**—आयात-कर लगाने या उसमें वृद्धि करने से विदेशी आयात वस्तुये मँहगी हो जायेंगी और फलस्वरूप उनका आयात घटने लगेगा । (ii) **आयात कोटा प्रणाली**—इस प्रणाली के निम्न रूप हैं—

(अ) **लाइसेन्स कोटा प्रणाली**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार कुछ गिने-चुने व्यापारियों को ही वस्तुओं के आयात करने की आज्ञा (लाइसेन्स) देती है । ये व्यापारी भी केवल वही वस्तुयें तथा इनकी वही मात्रा मँगा सकते हैं, जिसकी अनुमति सरकार ने दी है । किस वस्तु को तथा कितनी मात्रा में आयात करना चाहिये इसका निर्णय सरकार देश की परिस्थितियों के संदर्भ में करती है ।

(ब) **एकपक्षीय कोटा-प्रणाली** :—इस प्रणाली (Unilateral Quota System) में देश अपने आयातों पर ही प्रतिबन्ध लगाता है । यह

प्रतिबन्ध दो तरह का होता है – (क) सांसारिक कोटा (Global Quota), जिसमें सरकार प्रत्येक आयात-वस्तु की अधिकतम मात्रा निश्चित कर देती है और इसे किसी भी देश से मंगाया जा सकता है ; तथा, (ख) विभाजित कोटा (Allocated Quota), जिसमें सरकार द्वारा निश्चित अधिकतम मात्रा को केवल उन्हीं देशों से और उतनी ही मात्राओं में मंगाया जा सकता है, जिसे सरकार ने तय किया है ।

(ख) **द्विपक्षीय कोटा प्रणाली** : – इस प्रणाली (Bilateral Quota System) में सरकार केवल एक निश्चित मात्रा तक ही किसी देश से आयात करने की आज्ञा देती है और आयातकर्ताओं को इस सम्बन्ध में रियायती आयात-कर ही चुकाने पड़ते हैं । परन्तु उक्त मात्रा से अधिक आयात करने पर आयातकर्त्ताओं को दण्डस्वरूप अधिक आयात-कर देना पड़ता है ।

कोई देश अपने भुगतान-संतुलन को असमता को दूर करने के लिये अपनी विशेष परिस्थितियों के अनुसार उक्त एक या एक से अधिक रीतियां अपना सकता है ।

(3) स्वदेशी मुद्रा के बाह्य मूल्य का ह्रास करना :

भुगतान-संतुलन की असमता को सुधारने का एक अन्य महत्वपूर्ण उपाय स्वदेशी मुद्रा के वाह्य (विनिमय) मूल्य को ह्रासित (depreciate) करना है। इससे स्वदेशी वस्तुएं विदेशियों के लिये सस्ती हो जाती हैं। किन्तु इस उपाय से सफलता तब ही मिल सकती है जबकि विदेशी सरकारें उक्त नीति को स्वीकार कर लें। यदि विदेशी सरकारें उक्त नीति को स्वीकार नहीं करती हैं तथा प्रतिक्रिया स्वरूप अपनी मुद्राओं का मूल्य भी ह्रासित कर देती, हैं तो इस प्रतिस्पर्धात्मक-ह्रास के कारण प्रथम देश को कोई लाभ न हो सकेगा ।

(4) करेंन्सी का संकुचन :

असमता सुधार का तीसरा उपाय है मुद्रा का संकुचन करना (deflation of Currency) । इससे देश में सभी स्वदेशी वस्तुओं (घरेलू प्रयोग की वस्तुएँ व विदेशी व्यापार की वस्तुएँ) का मूल्य कम हो जाता है तथा विदेशी आयात-वस्तुएं मंहगी हो जाती हैं । फलस्वरूप निर्यात प्रोत्साहित और आयात हतोत्साहित होते हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि मुद्रा का संकुचन करना एक अच्छा उपाय नहीं है । जानबूझ कर देश में मूल्यों को कम करने से आर्थिक संकट आ जाने का डर है, क्योंकि मूल्य गिरने से उत्पादकों को हानि होती है, वे उत्पादन घटाने लगाते हैं, जिससे बेरोजगारी तथा मंदी की दशाएँ फैल जाती हैं । अतः मुद्रा संकुचन द्वारा भुगतान संतुलन की असमता को दूर करने के लिये बड़ी सावधानी की आवश्यकता है ।

(5) मुद्रा का अवमूल्यन :

मुद्रा के अवमूल्यन का अर्थ है विदेशी मुद्रा के रूप में उसका मूल्य कम

करना। अवमूल्यन का प्रभाव भी मूल्य-ह्रास के समान होता है अर्थात् विदेशी व्यापारी अपनी मुद्रा की पूर्ववत् मात्रा से अवमूल्यित देश में अब अधिक मात्रा में वस्तुएँ खरीद सकते हैं किन्तु अवमूल्यित देश के लोगों को विदेशों से वस्तुएँ खरीदने में पहले से अधिक मुद्रा व्यय करनी पड़ती है। इससे निर्यात प्रोत्साहित किन्तु आयात हतोत्साहित होते हैं, जिससे भुगतान संतुलन की असमता कम या समाप्त होने में सहायता मिलती है। परन्तु, स्मरण रहे कि अवमूल्यन की सफलता भी विदेशियों की अनुकूल प्रतिक्रिया एवं उनकी माँग की लोच पर निर्भर है।

(6) विनिमय नियंत्रण :

अवमूल्यन से देश की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचता है तथा बार-बार इस नीति को अपनाने से सट्टेबाजी भी बढ़ती है। मुद्रा-संकुचन में आर्थिक संकट उत्पन्न होने का डर है। मूल्य-ह्रास की नीति का प्रभाव भी स्थाई नहीं होता। इस नीति को तथा प्रणाली को अपनाने से प्रतिकार (Retaliation) का भय भी रहता है। अतः ये उपाय प्रायः कम अपनाये जाते हैं। वास्तव में, भुगतान संतुलन की विषमता के सुधार का सबसे अच्छा उपाय विनिमय-नियंत्रण (Exchange Control) ही है। 'विनिमय-नियंत्रण, की नीति के अन्तर्गत सरकार समस्त निर्यातकर्ताओं को आदेश देती है कि वे अपने विदेशी विनिमय सौदे केन्द्रीय बैंक के मारफत करें अर्थात् जो भी विदेशी विनिमय उन्हें प्राप्त हो उसे वे केन्द्रीय बैंक के सुपुर्द कर दें। केन्द्रीय बैंक इस प्रकार प्राप्त हुए विदेशी विनिमय को विभिन्न आयातकर्ताओं में बाँट देता है। इन आयातकर्ताओं को सरकार लाइसेन्स देती है। लाइसेन्स रहित व्यापारी आयात नहीं कर सकते। इस उपाय से आयातों पर नियंत्रण लगाकर भुगतान-संतुलन की असमता दूर हो जाती है।

निष्कर्ष—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहायता :

आज कल किसी देश का भुगतान-संतुलन साम्यावस्था में न होने पर वह असाम्यता को सुधारने में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी सहायता ले सकता है। यह संस्था विभिन्न देशों के भुगतान-संतुलनों की असमता को दूर करने के लिये उचित परामर्श देती है। इस दृष्टि से उसने भुगतान-संतुलन की असाम्यताओं को दो श्रेणियों में बाँटा है :—

(i) मौलिक असाम्यता (Fundamental disequilibrium) एवं

(ii) अस्थाई असाम्यता (Temporary disequilibrium)।

दोनों ही दशाओं में अलग-अलग उपचारों का परामर्श दिया जाता है। कोष के सदस्यों के लिये यह आवश्यक है कि वे अपने भुगतान संतुलन की असमता को दूर करने के हेतु कोई कदम उठाने के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहमति ले लें।

Q. 15. What do you understand by the term Dollar Gap, why does it exist today ? Suggest remedies.

'डॉलरों के अभाव' से आशय :

'डॉलरों के अभाव' (Dollar Gap) से आशय उसी कमी का है जो कि डॉलरों की पूर्ति में उनकी माँग की अपेक्षा अनुभव हो। अर्थात्, जब डॉलरों की पूर्ति उनकी माँग से बहुत कम पड़ जाय, तब ही 'डॉलर के अभाव' की समस्या उदय होती है। डॉलरों की पूर्ति तब उदय होती है जब कि अमेरिका खरीदता है या ऋण देता है तथा डॉलरों की माँग तब उदय होती है जब कि विदेशी राष्ट्र अमेरिका से वस्तुएँ मंगाते हैं या उसको ऋण देते हैं।

वर्तमान समय में 'डॉलरों' का अभाव क्यों :

जिस 'डॉलर के अभाव' का यहाँ विवेचन किया जा रहा है वह इस तथ्य का ही एक संक्षिप्त कथन मात्र है कि आधुनिक वर्षों में विश्व के बाजारों में डॉलरों की पूर्ति घटती जा रही है जब कि विभिन्न देशों में डॉलरों की माँग बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में, गत वर्षों में शेष सब संसार अमेरिका से अधिक खरीद रहा है, जब कि अमेरिका उससे कम खरीद रहा है या उधार दे रहा है। डॉलरों के प्रभाव की इस समस्या को स्टलिंग क्षेत्र के सन्दर्भ में बहुत अच्छी तरह से समझा जा सकता है। **द्वितीय विश्व युद्ध के पहले स्टलिंग क्षेत्र के देशों को स्वर्ण एवं डॉलर का कोई अभाव नहीं था** अपने आयातों के व्यय को निर्यातों की आय से पूरा कर लेते थे। यदि चालू खाते के व्यवहारों में स्टलिंग क्षेत्रों को उन देशों से जो कि उस वक्त डॉलर क्षेत्र में थे, कोई घाटा होता भी था, तो वह नई खानों से उनके स्वर्ण निर्यातों द्वारा पूरा हो जाता था। **किंतु युद्ध के बाद यह आश्चर्यजनक रूप से बदल गई।** दुर्लभ करेन्सियों की प्राप्ति एवं स्टलिंग क्षेत्र के व्यय में सन् 1947, 1948 एवं 1949 में क्रमश: 4,100 मि० डॉलर, 700 मि० डॉलर तथा 350 मि० डॉलर का घाटा रहा। **इस डॉलर संकट के प्रमुख कारण निम्नांकित थे :—**

(1) युद्ध कालीन परिस्थितियाँ :—डॉलर संकट की शुरूआत यद्यपि कुछ सीमा तक युद्ध के पूर्व से ही आरम्भ हो चुकी थी तथापि द्वितीय महायुद्ध ने उसे बढ़ाने में मदद की। अनेक देशों को युद्ध में भारी नुकसान उठाने पड़े और उन्हें अपने समुद्र पार की सम्पत्तियाँ व विनियोग भी बेच देने पड़े। इसके विपरीत, अमेरिका ने अपनी विदेशी सम्पत्तियाँ व विनियोग बहुत बढ़ा लिये और अपनी उत्पादन क्षमता में भी काफी वृद्धि कर ली। अत: जब युद्ध समाप्त हुआ, तो अमेरिका ने विश्व के अन्य देशों में अपने माल के लिये उससे कहीं अधिक तैयार बाजार पाया जो कि अमेरिका में अन्य देशों को मिला। अत: यह स्वाभाविक था कि अमेरिका ने विश्व को बहुत अधिक माल बेचा किन्तु खरीदा बहुत कम।

(2) ब्रिटेन के पुनर्निर्यात व्यापार में कमी :—डॉलर संकट में घी में अग्नि की तरह काम करने वाला एक घटक यह था कि ब्रिटेन को पुनर्निर्यात व्यापार से

होने वाली आय बहुत कम हो गई। युद्ध के पूर्व ब्रिटेन के निर्यात एवं पुनर्निर्यात उत्तरी एवं दक्षिणी अमेरिका से किये गये आयात का आधा मूल्य चुकता कर देते थे लेकिन 1947 में उन्होंने ¼ से भी कम भाग इस प्रकार चुकता किया।

(3) **स्वर्ण एवं रबड़ के मूल्यों में कमी** :—युद्धोत्तर काल में, स्टर्लिंग देशों के दुर्भाग्य से उनके दो मुख्य डॉलर-निर्यातों (रबड़ एवं सोना) का मूल्य अन्य वस्तुओं की तुलना में युद्ध पूर्व के वर्षों की अपेक्षा घट गया। इसका भी स्टर्लिंग-डॉलर भुगतान संतुलन पर गहरा असर पड़ा।

(4) **अदृश्य मदों पर घाटा** :—प्रतिकूल परिवर्तनों में जो कि युद्ध के पश्चात् घटित हुए, एक प्रतिकूल परिवर्तन वह घाटा भी था (लगभग 500 मि० डॉलर) जो कि अदृश्य मदों पर जैसे शिपिंग, बैंकिंग, बीमा आदि) प्रकट हुआ अर्थात् इन मदों से जितनी आय पहले होती थी वह न होकर इसमें नुकसान हुआ। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि ब्रिटिश तेल कम्पनियों के संचालन में अधिक व्यय हुए तथा ब्रिटेन शिपिंग से घटती हुई डॉलर आय प्राप्त हुई।

(5) **अमेरिका से प्रतिकूल व्यापार संतुलन** :—'डॉलर अभाव' का एक महत्वपूर्ण कारण अमेरिका से स्टर्लिंग क्षेत्र का व्यापार-संतुलन प्रतिकूल होना भी था। यही नहीं जो माल ब्रिटेन अमेरिका को बेचता था उसमें तो कीमतें लगभग दूनी हुईं किन्तु अमेरिका से आयात किये हुए माल का मूल्य कुछ ही अधिक (लगभग 10%) बढ़ा इसका अर्थ यह हुआ कि अमेरिका से आने वाले माल की वास्तविक लागत बढ़ गई।

(6) **अमेरिका में मंदी की लहर** :—कुछ समय के लिये युद्धोत्तर काल में अमेरिका में मन्दी की एक लहर आई, इसका भी डॉलर संकट पर बुरा ही प्रभाव पड़ा। इस लहर ने अमेरिका में औद्योगिक कार्यकलापों को मन्द कर दिया और अन्य देशों के माल के लिए अमरीकी मांग को घटा दिया। इसके विपरीत, शेष विश्व को जहां कि अभी भी तेजी की दशाएं विद्यमान थीं, अमेरिकी माल की आवश्यकता बढ़ती जा रही थी।

अतः डॉलर संकट इतना बढ़ गया कि कई बार ऐसा मालूम हुआ कि डॉलर देशों व गैर डॉलर देशों के बीच व्यापार सम्बन्ध टूट जायेंगे। इस भय के दो तात्कालिक कारण थे :—प्रथम, गैर डॉलर देश अमेरिका से डॉलर माल की खरीद न कर सकने के कारण वहां उत्पादन-क्षमता में जो प्रगति हो रही थी उसका लाभ नहीं उठा पा रहे थे, और, दूसरे, डॉलर संकट के कारण गैर-डॉलर देश आपस में ही व्यापार-सम्बन्ध बढ़ा रहे थे। उससे डॉलर-संकट में और भी वृद्धि हो गई थी।

डॉलर संकट को दूर करने के उपाय :

जब से उक्त डॉलर संकट सामने आया है तब ही से उसे कम करने के उपाय किये जा रहे हैं। नीचे ऐसे ही कुछ प्रमुख उपायों पर प्रकाश डाला गया है :—

(1) **गैर-डॉलर देशों द्वारा अपने उत्पादन में वृद्धि** :—गैर-डॉलर देशों को चाहिए कि अपने औद्योगिक उत्पादन में अधिक से अधिक वृद्धि जल्दी कर लें।

(2) डॉलर-आयातों में कटौती :—इसके साथ-साथ इन देशों की जनता ने बहुत ही राष्ट्रीय अनुशासन एवं संयम का पालन करते हुए (विशेषतः ब्रिटेन वासियों ने) यह प्रयास किया कि अपनी उन्नति के बदले में जो डॉलर साधन प्राप्त हों उन्हें राष्ट्रीय दृष्टिकोण से बहुत ही आवश्यक कार्यों में ही प्रयोग करें।

(3) डॉलर की तुलना में देशी करेंसियों का अवमूल्यन :—इतने पर भी, सन् 1949 में ब्रिटेन एवं अन्य बहुत से देशों ने भी अपनी करेन्सियों का अवमूल्यन कर दिया। डॉलर संकट के अलावा इस अप्रत्याशित कदम का एक अन्य प्रमुख कारण यह भी था कि विद्यमान विनिमय दरों पर (अर्थात् 1 पौं = 4·03 डालर) डॉलर क्षेत्र से स्वतन्त्र बाजार की वस्तुओं और सेवाओं की मांग उससे कहीं अधिक थी जो कि चुकाई जा सकती थी। अतः स्टर्लिंग व अन्य करेन्सियों का अवमूल्यन इसलिये किया गया ताकि अमेरिकन वस्तुओं व सेवाओं की मांग पर अंकुश लगे तथा स्वर्ण एवं डॉलर कोषों पर अधिक दबाव न पड़ने पाये।

(4) डॉलर में भुगतान न मांगने वाले देशों से व्यापार बढ़ाना :—डॉलर समस्या को हल करने का एक तरीका यह है कि उन देशों से आयात बढ़ाये जायें जो कि डॉलर में भुगतान न मांगें। यही कारण है कि ब्रिटेन ने स्टर्लिंग क्षेत्र के भीतर व बाहर अनेक देशों से द्विपक्षीय (Bilateral) व्यापारिक समझौते किये हैं।

(5) अमेरिका द्वारा भेंट, अनुदान सहायता कार्यक्रम आदि—डॉलर समस्या के कारण ही अमेरिका द्वारा विशाल मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय ऋण तथा अनुदान दिये गये हैं। यह भेंट अथवा सहायता मानवता, राजनैतिक सूझ-बूझ तथा आर्थिक कारणों से प्रेरित होकर दी जा रही है।

निष्कर्ष :

सन् 1950-51 तक तो डॉलर संकट भुगतान-सन्तुलन का सबसे गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न समझा जाता था लेकिन सौभाग्य से गत कुछ वर्षों में वह डॉलर संकट बहुत कम हो गया है। अतः वह अब गम्भीर प्रश्न नहीं है। युद्ध एवं युद्धोत्तर काल की समस्याओं को अब बहुत कुछ हल कर लिया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भी इस सम्बन्ध में पर्याप्त सुविधाएँ मिल रही हैं।

☞ Q. 16. Explain the causes and effects of fluctuations in the foreign rate of exchange. Can you suggest some corrections in this regard ?

विनिमय दरों में परिवर्तनों के कारण, इनके प्रभाव एवं उपचार

प्रारम्भिक :

विदेशी व्यापार आंतरिक व्यापार की तुलना में बहुत जटिल होता है। अलग-अलग देशों की अलग-अलग मुद्रायें होती हैं और प्रत्येक देश के निवासी अपने

देश की मुद्रा में भुगतान स्वीकार करते हैं। अतः यह समस्या पैदा हुई कि विदेशी भुगतान के लिये कौनसी मुद्रा प्रयोग में लाई जाय। स्वर्णमान के दिनों में यह समस्या अधिक जटिल नहीं थी क्योंकि तब प्रत्येक देश अपना भुगतान स्वर्ण में कर सकता था। लेकिन अब स्वर्णमान टूट चुका है, स्वर्ण का भेजना भी बहुत खर्चीला होता है तथा आजकल कोई भी देश अपना स्वर्ण-कोष इस तरह खाली करना पसंद नहीं करता। अतः स्वर्ण का प्रयोग तो अब लगभग बंद हो गया है और हमें आज अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रत्येक सौदे के लिये अपने देश की मुद्रा को विदेश की मुद्रा में बदलना पड़ता है।

'विनिमय दर' से आशय—'विनिमय दर, (Rate of Exchange) से आशय उस दर का है, जिस पर एक मुद्रा को किसी दूसरी मुद्रा में प्रगट किया जाता है। अन्य शब्दों में, विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं के विनिमय-अनुपात को प्रकट करती है। उदाहरण के लिये, यदि 1 पौंड के बदले में 20 रु० प्राप्त होते हैं, तो कहेंगे कि विनिमय दर 1 पौंड = 20 रु० है। यह विनिमय की **स्वाभाविक दर** है, जो स्वर्ण-मान देशों में, उनकी प्रामाणिक मुद्राओं के विरुद्ध स्वर्ण के अनुपात से तथा अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा मान देशों में, दोनों देशों के परस्पर मूल्य स्तर के अनुपात से निश्चित होती है। परन्तु **वास्तविक** दर जो किसी समय विनिमय बाजार में प्रचलित रहती है, उक्त अनुपात या समता से विभिन्न व्यापारिक एवं मौद्रिक प्रभावों के कारण कभी कम और कभी अधिक होती रहती है।

विनिमय दर में परिवर्तनों के कारण :

प्रत्येक देश के मुद्रा अधिकारी का यह उद्देश्य होता है कि दीर्घकाल में विनिमय दर स्थिर रहे। लेकिन जिस प्रक्रिया द्वारा यह दीर्घकालीन विनिमय-स्थिरता प्राप्त होती है वह विभिन्न मुद्रा-मानों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न है। उदाहरण के लिये, स्वर्ण या परिवर्तन शील अ—स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय स्थिरता टकसाली विनिमय समता की युक्ति द्वारा प्राप्त होती है जब कि अपरिवर्तनशील पत्र चलन के अन्तर्गत यह क्रय-शक्ति समता की टेक्नीक के द्वारा प्राप्त होती है। **जब कि दीर्घकाल में समता स्थापित हो सकती है, तब यह सम्भव नहीं है कि अल्पकाल में भी विनिमय दर स्थिर रहे, क्योंकि जो घटक विनिमय दरों पर दीर्घकालीन में प्रभाव डालते हैं वे उन घटकों से भिन्न हैं जो कि अल्पकाल में प्रभाव डालते हैं।** चाहे दीर्घकालीन समता स्वर्णमान की भांति टकसाली समता हो या अपरिवर्तनशील पत्रमान की भांति क्रय-शक्ति समता हो, विदेशी विनिमय दर के दीर्घकालीन या आदर्श सन्तुलन पर अल्पकाल में अनेक घटकों का प्रभाव पड़ता है, जिन्हें निम्न प्रकार वर्गित किया जा सकता है :—

(I) विदेशी मुद्रा की मांग एवं पूर्ति :

विनिमय-दरों के निर्धारण में विदेशी मुद्रा (या इसके मिलों) की मांग और पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों का बहुत हाथ रहता है। जब कभी इनमें परिवर्तन हो जाता

है तो विनिमय-दर भी परिवर्तित हो जाती है। किन्तु विदेशी मुद्रा की मांग और पूर्ति भी 4 कारणों से प्रभावित होती है :—

(1) **व्यापारिक कारण**—यदि देश के निर्यात इसके आयात से अधिक हैं, तो देश की मुद्रा की मांग इसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जायेगी और फलत: विनिमय-दर देश के पक्ष में हो जायेगी अर्थात् देशी मुद्रा अपने बदले में अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त करने लगेगी इसके विपरीत, यदि आयात देश के निर्यात से अधिक हों, तो विदेशी मुद्रा की मांग इनकी पूर्ति को अपेक्षा अधिक होगी, विनिमय-दर देश के प्रतिकूल हो जायेगी और देशी मुद्रा बदले में कम विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकेगी।

(2) **स्टाक विनिमय सम्बन्धी प्रभाव**—यदि हम विदेशों में प्रतिभूतियां खरीदते हैं, तो विक्रेताओं को विदेशी मुद्रा देने के लिए इसकी मांग बढ़ जाती है और यदि विदेशी हमारे देश में प्रतिभूतियां खरीद रहे हैं, तो उन्हें हमारा भुगतान करने के लिए देशी मुद्रा जुटानी पड़ेगी, जिससे विदेशी मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग की अपेक्षा बढ़ जाती है। प्रथम दशा में विनिमय दर हमारे प्रतिकूल और दूसरी दशा में हमारे अनुकूल हो जायेगी। ऋण, ब्याज व लाभांश सम्बन्धी लेन-देन भी विदेशी मुद्रा की मांग को प्रभावित करके विनिमय दर में प्रतिकूल अन्तर ला देते हैं।

(3) **बैंकिंग कारण**—(i) **बैंकों द्वारा विदेशी बिलों अथवा यात्रियों के साख-पत्रों का क्रय-विक्रय** करने से पूंजी का एक देश से दूसरे देश को हस्तांतरण होता रहता है। यदि पूंजी विदेशों को जा रही है, तो विनिमय-दर हमारे विपक्ष में और यदि विदेशों में आ रही है, तो विनिमय-दर हमारे पक्ष में हो जाती है। (ii) **बैंक दर में घटा-बढ़ी** होने का भी पूंजी के आवागमन पर और इसके द्वारा विदेशी मुद्रा की मांग पूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। बैंक दर की वृद्धि से पूंजी आने लगती है और बैंक दर में कमी होने पर विदेशी पूंजी जाने लगती है क्योंकि भारत में उसका प्रयोग लाभदायक नहीं रहता।

मौद्रिक कारण—मुद्रा सम्बन्धी निम्न स्थितियों का भी विनिमय-दर पर प्रभाव पड़ता है—(i) **मुद्रा प्रसार** होने पर पूंजी विदेशों को जाने लगती है क्योंकि मुद्रा-प्रसार से मुद्रा का अवमूल्यन हो जाता है अर्थात मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है जिससे विनिमय-दर देश के प्रतिकूल हो जाती है। (ii) **मुद्रा संकुचन** होने पर विदेशी लाभ के लोभ में देशी मुद्रा को खरीदने लगते हैं। इससे देश की मुद्रा का मूल्य विदेशी मुद्रा के रूप में बढ़ जाता है। (iii) **मुद्रा मान का प्रकार**—यदि देशों में स्वर्ण-मान है तो विनिमय-दर के परिवर्तन स्वर्ण-बिन्दुओं से मर्यादित होंगे और यदि अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रामान है, तो ऐसे देशों में उतार-चढ़ावों की कोई सीमा नहीं होती है।

(II) राजनैतिक परिस्थितियाँ :

राजनैतिक परिस्थितियाँ भी विनिमय-दर पर प्रभाव डालती हैं। इनमें निम्न का समावेश है :—

(1) संरक्षण नीति—सरकार देशी उद्योगों को संरक्षण देकर आयात को संकुचित और निर्यात की वृद्धि करती है, जिससे भुगतान संतुलन देश के अनुकूल होकर विनिमय-दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(2) युद्ध व शान्ति—देश में शान्ति होने पर सरकार स्थायी, निष्पक्ष एवं कुशल होने पर विदेशियों में विश्वास जमता है और वे अपनी पूँजी देशी उद्योगों के विकास में लगाते हैं, जिससे विनिमय दर पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) वित्त नीति—यदि सरकार अपने बजट में घाटे की अर्थ-व्यवस्था अपनाती है, तो विनिमय-दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, क्योंकि देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(4) विनिमय नियंत्रण-- सरकार या केन्द्रीय बैंकें विनिमय नियंत्रण के विभिन्न साधन अपना कर विनिमय-दर को प्रभावित करती रहती हैं।

अनुकूल एवं प्रतिकूल विनिमय दरें तथा उनके प्रभाव :

विनिमय दर हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल इस पर विचार करने के लिए हमें यह जानना चाहिये कि विनिमय दर स्वदेश की मुद्रा में प्रकट की जा रही है या विदेश की मुद्रा में।

जब किसी देश में विनिमय-दर स्वदेश की मुद्रा में प्रगट की जाय, तो गिरती हुई या कम होती हुई अथवा नीची विनिमय-दर स्वदेश के पक्ष में और बढ़ती हुई या ऊँची विनिमय की दर स्वदेश के विपक्ष में होती है। उदाहरण के लिये 1 पौंड = 15 रु० है। यदि विनिमय दर घटकर 1 पौं० = 12 रु० हो जाय तो यह हमारे लिये अनुकूल है, क्योंकि अब हमें एक पौंड का माल खरीदने के लिये पहले से कम स्वदेशी मुद्रा देनी पड़ती है। यदि यह दर बढ़कर 1 पौंड = 20 रु० हो जाय, तो विनिमय दर देश के प्रतिकूल कही जायेगी, क्योंकि अब 1 पौंड का माल खरीदने के लिए पहले से अधिक स्वदेशी मुद्रा देनी पड़ती है।

जब किसी देश में विनिमय दर विदेश की मुद्रा में प्रगट की जाती है, तो बढ़ती हुई विनिमय दर स्वदेश के पक्ष में और गिरती हुई विनिमय दर स्वदेश के विपक्ष में होती है। मान लो कि आज 1 रु० = 21 सैंट है। यदि यह दर 1 रु० = 30 सैंट हो जाय, तो यह विनिमय दर देश के पक्ष में होगी, क्योंकि अब पहले की तुलना में 1 रु० से अधिक विदेशी माल से खरीदा जा सकता है। यदि उक्त दर 1 रु० = 15 सैंट हो जाय, तो विनिमय दर देश के प्रतिकूल कहलायेगी, क्योंकि अब पहले की तुलना में कम विदेशी माल खरीदा जा सकता है।

अनुकूल एवं प्रतिकूल दरों का विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न रूप से प्रभाव पड़ता है :—

(अ) अनुकूल विनिमय दर से (अर्थात् जबकि देशी मुद्रा के बदले अधिक विदेशी माल खरीदा जा सकता हो) आयात को प्रोत्साहन एवं निर्यात को निरुत्साहन

होता है, आयातकर्ताओं व उपभोक्ताओं को लाभ तथा निर्यातकर्ताओं एवं उत्पादकों को हानि होगी व इससे बेरोजगारी फैलेगी।

(ब) **प्रतिकूल विनिमय दर** से (जबकि स्वदेशी मुद्रा के बदले पहले की अपेक्षा कम विदेशी माल मिल सकता है) निर्यात उत्साहित एवं आयात हतोत्साहित होते हैं, निर्यातकर्ताओं व उत्पादकों को लाभ तथा आयातकर्ताओं व उपभोक्ताओं को हानि होने लगती है व श्रमिकों का रोजगार बढ़ता है।

स्पष्ट है कि किसी समय पर विनिमय दर को अनुकूल या प्रतिकूल कहना स्वयं में एक विरोधाभास है, क्योंकि प्रत्येक दर से देश में यदि एक वर्ग को लाभ पहुंचता है तो दूसरा वर्ग हानि उठाता है।

निष्कर्ष :

विनिमय-दर के उतार-चढ़ावों से व्यापार-व्यवसाय को बहुत क्षति पहुंचती है। भावी हानि से बचने के लिये व्यापारी अग्रिम विनिमय के ठहराव करके अपनी रक्षा करने का प्रयास करते हैं। इन ठहरावों के अन्तर्गत वे किसी सटोरिये से किसी भावी तिथि पर वर्तमान विनिमय-दर से विदेशी-मुद्रा खरीदने (या बेचने) का वचन ले लेता है। विनिमय-दर में चाहे कितना भी परिवर्तन हो जाय, उसे विदेशी मुद्रा के बदले पूर्व निश्चित रकम ही भारतीय मुद्रा में देनी पड़ती है।

☞Q. 17. "The price of a currency is determined, just as the price of anything else, by the relative strength of the demand for and supply of that currency in the foreign exchange market." Discuss.

विनिमय दर का निर्धारण मांग और पूर्ति के संतुलन द्वारा

विनिमय समता :

एक साधारण वस्तु की भांति विदेशी विनिमय की दर **मांग एवं पूर्ति की शक्तियों के संतुलन द्वारा** निश्चित होती है। यदि इस संतुलन में अन्तर पड़ जाय, तो विनिमय दर भी परिवर्तित हो जायेगी। विदेशी विनिमय अर्थात् **विदेशी मुद्रा की मांग** उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जो विदेशों से प्राप्त वस्तुओं व सेवाओं का भुगतान करना चाहते हैं, जबकि **विदेशी मुद्रा की पूर्ति** उन व्यक्तियों द्वारा की जाती है जिन्होंने वस्तुओं व सेवाओं के निर्यात द्वारा या विदेशी पूंजी के आयात द्वारा विदेशी मुद्रा पर अधिकार प्राप्त कर लिया है। **जब विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति के बराबर होती है, तो विनिमय की दर में समता (Parity) होती है।** विनिमय की इस दर को **'विनिमय समता' (Parity of Exchange)** कहा जाता है।

यदि विदेशी मुद्रा की मांग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाय (**अथवा देशी मुद्रा की पूर्ति इसकी मांग से अधिक है), तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊंचा जायेगा**

(अर्थात् देशी मुद्रा का मूल्य समता से नीचा हो जायेगा)। अन्य शब्दों में, विदेशी मुद्रा या इसके बिलों को खरीदने के लिये हमें अधिक देशी मुद्रा देनी पड़ेगी। यदि विदेशी मुद्रा (या इसके बिलों) की माँग इसकी पूर्ति से कम हो जाय (अर्थात् देशी मुद्रा की मांग इसकी पूर्ति से अधिक हो), तो विदेशी मुद्रा का मूल्य समता से कम हो जायेगा (अर्थात् देशी मुद्रा का मूल्य समता से ऊँचा हो जायेगा।) अन्य शब्दों में, अब विदेशी मुद्रा या इसके बिलों को खरीदने के लिये हमें पहले की अपेक्षा कम देशी मुद्रायें देनी पड़ेंगीं।

विनिमय दर 'समता' से कितनी कम या अधिक हो सकती है ?

स्पष्ट है कि विदेशी मुद्रा की माँग एवं इसकी पूर्ति में असंतुलन होने से विनिमय-दर 'समता' (Parity or Par) ऊपर-नीचे जा सकती है। समता से ऊपर उठने या नीचे गिरने की कोई सीमा है या नहीं, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है, जिसका उत्तर देने के लिये हमें विभिन्न मौद्रिक परिस्थितियों पर पृथक-पृथक विचार करना होगा, जो कि निम्नलिखित हैं :—

(i) जबकि दोनों देश स्वर्णमान पर हों।
(ii) जबकि एक देश स्वर्णमान पर और दूसरा रजतमान पर हो।
(iii) जबकि एक देश स्वर्णमान (या रजतमान) पर और दूसरा पत्र मान पर हो।
(iv) जबकि दोनों देश पत्र मुद्रा मान पर हों।

(i) जब दो देशों में स्वर्णमान हो—जब दो देशों में स्वर्णमान हो, तो 'विनिमय समता' (Parity of Exchange) इनके प्रमाणित सिक्कों की विशुद्ध स्वर्ण की समानता स्थापित करके प्राप्त की जाती है। इसे 'टंक समता दर' (Mint Par of Exchange) कहते हैं। स्वर्णमान देशों में विनिमय-दर की दीर्घकालीन प्रवृत्ति टंक समता के बराबर हो जाने की होती है लेकिन वास्तविक जीवन में बिलों की माँग एवं पूर्ति के परिवर्तनों से वह टंक समता से ऊपर-नीचे हो जाती है। किन्तु ये **उतार-चढ़ाव असीमित नहीं होते, वरन् उन दो सीमाओं के बीच होते हैं जो कि उच्चतम और निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं द्वारा निर्धारित होती है।** हाँ, असाधारण समय में, जबकि सोने का आयात-निर्यात नहीं होने पाता, विनिमय दर इन सीमाओं का उल्लंघन कर सकती है।

(ii) स्वर्णमान और रौप्यमान देशों के बीच—विनिमय दर निर्धारित करने के लिए पहले स्वर्णमान वाले देश की प्रमाणित मुद्रा में विशुद्ध सोने की मात्रा ज्ञात की जाती है। इसी प्रकार रजत मान वाले देश की प्रमाणिक मुद्रा में विशुद्ध चाँदी की मात्रा ज्ञात करते हैं। फिर भी चाँदी के स्वर्ण मूल्य के आधार पर, जो कि सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है, दोनों मुद्राओं की तुलना करके उनका अनुपात निकाल लेते हैं। यही उन देशों के बीच 'टंक समता दर' है। व्यवहार में विनिमय

दर इसके ऊपर-नीचे घूमती रहती है और उच्चतम एवं निम्नतम स्वर्ण बिन्दुओं के बीच ही सीमित रहती है ।

(iii) **स्वर्णमान (या रजत मान) एवं पत्र मान देशों के बीच**—इन देशों के बीच 'टंक समता दर' इस बात से निश्चित होती है कि दोनों देशों में मुद्रायें कितना-कितना सोना (या चाँदी) खरीद सकती हैं । स्वर्णमान (या रजतमान) देश में सोने का मूल्य सरकार द्वारा निश्चित होता है, पत्र-मान देश में सोने का मूल्य बाजार में समय-समय पर बदलता रहता है । अतः स्वर्णमान वाले देश के लिए एक उच्चतम सीमा (स्वर्ण निर्यात बिन्दु) अवश्य होती है लेकिन निम्नतम सीमा (स्वर्ण आयात बिन्दु) कोई नहीं होती । इसी प्रकार, पत्र-मान देश के लिए निम्नतम सीमा तो होती है लेकिन उच्चतम सीमा नहीं होती है ।

(iv) **पत्र मुद्रा मान वाले देशों के बीच**—दो पत्र मुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय दर उक्त परिस्थितियों की तरह स्वर्ण बिन्दुओं से मर्यादित नहीं होती है, क्योंकि इनकी मुद्राओं का सम्बन्ध किसी धातु से नहीं होता । अतः यदि किसी देश का आयात दूसरे देशों से अधिक हुआ है, तो उसे अन्तर की पूर्ति के लिए स्वर्ण का निर्यात करना होगा । यही कारण है कि कभी-कभी कहा जाता है कि किसी देश के निर्यात ही उसके आयात का भुगतान करते हैं । क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त के अनुसार दो पत्र मुद्रा मान वाले देशों के बीच विनिमय दर उसी आन्तरिक क्रय-शक्ति के भाग फल (Quotient) पर निर्भर रहती है । यदि किसी देश में मुद्रा की शक्ति बढ़ जाती है तो उस देश की मुद्रा के विनिमय की दर भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है और क्रय-शक्ति के घटने पर विनिमय दर घट जाती है । अन्य शब्दों में क्रय-शक्तियों की समानता द्वारा विनिमय समता निर्धारित होती है । इस दशा में 'विनिमय समता' (Parity of Exchange) को क्रय-शक्ति समता (Purchasing Power Parity) कहते हैं । यह समता स्थिर नहीं है, वरन् विभिन्न देशों के सामान्य मूल्य-स्तरों के परिवर्तन के साथ घटती-बढ़ती रहती है ।

☞ **Q. 14. Critically examine the theory of purchasing power parity.** **(Vikram, M. A., 1963)**

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त

दो देशों के बीच, जहाँ पर पत्र मुद्रामान प्रचलित हों, विनिमय दर के निर्धारित होने के लिये एक नवीन सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, जिसे 'क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त' कहते हैं । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्टॉकहोम विश्वविद्यालय (स्वीडन) के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री श्री गस्टव कैसिल ने किया था ।

सिद्धान्त की व्याख्या :

कैसल (Cassel) के क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त के अनुसार, दो करेन्सियों

के बीच विनिमय दर उनकी क्रमिक क्रय-शक्तियों के अनुपातानुसार तय होती है, अर्थात् विनिमय दर उस बिन्दु पर स्थिर हो जाती है, जहां दोनों करेंन्सियों की क्रय शक्तियों की समानता हो। उदाहरण के लिये, एक निश्चित मात्रा में वस्तुयें और सेवायें दो देशों (जैसे इङ्गलैंड और अमेरिका) में क्रमश; 100 पौंड और 500 डालर में खरीदी जा सकती है। ऐसी स्थिति में 500 डालर की क्रय-शक्ति 100 पौंड की क्रय-शक्ति के बराबर है अर्थात् 100 पौंड = 500 डालर या 1 पौंड = 5 डालर हुआ।

दीर्घकाल में विनिमय दर क्रय-शक्ति समता के बिन्दु पर स्थिर हो जाने की प्रवृत्ति दिखलाती है लेकिन अल्प काल में; मांग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने से, यह क्रय-शक्ति समता से भिन्न रह सकती है। यह बात नीचे समझाई गई है :—

मान लीजिये कि दो देशों में मूल्यस्तर तो अपरिवर्तित रहते हैं किन्तु विनिमय दर बढ़ कर 1 पौंड = 5·5 डालर हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि पौंड की क्रय-शक्ति डालर की अपेक्षा बढ़ गई है। अब लोग इस दर पर पौंड को डालरों में बदलने लगेंगे तथा फिर डालरों की सहायता से अमेरिका में 5 डालर का उतना ही माल (जितना कि इङ्गलैंड में 1 पौंड से खरीदा जाता) खरीदकर प्रति पौंड ½ डालर बचा लेंगे। इङ्गलैंड के लोगों की इस प्रवृत्ति के कारण इङ्गलैंड में डालरों की मांग बढ़ जायेगी जबकि वहां डालरों की पूर्ति कम होगी, क्योंकि इङ्गलैंड से अमेरिका को निर्यात कम हो जायेंगे। फल यह होगा कि पौंड के रूप में डालरों का मूल्य पुनः बढ़ने लगेगा और तब तक बढ़ता रहेगा जब तक कि वह समता पर (अर्थात् 1 पौंड = 5 डालर) न पहुंच जाय। इसके विपरीत, यदि इङ्गलैंड में कीमतें 100% बढ़ जायें जबकि अमेरिका में अपरिवर्तित रहें, तो 1 पौंड = 2·5 डालर होगा, क्योंकि अब 2 पौंड से इङ्गलैंड में उतनी ही वस्तुयें व सेवायें खरीदी जा सकती हैं कि जितनी पहले 1 पौंड द्वारा खरीदी जा सकती थीं। यदि दोनों ही देशों में कीमतें दूनी हो जायें, तो, 'समता दर' में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

यही संक्षेप में क्रय-शक्ति समानता का सिद्धान्त है। प्रोफेसर कीन्स ने इसकी निम्न शब्दों में व्याख्या की है "दो करेंन्सियों के बीच विदेशी विनिमय दर उसी प्रकार से परिवर्तित होती रहती है जिस प्रकार से कि अन्तर्राष्ट्रीय निर्देशांक घटता बढ़ता है।"[1] दूसरे शब्दों में, इस सिद्धान्त का आशय यह है कि विनिमय दरों के परिवर्तन विभिन्न देशों में मुद्रा की क्रय-शक्ति के परिवर्तनों को सूचित करते हैं।

क्रय-शक्ति समता स्थिर नहीं—टकसाली समता और क्रय-शक्ति समता के बीच अन्तर यह है कि जबकि टकसाली समता स्थिर होती है, तब क्रय-शक्ति समता परि-

1. The rates of foreign exchange between two currencies move in the same way as the ratio of an International index expressed in the prices of one currency of the same Index expressed in the prices of the other country."
—*F. M. Keynes.*

वर्तित होती रहती है अर्थात् वह सम्बन्धित देशों के मूल्य स्तरों में होने वाले परिवर्तन होते रहेंगे किन्तु इन परिवर्तनों की कुछ सीमायें हैं। ये सीमायें एक देश से दूसरे देश को माल भेजने के यातायात व्यय द्वारा निर्धारित होती हैं। हाँ, इनमें उतनी निश्चित नही होती है जितनी कि स्वर्ण बिन्दु सीमाओं में होती हैं।

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की आलोचना :

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त की कई आलोचनायें की गई हैं और यह कहा गया है कि वह विनिमय दर के निर्धारण एवं इसके परिवर्तनों की संतोषजनक व्याख्या नहीं करता। प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(1) करेन्सियों की क्रयशक्ति और विनिमय दर में कोई प्रत्यक्ष और निश्चित सम्बन्ध नहीं होता— किन्तु क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त ऐसी ही धारणा रखता है, जो कि गलत है। विनिमय दरों पर करेन्सियों की क्रय-शक्ति के अतिरिक्त अन्य अनेक घटकों का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये, उन पर प्रशुल्क नीतियों का प्रभाव पड़ता है। यदि कोई देश अपने आयातों पर कर लगा दे और दूसरा देश ऐसा नहीं करे, तो करेंसी का विनिमय मूल्य टैरिफ लगाने वाले देश के पक्ष में बढ़ जायगा जबकि वहाँ मूल्य-स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यही परिणाम तब भी होगा जबकि विनिमय दर पहले के समान बनी रहे किन्तु मूल्य-स्तर बढ़ जाय। दोनों ही दशाओं में करेंसी का बाह्य मूल्य उसके आन्तरिक मूल्य से अधिक होगा। इस प्रकार स्वदेश की करेंसी को विदेशी करेंसी में बदल कर उस विदेशी देश में अपने देश की अपेक्षा अधिक माल खरीदा जा सकता है।

(2) घरेलू व्यापार के माल और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माल में अन्तर नहीं किया गया है—क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त दोनों देशों के सामान्य मूल्य-स्तरों को विचार में लेता है तथा घरेलू व्यापार के माल के मूल्य-स्तर और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मूल्य-स्तर में कोई भेद नहीं करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुओं के मूल्य विभिन्न देशों में लगभग समान ही रहते हैं। हाँ, थोड़ी सी छूट यातायात व्यय के लिये दे दी जानी चाहिये। जब हम कहते हैं कि विनिमय-दर मूल्य-स्तरों की सापेक्षिक उच्चता पर निर्भर करती है, तो हमें मूल्य-स्तर की व्याख्या करते समय सभी प्रकार के व्यापारिक माल को विचार में लेना पड़ता है। कीमतों के परिवर्तनों को निर्देशांकों द्वारा नापा जा सकता है। यदि हम थोक विक्रय निर्देशांकों की सहायता से क्रय-शक्ति तुल्यता निकालें, तो निर्मित माल, सेवाएँ व अन्य अदृश्य निर्यात छूट जाएँगे। इसके विपरीत, यदि रहन-सहन के निर्देशांक प्रयोग किये जायें, तो बहुत सी ऐसी वस्तुएं भी सम्मिलित हो जायेंगी, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हम मजदूरी की दरों के निर्देशांक लें, तो ऐसा करना अधिक संतोषजनक होगा क्योंकि मजदूरियाँ सभी वस्तुओं के लागत व्यय का महत्वपूर्ण भाग होती हैं। लेकिन यहाँ पर एक कठिनाई यह है कि श्रम की कुशलता सब देशों में भिन्न-भिन्न

होती है। हो सकता है कि अल्पकाल में, घरेलू माल की कीमतें एक ही दिशा में प्रगति नहीं करें, अतः यह सिद्धान्त केवल दीर्घकाल के लिये ही लागू होता है। लेकिन व्यावहारिक जगत के लिये दीर्घकाल की अपेक्षा अल्पकाल अधिक महत्वपूर्ण है। यही नहीं, एक देश में बेची जाने वाली ऐसी अनेक वस्तुएँ व सेवाएं होती हैं जो कि अन्य देशों में बिकने वाली वैसी ही वस्तुओं और सेवाओं से कोई प्रतियोगिता नहीं करती हैं। उदाहरण के लिये, भारत में मकानों की अमेरिका में मकानों से कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। इसके अलावा यातायात व्यय और व्यापारिक प्रतिबन्धों के कारण एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तु का मूल्य भी (जबकि उसे उनकी क्रमिक करैंसियों में व्यक्त किया जाय) विभिन्न देशों में समान होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार की मूल्य तुलना से यह प्रकट होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वस्तुएँ प्रत्येक बाजार में एक ही कीमत पर नहीं बिकती हैं वरन् आयात करने वाले देश में प्रीमियम पर तथा निर्यात करने वाले देश में डिस्काउन्ट पर बिकती हैं।

(3) विनिमय दर भी आन्तरिक मूल्य-स्तर को प्रभावित करती है:—कैसल के सिद्धान्तों के अनुसार मूल्य-स्तरों के परिवर्तन विनिमय-दरों में परिवर्तन उत्पन्न कर देते हैं लेकिन विनिमय-दरों के परिवर्तन मूल्य-स्तर पर कोई प्रभाव नहीं डालते। अर्थात् परिवर्तनों का प्रभाव एकपक्षीय होता है। किन्तु वास्तव में विनिमय दरों के परिवर्तन भी मूल्य-स्तर पर प्रभाव डाल सकते हैं। उदाहरण के लिये, यदि सट्टे की प्रकृति के विशाल पूंजी-आवागमन पौंड के मूल्य को कम कर देंगे और यह गिरावट कई महीनों तक जारी रहे, तो ग्रेट ब्रिटेन में आयात महँगे हो जायंगे। ऐसी दशा में अमेरिकन गेहूँ या अन्य वस्तुएँ खरीदने के लिये इङ्गलैंड को अब पहले से अधिक पौंड देने पड़ेंगे। ब्रिटिश उद्योग अधिकांशतः आयातित कच्चे माल पर निर्भर होते हैं। चूंकि आयातित कच्चा माल अब मँहगा हो गया है इसलिये उसके निर्मित माल का मूल्य भी बढ़ जायगा। इसी प्रकार, ब्रिटिश निर्यात विदेशी मुद्रा के रूप में सस्ते हो जायेंगे, जिससे उनकी माँग बढ़ जायेगी। परिणामतः ब्रिटिश निर्यातकर्त्ता उनके मूल्य बढ़ा देंगे। यदि उन्होने अवमूल्यन की सीमा तक ही मूल्य बढ़ाया, तो उनके लाभों में वृद्धि हो जायगी और साथ ही उनके निर्यातों पर बुरा प्रभाव भी नहीं पड़ेगा। किन्तु निर्यातों के मूल्य बढ़ाये जाने पर भी विदेशी देशों में वे पहले से अधिक सस्ते होंगे। इस प्रकार पौंड का मूल्य गिरने से ब्रिटिश मूल्य-स्तर ऊँचा हो जाता है। यहीं बस नहीं है, पौंड का मूल्य-ह्रास होने से, विदेशी बाजारों में ब्रिटिश निर्यात उद्योगों की सापेक्षिक प्रतिस्पर्धा शक्ति बढ़ जाती है जिससे अन्य देश भी अपने बाजार कायम रखने के लिये मूल्य कम करेंगे। इस प्रकार पौंड का मूल्य गिरने से न केवल ब्रिटेन में वरन् अन्य विदेशी देशों में भी मूल्य-स्तर कम हो जायंगे।

(4) विनिमय दरों के परिवर्तन का विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों पर पृथक-पृथक प्रभाव पड़ता है—यदि एक देश बहुत अधिक मात्रा में उपभोक्ता माल मँगाता है और अपने साधनों का बहुत अधिक भाग निर्यात का माल उत्पन्न करने में

लगाता है, तो मूल्य-स्तर पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। विनिमय दर के परिवर्तन आयात और निर्यात दोनों ही वस्तुओं की कीमतों पर प्रभाव डालेंगे और जब आयात-निर्यात में अधिकांश प्रकार की वस्तुएँ सम्मिलित हों, तो सामान्य मूल्य-स्तर में परिवर्तन अनुपातिक रूप से अधिक होंगे। इस प्रकार विनिमय दर के किसी विशेष परिवर्तन का हालैंड व इंगलैंड जैसे देशों के मूल्य-स्तर पर बहुत प्रभाव पड़ेगा क्योंकि उनके विदेशी व्यापार में भारत अथवा रूस के विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के कुल व्यापार का एक बहुत बड़ा भाग सम्मिलित है। अतः यद्यपि विनिमय दरों के परिवर्तन विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों पर विभिन्न प्रभाव डालते हैं तथापि यह स्पष्ट है कि उनका प्रभाव कुछ न कुछ तो अवश्य ही पड़ता है। क्रय शक्ति समता सिद्धान्त में इस तथ्य को भुला देना वास्तव में आपत्तिजनक है।

(5) **अन्य अव्यापारिक स्रोतों से उत्पन्न होने वाली विदेशी विनिमय सम्बन्धी माँग पर ध्यान नहीं दिया गया है।** यह भी क्रय-शक्ति समता के सिद्धान्त के विरुद्ध गम्भीर आलोचना का एक आधार रहा है। यह एक वास्तविक तथ्य है कि दीर्घकालीन विनियोग, ब्याज व लाभांश के हस्तांतरण और अल्पकालीन पूंजी विनियोग भी लेनी-देनी (Debits and Credit) की समस्या उत्पन्न करते हैं तथा विदेशी मुद्रा बाजार पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। अतः विनिमय दर केवल 'व्यापार के संतुलन' से सम्बन्धित शक्तियों द्वारा ही नहीं वरन् 'भुगतानों के संतुलन' से सम्बन्धित सभी शक्तियों के द्वारा निर्धारित होती है। अतः क्रय-शक्ति समानता सिद्धांत विनिमय दरों के निर्धारण का पूर्ण स्पष्टीकरण करने से असमर्थ है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त का महत्व व्यावहारिक :

यद्यपि क्रय-शक्ति तुल्यता के आधार पर पत्र मुद्रामान वाले देशों के बीच विनिमय दरों के निर्धारण में कठिनाइयां हैं तथा कई ऐसे अवसर आते हैं जबकि इस प्रकार का निर्धारण उपयोगी हो सकता है :—(1) अस्थिर और परिवर्तनशील विनिमय-दरों के काल में, यह उन सीमाओं का अनुमान प्रदान करती है जिसके बीच वास्तविक विनिमय दर संतुलन-दर से घटती-बढ़ती रहेगी (2) जब विनिमय दर को स्थायी रखने के उद्देश्य से आवश्यक कदम उठाना हो, तो क्रय-शक्ति तुल्यता की गणना के द्वारा यह मालूम किया जा सकता है कि सबसे उचित दर कौनसी होगी, विशेषतः उस दशा में जबकि आन्तरिक मूल्य स्फीति विनिमय-दरों की अस्थिरता का एक मुख्य कारण हो। यद्यपि ऐसी गणनायें बहुत अनुमानित होंगी तथा वे हमें उचित विनिमय-दर के सम्बन्ध में निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचने में सहायता करती हैं।

आधुनिक वर्षों में विदेशी विनिमय की दरों के निर्धारण के लिये एक नये सिद्धान्त की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। वह है 'भुगतानों के संतुलन का सिद्धान्त' (Theory of Balance of Payments) इस सिद्धांत के अनुसार विदेशी विनिमय की दरों का निर्धारण स्वतंत्र घटकों द्वारा होता है जो कि आन्तरिक मूल्य-स्तरों तथा मुद्रा के परिमाण से सम्बन्धित भी हो सकते हैं और असम्बन्धित भी। इन

घटकों में ऋण परिशोध जैसे व्यवहार भी सम्मिलित हैं। **भुगतानों के संतुलन पर प्रभाव डालने वाले घटक आंतरिक मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालने वाले घटकों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं।**

'भुगतान संतुलन सिद्धान्त' :

प्रायः कहा जाता है कि 'आयात' निर्यातों का भुगतान करते हैं (Imports pay for the Exports)। इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब दो देशों में व्यापार और सेवाओं का लेन-देन होता है तब एक देश दूसरे देश को न तो उससे कम देता है और न अधिक ही देता है जो कि उसने दूसरे देश से प्राप्त किया है। इस तथ्य को ही भुगतान संतुलन का सिद्धांत (Balance of Payments Theory) कहते हैं।

यहाँ पर एक कठिनाई यह उदय होती है कि जब तक कि हमें दो देशों के मध्य विनिमय दर न मालूम हो, तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि दो देशों की प्राप्तियाँ (Receipts) और भुगतान (payments) बराबर हैं? इसका कारण यह है कि दोनों देशों की मुद्रायें अलग होती हैं और व्यापारी अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान स्वीकार किया करते हैं। अतः विनिमय दरें मालूम होने पर ही यह कहा जा सकता है कि अमुक देश के आयातों और निर्यातों का मूल्य समान है, कम है या अधिक है। जिस विनिमय दर पर दोनों देशों के आयातों और निर्यातों का मूल्य बराबर हो, वह 'समता विनिमय दर' (Equilibrium Rate of Exchange) कहलाती है।

यदि दोनों देशों में से किसी एक देश के आयात और निर्यात मूल्य बराबर नहीं हैं तो यह 'असन्तुलन की अवस्था' (State of disequilibrium) कही जायगी। इस दशा में उस देश को अपने आयात और निर्यात में ऐसा परिवर्तन करना होगा, जिससे अन्ततः आयात-मूल्य निर्यात-मूल्य के बराबर हो जायें। इस प्रकार दीर्घकाल में विनिमय दर उस स्थान पर निश्चित होती है जहाँ किसी देश के आयात-मूल्य उसके निर्यात मूल्य के बराबर हो जायें। यही विनिमय दर का भुगतान संतुलन सिद्धांत है।

क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त से इसकी श्रेष्ठता :

वर्तमान समय में पत्र मुद्रा मान को विभिन्न देशों में अपनाया गया है। ऐसी दशा में टकसाली समता एवं स्वर्ण-बिन्दुओं का प्रश्न नहीं उठता। विद्वानों ने क्रयशक्ति समता सिद्धांत के आधार पर पत्र मुद्रामान देशों के मध्य विनिमय-दर के निर्धारण को स्पष्ट करने का प्रयास किया। किन्तु इस सिद्धांत का व्यवहार से अधिक उपयोग नहीं है। विनिमय-दरों पर ऐसे घटकों का भी प्रभाव पड़ती है जो कि आन्तरिक मूल्य-स्तर से सम्बन्धित नहीं होते। इन घटकों में ऋण परिशोध जैसे व्यवहार भी सम्मिलित है। भुगतानों के संतुलन पर प्रभाव डालने वाले घटक आन्तरिक मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालने वाले घटकों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं। इन्हीं सब बातों से विदेशी विनिमय का भुगतान संतुलन सिद्धांत क्रय-शक्ति समता सिद्धांत की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

☞ **Q. 19. What are the objects in general of exchange management and control and how are they achieved? Discuss them fully.**

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य एवं उनकी पूर्ति के उपाय

विनिमय नियंत्रण का अर्थ :

यदि देशवासियों को किसी भी मात्रा में विदेशी विनिमय के क्रय और विक्रय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो, तो इसे 'अनियंत्रित' या 'स्वतन्त्र विदेशी विनिमय' की अवस्था कहेंगे। किन्तु जब देश की सरकार विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय में एवं उसके वितरण में हस्तक्षेप करती है, तो इसे 'विनिमय-नियंत्रण' कहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि 'विनिमय नियंत्रण' (Exchange Control) की कार्यवाही सरकार द्वारा ही की जाये, वरन् देश की केन्द्रीय बैंक या कोई अन्य अधिकृत संस्था भी ऐसा कर सकती है।

यह भी उल्लेखनीय है कि 'विनिमय नियंत्रण' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है :—(i) विस्तृत अर्थ में और (ii) संकुचित अर्थ में। विस्तृत अर्थ में विदेशी विनिमय बाजार में किये गये किसी भी सरकारी हस्तक्षेप को 'विनिमय नियंत्रण' कहा जा सकता है। लेकिन संकुचित अर्थ में, जो कि आजकल अधिक मान्य हैं, विनिमय नियंत्रण का आशय केवल उन हस्तक्षेपों और प्रतिबन्धों से होता है जो कि प्राइवेट विनिमय व्यवहारों के सम्बन्ध में किये जाते हैं। नीचे कुछ प्रसिद्ध लेखकों द्वारा 'विनिमय नियंत्रण' की परिभाषायें दी गई हैं—

(1) प्रो० हैबरलर (Heberler)—'विनिमय नियंत्रण उस सरकारी हस्तक्षेप को कहते हैं जो कि विदेशी विनिमय बाजार में आर्थिक शक्तियों को स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करने देता।"[1]

(2) पाल एनजिग (Paul Einzing)—विनिमय नियंत्रण का अभिप्राय मौद्रिक अधिकारी के उन सभी हस्तक्षेपों से होता है जो विनिमय दरों या उनसे सम्बन्धित बाजारों को प्रभावित करने के हेतु किये जाते हैं।"

एक पूर्ण विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत सरकार विदेशी बाजार पर अपना पूरा प्रभुत्व कायम कर लेती है। पूर्ण नियंत्रण की निम्न विशेषतायें होती हैं :—

(1) देशवासियों द्वारा जितना भी विदेशी विनिमय निर्यात से या किसी अन्य प्रकार से प्राप्त किया जाता है वह सब उन्हें विनिमय नियंत्रण अधिकारी के सुपुर्द कर देना पड़ता है।

(2) बेईमानी को रोकने के लिये, कस्टम अधिकारियों को यह आदेश दे दिये

---

1. "Exchange Control is the state regulation excluding the free play of economic forces from the foreign exchange market."

जाते हैं कि वे माल का लदान जहाज में तभी होने दें जब कि उन्हें निर्यात-लाइसेन्स दिखा दिया जाये।

(3) तत्पश्चात् विदेशी विनिमय की उपलब्ध पूर्ति का व्यय करने की कार्यविधि निश्चित की जाती है और आवश्यकतानुसार एक कन्ट्रोल भाव पर विभिन्न व्यापारियों एवं व्यापारों में इसका वितरण किया जाता है।

(4) पूंजी निर्यातों को प्राय: निषिद्ध घोषित कर दिया जाता है और ब्याज व ऋण के भुगतान भी अत्यन्त सीमित कर दिये जाते हैं ; तथा

(5) देश के आयात पर भी बहुत से नियंत्रण लगा दिये जाते हैं, जैसे केवल उन्हीं वस्तुओं का आयात किया जाता है, जो कि अर्थ-व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिये आवश्यक हों। ऐसी वस्तुओं के उदाहरण हैं - खाद्यान्न, महत्वपूर्ण औद्योगिक कच्चा माल व मशीनें आदि।

विलासिता एवं कम आवश्यक वस्तुओं का आयात या तो बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाता है अथवा बहुत ही सीमित मात्रा में किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि नियंत्रण प्रणाली में सरकार विदेशी विनिमय के कोष को पहले अपने कार्यों में प्रयोग करती है और इसके बाद जो कोष बचता है उसे धीरे-धीरे अधिक महत्वपूर्ण कार्यों के लिये देशवासियों को देती है।

इसके विपरीत, आंशिक नियंत्रण में उक्त प्रतिबन्ध केवल एक या कुछ मुद्राओं के सम्बन्ध में ही लगाये जाते हैं। आजकल 'आंशिक नियंत्रण' (Partial Control) का ही अधिक प्रचलन है।

विनिमय नियंत्रण के उद्देश्य :

आजकल सरकारें विदेशी विनिमय पर नियंत्रण करने लगी हैं। ये प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(1) विनिमय दर की स्थिरता—विनिमय दर में स्थिरता होना आवश्यक है, क्योंकि यदि इसमें बार-बार परिवर्तन होते रहते हैं, तो इससे सट्टेबाजों को बढ़ावा मिलता है तथा विदेशी व्यापार के लाभ भी अनिश्चित हो जाते हैं। यही कारण है कि स्वर्णमान टूटने पर, जबकि विनिमय दरों में बहुत उतार-चढ़ाव होने लगे, तो विभिन्न देशों में विनिमय-नियंत्रण की क्रियाओं द्वारा उन्हें रोकने का प्रयास किया गया।

(2) पूंजी के बहिर्गमन पर रोक—'पूंजी के बहिर्गमन' से आशय किसी देश में सम्पत्तियों, प्रतिभूतियों एवं बैंक डिपाजिटों के स्वामियों द्वारा इनको अन्य देशों की करैंसियों में परिवर्तित करना है ताकि अन्य देशों में वे अधिक ब्याज व लाभ कमा सकें। यदि भारी मात्रा में ऐसे परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता रही, तो देश के स्वर्ण एवं विदेशी विनिमय भण्डार खाली हो जायेंगे और आन्तरिक करैंसी की स्थिरता भी खतरे में पड़ जायगी। अत: पूंजी के बहिर्गमन पर रोक लगाना विनिमय नियंत्रण का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य होता है।

(3) भुगतान संतुलन की विषमता का सुधार—कभी-कभी देश का भुगतान संतुलन उसके बहुत विपरीत हो जाता है, जिससे कि वह दिवालियापन की स्थिति की ओर बढ़ने लगता है। इस विषमता का सुधार करने के लिये भी विनिमय नियन्त्रण की नीति प्रायः अपनाई गई है। विनिमय नियन्त्रण की क्रियाओं के द्वारा देश की मुद्रा का वाह्य मूल्य कम कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि निर्यात सस्ते व आयात मँहगे हो जाते हैं, तथा इसमें देश के निर्यातों में वृद्धि तथा आयातों में अवनति होकर भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता सुधरने लगती है।

(4) सरकारी आय में वृद्धि—विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य सरकारी आय में वृद्धि करना भी हो सकता है। सरकार की आय बढ़ाने के लिये विदेशी विनिमय नियन्त्रण वास्तव में एक निर्यात कर का काम देता है।

(5) आवश्यक वस्तुओं के क्रय के लिये पर्याप्त विदेशी मुद्रा की प्राप्ति—यदि किसी देश के पास विदेशी विनिमय का पर्याप्त कोष हो, तो वह विदेशों से आवश्यक मात्रा में वस्तुयें खरीद सकता है। यही कारण था कि सन् 1939 में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया था तो विभिन्न देशों ने विनिमय का नियंत्रण कर दिया और युद्धकाल के बाद भी विनिमय नियन्त्रण इसलिये कायम रखे गये हैं जिससे विकास योजनाओं के लिये आवश्यक औद्योगिक माल का विदेशों से आयात किया जा सके।

(6) शत्रु देश द्वारा क्रय-शक्ति के प्रयोग की रोकथाम—युद्धकाल में विभिन्न क्रियाओं द्वारा विनिमय नियन्त्रण इस कारण भी किया गया था कि शत्रु देश को या उसके एजेण्टों को, जो कि तटस्थ देशों में या कण्ट्रोल लगाने वाले देशों में रहते हैं, क्रय-शक्ति का प्रयोग करने से रोका जा सकता है।

(7) ऋणों और ब्याज के भुगतान की सुगमता—अपने ऋणों एवं उन पर अर्जित ब्याज का भुगतान विदेशियों को करने के लिए देशी करेंसी प्राप्त करने हेतु भी सरकारों ने विनिमय का नियन्त्रण किया।

(8) अन्य महत्वपूर्ण देशों की करेंसियों के साथ अपनी करेंसी के सम्बन्धों को स्थिर रखना—यह विचार भी बहुत से देशों की विनिमय-नियंत्रण नीति का एक आधार रहा है। उदाहरण के लिये, जब सन् 1931 में ब्रिटेन द्वारा स्वर्णमान का स्थगन कर दिया गया था तो स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों ने लन्दन के साथ अपनी विनिमय दरें स्थायी रखने के उद्देश्य से विनिमय नियंत्रण की कार्यवाही की थी।

(9) स्वतंत्र दर से भिन्न विनिमय दर की स्थापना—कभी-कभी सरकार यह अनुभव करती है कि विदेशी विनिमय बाजार की माँग और पूर्ति सम्बन्धी शक्तियों को स्वतंत्र छोड़ देने से विनिमय दर एक उचित मार्ग का अवलम्बन नहीं कर रही है। ऐसी दशा में वह विनिमय नियन्त्रण अपनाती है ताकि विनिमय दर उचित स्तर पर निर्धारित हो जाय। यदि विनिमय दर स्वतंत्र रूप से स्वतः ही उचित स्तर पर निर्धारित होने की कोशिश में है, तो फिर सरकार को विनिमय नियन्त्रण करने की आवश्यकता नहीं है।

शान्तिकालीन एवं युद्धकालीन उद्देश्य—जब कि शान्तिकाल में विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य विनिमय दर को स्थिर रखना, पूंजी के बहिर्गमन को रोकना, भुगतान सन्तुलन विषमता को सुधारना, योजनाओं को कार्यान्वित करने के हेतु आवश्यक वस्तुयें खरीदने के लिये विदेशी मुद्रा प्राप्त करना, ऋणों और ब्याज के भुगतान को सुगम करना महत्वपूर्ण देशों की करैंसियों के साथ सम्बन्धों को स्थिर रखना, तथा प्रतिकूल दर को अनुकूल करना हो सकता है, तब युद्धकाल में विनिमय नियन्त्रण प्राय: निम्न उद्देश्यों के लिये किया जा सकता है : सरकारी आय को बढ़ाने के लिये, शत्रु द्वारा क्रय-शक्ति के प्रयोग की रोकथाम के लिये, विदेशी-विनिमय के साधनों को सुरक्षित रखने तथा देश हित में प्रयोग करने के लिये।

विनिमय नियंत्रण की रीतियां :

विनिमय का नियन्त्रण करने के लिये यह आवश्यक है कि करैंसी की मांग और पूर्ति का नियन्त्रण किया जाय। करैंसी की मांग और पूर्ति का नियन्त्रण करने की दो मुख्य रीतियां हैं :—

(I) विनिमय नियंत्रण की अप्रत्यक्ष रीतियां :

करैंसी की मांग और पूर्ति पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाली रीतियों को 'नियन्त्रण की अप्रत्यक्ष रीतियां' (Indirect Methods of Exchange Control) कहते हैं। अप्रत्यक्ष रीतियों का मौद्रिक संसार में अधिक उपयोग नहीं होता है, क्योंकि इनकी दो सीमायें हैं—(i) यदि अन्य देश भी इसी प्रकार की समान रीतियां अपना लें, तो इनका प्रभाव जाता रहता है तथा (ii) ये रीतियां विनिमय दरों पर केवल प्रभाव ही डाल सकती हैं, उनका नियन्त्रण नहीं कर सकती हैं। अत: ये रीतियां प्राय: साधारण काल में ही प्रयोग की जाती हैं, संकट काल में इनका उपयोग प्रभावशाली नहीं होता। इन रीतियों के कई रूप हैं, जिनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

(1) ब्याज की दरों में परिवर्तन— ब्याज की दरों का प्रभाव पूंजी के आयात-निर्यात पर पड़ता है। जब देश में ब्याज की दरें ऊंची कर दी जाती हैं, तो अधिक लाभ कमाने के लिये विदेशों से इस देश में अल्पकालीन विनियोग के लिये पूंजी आने लगती है और इस तरह करैंसी की मांग बढ़ने के कारण विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है। किन्तु, जब देश में ब्याज की दरें कम कर दी जाती हैं, तो वहां विनियोग से अधिक लाभ न देखकर विदेशी पूंजी बाहर जाने लगती है यहां तक कि देशवासी भी अपनी पूंजी बाहर (अधिक ब्याज वाले देशों में) लगाना आरम्भ कर देते हैं। इससे देशी चलन की मांग कम हो जाती है और विदेशी चलन की मांग बढ़ जाती है तथा विनिमय दर देश के विरुद्ध हो जाती है।

(2) आयात कर—आयात पर कर दो प्रकार से स्थापित किया जा सकता है—(i) आयात कर लगा कर तथा (ii) कोटा व लाइसेन्स के द्वारा। जब आयात की वस्तु पर कर लगाया जाता है, तो उसका मूल्य बढ़ जाता है जिससे उसकी मांग कम हो जाती है। जब आयात-वस्तुओं के सम्बन्ध में व्यापारियों को कोटे व लाइसेन्स देने

की प्रथा रखी जाती है, तब आयात की मात्रा कम हो जाती है। इस प्रकार दोनों ही दशाओं में आयात घटने से विदेशी मुद्रा की मांग और अपने देश की मुद्रा पूर्ति कम हो जाती है। परिणाम यह होता है कि विनिमय दर देश के पक्ष में हो जाती है।

(3) **निर्यात करों में छूट**—निर्यात करों में छूट देने से निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है। यदि निर्यात की वस्तुओं के उत्पादन में आर्थिक सहायता दी जाय, तो भी निर्यातों की वृद्धि होती है। इस प्रकार निर्यात बढ़ जाने से विदेशों में हमारी मुद्रा की मांग अधिक होगी, जिससे उसका मूल्य बढ़ जायगा। इस रीति का प्रयोग जर्मनी ने किया था।

(II) विनिमय नियंत्रण की प्रत्यक्ष रीतियां :

करेंसी की मांग एवं पूर्ति पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाली रीतियों को 'विनिमय नियंत्रण की प्रत्यक्ष रीतियां' (Direct Methods of Exchange Control) कहते हैं। ये रीतियां संकट काल में बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होती हैं। प्रमुख-प्रमुख प्रत्यक्ष रीतियां निम्नलिखित हैं—

(1) **हस्तक्षेप (Intervention)** जब कभी सरकार अपनी करेंसी की विनिमय दर को किसी प्रचलित या सामान्य विनिमय दर से बहुत ऊँचे स्तर पर या इससे बहुत नीचे स्तर पर किसी विशेष बिन्दु पर निर्धारित करना चाहे, तो वह 'हस्तक्षेप' करने की प्रत्यक्ष रीति का अवलम्बन कर सकती है। इस रीति के दो रूप होते हैं—(अ) विनिमय दर को ऊंचा टांकना (Pegging up), और (ब) विनिमय दर को नीचा टांकना (Pegging Down)। जब सरकार विनिमय दर को एक ऊँचे स्तर पर निश्चित कर देती है, तो इसे 'विनिमय दर को ऊँचा टांकना' और जब एक नीचे स्तर पर निर्धारित कर देती है, तो इसे 'विनिमय दर को नीचा टांकना' कहते हैं। इस रीति के अन्तर्गत सरकार (या केन्द्रीय बैंक) विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्राओं के बदले में अपने देश की मुद्रा बेचना या खरीदना आरम्भ कर देती है, तो देशी चलन की पूर्ति बढ़ने और विदेशी मुद्राओं की पूर्ति कम होने से विनिमय दर धीरे-धीरे ऊँची चढ़ने लगती है और जब वह विदेशी मुद्राओं के बदले अपने देश की मुद्रा खरीदने लगती है, तो विनिमय दर नीचे गिरने लगती है। अतः किसी देश की सरकार को विनिमय दर के ऊँचा टांकने में कितनी सफलता मिलेगी यह उस देश के विदेशी मुद्राओं के कोषों की स्थिति पर निर्भर करती है।

(2) **विनिमय प्रतिबन्ध (Exchange Restrictions)**—'विनिमय प्रतिबन्ध' का आशय मुद्रा अधिकारियों की उन क्रियाओं से है, जिनके द्वारा विनिमय बाजारों में मांग और पूर्ति को प्रभावित करने के उद्देश्य से विनिमयों की अबाधता प्रतिबन्धित की जाती है। इस प्रणाली को सबसे पहले जर्मनी ने सन् 1931 में अपनाया था।

युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था के सुधार के लिये जर्मनी ने विशाल ऋण लिये और उनको चुकता करने के लिये जर्मन मार्क की पूर्ति में बहुत वृद्धि कर दी। चूंकि जर्मनी का निर्यात व्यापार लगभग शून्य था, इसलिये विदेशों में मार्क की मांग बहुत कम

थी। ऋणदाताओं को यह भय था कि जर्मन अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी। अतः उन्होंने जर्मन मार्क में भुगतान लेना अस्वीकृत कर दिया। हालत इतनी खराब हो गई थी कि मार्क का बाह्य मूल्य शून्य तक गिरने की आशंका थी।

उक्त कठिनाई को सुलझाने के लिये जर्मनी ने कृत्रिम अतिमूल्यन (Over-valuation) की नीति को अपनाया और यह प्रयास किया कि जर्मन मार्क की पूर्ति उसकी मांग के बराबर बनी रहे। इस हेतु उसने निम्न उपाय किये :—(i) समस्त विदेशी मुद्रा को केन्द्रीय अधिकारियों ने रोक लिया और विदेशी विनिमय व्यवसाय के लिये लाइसेन्सिंग प्रथा चलाई; (ii) सभी नागरिकों को यह आदेश दिया कि वे अपनी विदेशी मुद्रायें, विदेशी प्रतिभूतियां तथा बॉंड सरकार को सौंप दें; (iii) इस प्रकार एकत्र हुई विदेशी विनिमय सम्पत्ति का एक भाग तो सरकार ने अपने पास रखा और शेष भाग को ऊंची कीमत पर उन नागरिकों को बेच दिया जिन्हें विदेशी मुद्रा की आवश्यकता थी, (iv) विदेशी मात्राओं के लिए बहुत कम मात्रा में जर्मनी या विदेशी मुद्रा दी जाती थी; (v) आयातों के लिये एक प्राथमिकता क्रम निर्धारित कर दिया गया और अनावश्यक वस्तुओं के आयात को बिल्कुल बन्द कर दिया; (vi) अवरुद्ध खाते की नीति भी अपनाई गई; जिसके अनुसार विदेशियों को अपनी सम्पत्तियां या प्रतिभूतियां और मुद्रायें जर्मनी से बाहर ले जाने का अधिकार नहीं दिया गया। प्रत्येक जर्मन ऋणी जब अपना विदेशी ऋण सरकार को चुकाता था, तो इस रकम को सरकार उस विदेशी के नाम पर 'अवरुद्ध खाता' (Blocked Accounts) में जमा कर लेती थी परन्तु विदेशियों को इसका भुगतान उनकी मुद्राओं में नहीं मिलता था। अतः विवश होकर वे जर्मनी से या तो माल खरीदकर अपना भुगतान लेते थे अथवा उस राशि को कम दाम पर बेच देते थे। दोनों ही दशाओं में जर्मनी को लाभ होता था। जर्मनी की यह महान् नीति महान् आर्थिक जादूगर डा० शाट (Shact) के मस्तिष्क की उपज थी और इसे 'नई योजना' कहा जाता था। इन उपायों के फलस्वरूप जर्मनी का तेजी से अधिक विकास हुआ।

(3) विनिमय निकासी समझौते (Exchange Clearing Agreements)—जब दो देश कोई ऐसा समझौता कर लेते हैं जिसके अनुसार अन्यान्य भुगतानों को इस प्रकार एक दूसरे को चुकती कर दिया जाता है कि उन्हें विदेशी बाजार में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, तो इसे 'विनिमय निकासी समझौते' कहते हैं। निकासी समझौते की कार्य-प्रणाली को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए कि 'अ' और 'ब' देशों में एक निकासी समझौता होता है। अब 'अ' देश का केन्द्रीय बैंक अपने यहां 'ब' देश के केन्द्रीय बैंक का खाता खोल लेता है, 'अ' देश में कुछ लोग ऐसे होंगे (जैसे कि निर्यात व्यापारी) जिनका रुपया 'ब' देश पर निकलता है और कुछ व्यक्ति ऐसे भी होंगे (जैसे कि आयात व्यापारी) जिन्हें 'ब' देश को रुपया देना है। 'अ' देश के आयात व्यापारी 'ब' देश वाले ऋणों का भुगतान अपने केन्द्रीय बैंक को अपने देश की करेंसी में ही कर देंगे। इसी प्रकार, निर्यात

व्यापारी भी केन्द्रीय बैंक के पास जायेंगे और 'ब' देश पर निकलने वाले रुपयों का भुगतान उस धन में से जो कि बैंक ने आयात-व्यापारियों से संग्रह किया था, अपने देश की करेंसी ही में प्राप्त कर लेंगे। इसी प्रकार की कार्यवाही 'ब' देश में भी वहाँ के केन्द्रीय बैंक द्वारा की जायगी। इस व्यवस्था के कारण दोनों देशों में आयात-निर्यात व्यापार विदेशी मुद्रा की चिंता किये बिना चलता रहेगा।

(4) **स्वर्ण नीति (Gold Policy)**— स्वर्ण के क्रय एवं विक्रय मूल्यों का नियमन करके भी विनिमय नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। ये उपाय स्वर्ण-बिन्दुओं पर प्रभाव डालते हुए विनिमय दरों पर असर करते हैं।

निष्कर्ष

अतः विनिमय नियन्त्रण की अनेक रीतियाँ हैं। प्रत्येक देश अपनी निजी आवश्यकताओं के अनुसार ही किसी खास नीति को अपनाता है। चूंकि देश की आवश्यकताओं में समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में विनिमय नियन्त्रण की रीतियों में सर्व-प्रयोग का गुण नहीं है। इसके अतिरिक्त एक समय में प्रायः कई रीतियों का अपनाना आवश्यक हो जाता है ताकि नियन्त्रण का उद्देश्य पूरा हो जाय।

☞ **Q. 20. Explain briefly the important objects and methods of exchange control adopted by the Reserve Bank of India since the outbreak of war in 1939. How can exchange control be made helpful in developing India's peace econonmy in the Post War Period ?**

भारत में युद्ध कालीन विनिमय नियन्त्रण—उद्देश्य, विधियाँ एवं वर्तमान उपयोगिता

भारत में युद्धकालीन विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य :

युद्ध-काल में विनिमय नियन्त्रण का मुख्य उद्देश्य देश के विदेशी-विनिमय-साधनों को सुरक्षित रखना और देश हित में प्रयोग करने के लिये उन्हें पूर्णतः गतिशील बनाना होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि (i) विदेशी विनिमयों से सभी क्रय-विक्रय पर, (ii) वस्तुओं के आयात-निर्यात पर, (iii) धातुओं और देशी व विदेशी करेन्सियों के आयात-निर्यात पर तथा (iv) विदेशी प्रतिभूतियों पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर दिया जाय। अतः युद्ध आरम्भ होते ही भारत सरकार ने रिजर्व बैंक को एक विशेष आदेश जारी करके विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की जिम्मेदारी सौंप दी। रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण विभाग पृथक से खोला।

विनिमय नियन्त्रण के लिये अपनाई गई विधियाँ :

सरकार की अनुमति से रिजर्व बैंक ने विनिमय नियन्त्रण के लिये जो प्रतिबन्ध लगाये, उनके प्रमुख रूप निम्न रहे :—

(1) आयात नियन्त्रण—प्रारम्भ में तो बैंकों को विदेशी विनिमय के विक्रय में काफी स्वतन्त्रता थी, लेकिन युद्ध की प्रगति के साथ-साथ इस स्वतन्त्रता में निरन्तर कमी होती रही अन्त में एक ऐसी स्थिति आगई जबकि रिजर्व बैंक से अनुमति लेकर ही बैंक कुछ लाइसेन्स प्राप्त आयातों तथा वैयक्तिक विप्रेषों (Remittances) के लिये ही विदेशी विनिमय बेच सकते थे। परिणाम यह हुआ कि देश के आयातों पर बहुत कड़ा प्रतिबन्ध लगाया गया। स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर के देशों (अर्थात् दुर्लभ मुद्रा देशों से) कोई भी माल बिना लाइसेन्स नहीं मँगाया जा सकता था। इस नियन्त्रण के दो मुख्य उद्देश्य थे—(i) विदेशी व्यापार के असन्तुलन पर रोक लगाना और (ii) युद्ध कार्यों अथवा नागरिक आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आयातों को प्राथमिकता देना।

(2) निर्यात नियन्त्रण—यह भी आवश्यक समझा गया कि स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर के देशों को जाने वाली वस्तुओं के निर्यात पर भी प्रतिबन्ध होना चाहिये। अतः रिजर्व बैंक ने एक निर्यात नियन्त्रण योजना भी लागू की जिससे निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का मूल्य विदेशों में न रहे वरन् भारत में आ जाय और निर्यातों का भुगतान एक ऐसी रीति से हो जिससे उनका अधिक से अधिक मूल्य मिल सके। अमरीका को वस्तुयें निर्यात करके भारत जो भी मूल्य प्राप्त करता था उसे वह ब्रिटिश सरकार को दे दिया करता था। ब्रिटिश सरकार इसे साम्राज्य डालर कोष में रखकर उसका उपयोग युद्ध सम्बन्धी सामग्री को खरीदने में किया करती थी।

(3) अन्य नियन्त्रण—विदेशी विनिमय के नियन्त्रण की नीति को सफल बनाने के लिये कुछ अन्य नियन्त्रण और प्रतिबन्ध भी लगाये गये जो कि इस प्रकार हैं—(i) **मुद्रा आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध**—नवम्बर सन् 1940 से किसी भी प्रकार की भारतीय मुद्रा को रिजर्व बैंक के लाइसेन्स के बिना निर्यात करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि भारतीय मुद्रा को चलन से निकालकर बाहर न बेचा जा सके। सितम्बर 1943 से भारतीय मुद्रा व कुछ अन्य मुद्राओं को छोड़ कर शेष सब मुद्राओं के आयात पर भी रोक लगा दी गई। इन प्रतिबन्धों का उद्देश्य शत्रु राष्ट्रों द्वारा चलाई गई पत्र मुद्रा को रोकना और अपनी मुद्रा का प्रयोग शत्रु राष्ट्रों को न करने देने का था। **विदेशी मुद्रा में भुगतान पर प्रतिबन्ध**—अक्टूबर सन् 1941 से लगा दिया गया, ताकि जो कम्पनियाँ अपने लाभ भारत से स्टर्लिंग क्षेत्र के बाहर भेजना चाहें वे रिजर्व बैंक से लाइसेन्स लेकर ही ऐसा कर सकें। (iii) **भारतीय बैंकों में शत्रु राष्ट्रों की जमा के भुगतान पर भी प्रतिबन्ध** (कुछ विशेष कार्यों के अतिरिक्त) रिजर्व बैंक ने लगा दिया। (iv) **स्वर्ण का आयात-निर्यात** भी केवल लाइसेन्स लेकर ही किया जा सकता था, और (v) **प्रतिभूतियों के निर्यात पर रोक** यह लगाई गई कि केवल वही व्यक्ति इनका निर्यात कर सकते थे जो कि लाइसेन्स रखते हों और साथ ही यह शर्त भी रखी गई कि विदेशी विनिमय का धन भारतीय बैंक की विदेशी शाखा में जमा कराया जाय।

शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था के विकास में विनिमय नियन्त्रणों का योगदान :

युद्ध समाप्त होने पर सन् 1947 में एक विनिमय नियन्त्रण विधान पास किया गया। इसके कार्यान्वित होने पर भारतीय सुरक्षा विधान के अन्तर्गत बने नियमों का अन्त हो गया, किन्तु विनिमय नियन्त्रण का काम रिजर्व बैंक को पूर्णतः सौंप दिया गया।

रिजर्व बैंक द्वारा अपनाई गई नीति का उद्देश्य अब भी यह है कि देश के निर्यातों से प्राप्त विदेशी मुद्रा का अपव्यय नहीं होना चाहिये वरन् इसका अति आवश्यक आयातों के मूल्य-भुगतान में सदुपयोग होना चाहिये। अतः विदेशी विनिमय के सब सौदे या तो रिजर्व बैंक अथवा इसकी आज्ञा-प्राप्त बैंकों द्वारा किये जाते हैं। यह नियन्त्रण केवल साम्राज्य से बाहर वाले देशों तक ही सीमित है। नियन्त्रण सम्बन्धी कुछ अन्य बातें इस प्रकार हैं--

(i) रिजर्व बैंक का परमिट दिखा कर ही विदेशी मुद्रा खरीदी जा सकती है।

(ii) स्टलिंग क्षेत्र के व्यक्तियों को रिजर्व बैंक से ये परमिट नहीं लेने पड़ते। वे अपनी आय में से 150 पौंड प्रति माह अपने कुटुम्ब के व्यय के लिये भेज सकते हैं।

(iii) इस विधान का मुख्य उद्देश्य भारतीय स्वर्ण का निर्यात, विदेशों से भारत में आने वाली पूंजी व इसका भुगतान एवं विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय आदि को नियन्त्रित करना है।

(iv) भारत में रहने वाले विदेशी एक उचित मात्रा तक ही मुद्रा अपने देश को भेज सकते हैं जैसे बीमे के प्रीमियम, बालकों की शिक्षा तथा पारिवारिक व्ययों के लिये।

(v) यदि कोई भारतीय फर्म किसी विदेशी व्यक्ति की सेवायें प्राप्त करना चाहती है, तो इसे पहले रिजर्व बैंक से आज्ञा लेनी पड़ती है।

(vi) हिस्सों व प्रतिभूतियों का डिविडेन्ड, जमा व ऋणों का व्याज व विदेशी मुद्रा में दी जाने वाली बीमा की प्रीमियम आदि को स्वतन्त्रता से भेजा जा सकता है बशर्ते भेजने वाला व्यक्ति इन हिस्सों आदि का स्वामी हो।

(vii) जब कोई विदेशी अपने देश को लौटता है, तो वह अपने वेतन की बचत, प्रोवीडेन्ट फण्ड एवं अपनी निजी सम्पत्ति का विक्रय धन अपनी स्वयं की मुद्रा में 5000 पौंड तक ले जा सकता है।

(viii) आयात-कर्ता विदेशों से मँगाई हुई वस्तुओं का भुगतान स्वतन्त्रता-पूर्वक कर सकता है लेकिन उसके पास आयात-लाइसेन्स होना चाहिये।

(ix) भारत में स्थित विदेशी व्यापारिक संस्थायें अपने लाभ को प्रधान कार्यालय को भेज सकती हैं।

(x) पूंजी, कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर, स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर नहीं भेजी जा सकती।

☞ Q. 21. Why has 'Exchange Control' become necessary during the last twenty years? Describe how exchange control is exercised.

Or

Discuss the factors that led to the growth of exchange control in the thirtees and its continuance in recent years.

विनिमय नियंत्रण विज्ञान को जन्म देने वाली दशायें

'विनिमय-नियंत्रण' के विज्ञान को जन्म देने का श्रेय जर्मनी को है। प्रथम महायुद्ध के बाद, जबकि जर्मन मार्क की विनिमय-दर बहुत गिर गई थी, तो जर्मन अर्थशास्त्रियों ने विनिमय-नियंत्रण का सुझाव दिया और जर्मन सरकार ने इसकी सहायता से जर्मन मार्क की विनिमय दर को काफी सीमा और काफी समय तक स्थिर रखने में सफलता पाई। सन् 1931 में जब स्वर्णमान टूट गया और विनिमय दरों में अत्यधिक उच्चावचन होने लगे, तो यह प्रणाली अन्य राष्ट्रों ने भी अपनाई। द्वितीय महायुद्ध में और इसके पश्चात् तो इस प्रणाली का प्रयोग लगभग सभी देशों द्वारा किया गया। इसका कारण यह है कि आजकल सभी देशों में अपरिवर्तित पत्र-मुद्रा चलन है, जिसमें विनिमय दर की स्थिरता को केवल विनिमय नियन्त्रण द्वारा ही कायम रखा जा सकता है, आज कठिनता से ही कोई देश ऐसा होगा, जहाँ थोड़ा-बहुत विनिमय नियन्त्रण न हो। क्राउथर के शब्दों में "आजकल के 'नियोजन-युग' में विदेशी विनिमय बाजार पर कोई नियंत्रण न होना ही एक विचित्र बात कही जायेगी।"[1] आधुनिक युग में एक सरकार कई उद्देश्यों से विनिमय नियंत्रण की नीति अपनाती है। (देखिये गत प्रश्नोत्तर)। विनिमय नियंत्रण की रीतियों के लिये भी एक पिछले प्रश्न का उत्तर पढ़ने की कृपा करें।

---

1. "In this age of planning and governmental interference with private business, it would be strange if the foreign exchange market were not subject to some degree of control" (Crowther)

☞ Q. 22. **"Over-valuation is by the most common object of exchange management and control." Discuss this statement and explain why a country would desire to over-value its currency and what may be the disadvantages of this policy.**

अधिमूल्यन के उद्देश्य एवं इसके दोष

अधिमूल्यन से आशय एवं उद्देश्य :

यदि किसी देश की सरकार अपनी करेंन्सी की इकाई का बाह्य-मूल्य (या विनिमय-मूल्य) उस स्तर से ऊँचा रखती है, जो कि नियंत्रण न रहने पर प्रचलित होता, तो ऐसी स्थिति को ही 'करेन्सी का अधिमूल्यन' (Over Valuation of Currency) कहते हैं। कोई देश अधिमूल्यन की नीति क्यों अपनाता है, इसके अनेक कारण हैं, और संक्षेप में इस प्रकार हैं :—

(1) जबकि विदेशों से यकायक बहुत-सा माल क्रय करना हो—मान लीजिये कि कोई देश युद्ध में संलग्न है। ऐसी दशा में प्रायः वह निर्यात करने की स्थिति में नहीं होता वरन् उसे खुद ही आयातों की भारी आवश्यकता पड़ती है। इसी प्रकार, सम्भव है कि युद्ध के बाद किसी देश को अपने पुनर्वास के लिये आयातों की बहुत आवश्यकता हो ,जबकि वह खुद अधिक निर्यात करने की स्थिति में नहीं है। ऐसी दशा में वह अपने निर्यातों द्वारा आयातों का भुगतान नहीं कर पायेगा। इन परिस्थितियों में यदि विनिमय दर कम हो जाय, तो वह माँग और पूर्ति की शक्तियों को संतुलित नहीं कर सकेगी। ऐसी दशा में, सरकार के लिये यह बहुत उचित होगा कि वह करेंसी के बाह्य मूल्य में होने वाले तेज गिराव को रोकने के लिये कदम उठावे। यदि बाह्य मूल्य को स्वतन्त्र ही छोड़ दिया जाय तो वह बहुत तेजी से गिरने लगेगा। अतः अधिमूल्यन उस देश के लिये एक उचित नीति है जिसे विदेशों से बहुत अधिक मात्रा में क्रय करने की आवश्यकता हो।

(2) जबकि विदेशों को अत्यधिक ऋण चुकाने हों—इस आधार को भारत का उदाहरण लेकर समझाया जा सकता है। युद्ध के पूर्व 'गृह-खर्चे' (Home Charges) के लिये भारत को प्रतिवर्ष इंगलैंड में विशाल भुगतान स्टर्लिङ्ग में करने पड़ते थे। अतः उसे बहुत काफी मात्रा में पौंड, प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती थी। इन भुगतानों की लागत केवल उस दशा में ही कम हो सकती थी जबकि रुपये को पौंड के सम्बन्ध में उच्च-स्तर पर रखा जाय। अतः सन् 1927 में जब यह प्रश्न उठा कि रुपये के मूल्य को किस विनिमय दर पर स्थिर रखा जाय, तो 16 पैंस की निम्न दर की अपेक्षा 18 पैंस की उच्च दर ही अपनाने का सुझाव दिया गया था।

(3) जबकि देश में भीषण मुद्रा प्रसारिक स्थिति हो—इस कारण ही अधिकांश यूरोपीय देशों ने सन् 1930 के लगभग अपनी करेंन्सियों का अधिमूल्यन कर लिया था। जब 1931-32 के अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संकट के कारण उनकी करेंन्सियों की

पहले से ही डगमगाई हुई स्थिरता को अधिक खतरा उपस्थित हुआ, तो उन्हें यह भय लगा कि सन् 1920 जैसी स्थिति फिर न उत्पन्न हो जाय जबकि गिरती हुई विनिमय दरों ने मुद्रा प्रसार का उच्चतम-स्तरों तक पीछा किया था। अतः उन्होंने कठोर विनिमय नियन्त्रण द्वारा अधिमूल्यन को कायम रखने का प्रयास किया।

(4) **जबकि अधिकतर निर्यात व्यापार कुछ देशों से होता है और उनकी माँग बेलोच है**— सन् 1949 में, जब स्टर्लिङ्ग समूह के सभी देशों ने अवमूल्यन कर दिया, तो अकेले पाकिस्तान ने ही ऐसा नहीं किया, जिससे पाकिस्तानी रुपया स्टर्लिङ्ग क्षेत्र की समस्त अन्य अवमूल्यित करेंन्सियों की अपेक्षा अधिमूल्यित स्थिति में हो गया। उस समय पाकिस्तान ने यह अनुभव किया था कि उसके जूट के सामान के लिये भारतीय माँग बेलोच (Inelastic) है, अर्थात् मूल्य कुछ भी हो, भारत को पाकिस्तानी जूट खरीदना ही पड़ेगा, अतः पाकिस्तानी रुपये का अधिमूल्यन करके भारतीयों से कच्चे जूट के ऊंचे दाम प्राप्त किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, पाकिस्तान को भारत व स्टर्लिङ्ग क्षेत्र के अन्य देशों से अधिक आयात भी करना पड़ता था, इसलिये पाकिस्तानी रुपये का अधिमूल्यन होने से उसे इन देशों से आयात सस्ते पड़ने लगे। [यह कथन कि पाकिस्तान अपनी नीति में सफल नहीं हुआ, केवल इस बात को ही प्रमाणित करता है कि उसने विदेशी माँग की लचक के सम्बन्ध में गलत अनुमान लगाया था।]

अधिमूल्यन के दुष्परिणाम :

अतः सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि जब किसी देश के व्यापारिक सम्बन्ध बहुत सन्तुलित हो गये हैं और स्वतन्त्र बाजार राष्ट्रीय करेंसी की पूर्ति में माँग की अपेक्षा बहुत वृद्धि कर सकता है, तो अधिमूल्यन करने का उचित आधार बन जाता है। लेकिन, अधिमूल्यन का **एक गम्भीर दुष्परिणाम** भी होता है। जब किसी देश की करेंसी का अधिमूल्यन होता है, तो उस देश में कीमतें अन्य देशों की अपेक्षा ऊँची होती हैं, जिससे उसके निर्यात घटने लगते हैं तथा आयात बढ़ने लगते हैं (बशर्ते प्रशुल्क प्रतिबन्ध न अपनाये जायें) और भुगतान संतुलन अत्यधिक प्रतिकूल हो जाता है। भारत ने 1927-1939 में और ग्रेट ब्रिटेन ने 1925-31 में यही अनुभव किया था। फिर भी युद्ध के अभाव के दिनों में अधिमूल्यन उसी प्रकार आवश्यक हो जाता है जिस प्रकार कि मन्दी और आधिक्य के दिनों में अवमूल्यन करना।

☞ **Q. 23. Discuss the economic implications of devaluation. How exports and imports are effected by it ?**

अवमूल्यन के गुण-दोष

अवमूल्यन से आशय :

अवमूल्यन का आशय देश की करेन्सी के बाह्य मूल्य को कम करने से है, अर्थात् इससे स्वदेश की मुद्रा की एक इकाई के बदले में अब विदेश को पहले से कम

मुद्राएं प्राप्त होती हैं। अवमूल्यन में यह आवश्यक नहीं है कि विदेशी मुद्रा के रूप में मुद्रा का बाह्य मूल्य कम होने के साथ ही साथ वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा का आन्तरिक मूल्य भी कम हो जाय, यद्यपि कभी-कभी ये दोनों साथ ही साथ किये जाते हैं अथवा बाह्य मूल्य घटने के उपरान्त आन्तरिक मूल्य भी धीरे-धीरे कम हो जाता है। पाल एनजिग (Paul Enzig) के शब्दों में "अवमूल्यन का अर्थ मुद्राओं की अधिकृत तुल्यताओं में कमी कर देने से है।"[1]

सन् 1944 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के पश्चात् अनेक राष्ट्रों ने अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण या अमेरिकन डॉलर में निश्चित कर दिया था। अब यदि इनमें से किसी राष्ट्र को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना हो तो वह स्वर्ण या डॉलर में अपना मूल्य कम कर सकता है। उदाहरण के लिये, सितम्बर सन् 1849 में भारतीय रुपया 0·286601 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण या 30·225 सैंट के बराबर था। परन्तु अवमूल्यन के पश्चात् भारत ने अपनी मुद्रा का स्वर्ण मूल्य घटाकर 0·186601 ग्रेन शुद्ध स्वर्ण या 81 सैंट कर दिया। यह उल्लेखनीय है कि कोई देश अपनी मुद्रा को अन्य देशों के साथ स्थिर रखते हुए किसी एक या दो देशों के सम्बन्ध में भी अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर सकता है।

अवमूल्यन क्यों किया जाता है ?

अवमूल्यन के क्या उद्देश्य हैं ? अथवा, किसी देश के लिये अवमूल्यन करने का उचित आधार कब होता है ? ये दोनों ही प्रश्न एक ही समस्या के प्रति दो दृष्टिकोण हैं। इन पर नीचे प्रकाश डाला गया है—

(1) **अवमूल्यित करैन्सी वाले देशों के साथ व्यापार में अपनी पूर्व स्थिति बनाये रखना**—यदि अन्य देशों ने अपनी करैन्सी का अवमूल्यन कर दिया है, तो वहाँ का माल हमारे माल की अपेक्षा सस्ता पड़ने लगेगा, जिससे हमारे निर्यात बाजार छिन जाने का खतरा पैदा हो जाता है। अतः निर्यात व्यापार में अपनी स्थिति कायम रखने के लिये उस देश को भी जिसने अभी तक अन्य देशों की तरह अवमूल्यन नहीं किया है, अवमूल्यम करने का एक उचित आधार उत्पन्न हो जाता है।

(2) **अन्य महत्वपूर्ण करैंसियों की क्रय-शक्ति के परिवर्तन के अनुसार अपनी करैंसी की क्रय-शक्ति में परिवर्तन करने के उद्देश्य से विनिमय दर का समायोजन करना** भी किसी देश द्वारा अवमूल्यन की नीति को अपनाये जाने का एक उचित आधार बन सकता है। जब अन्य देशों की करैन्सियों की क्रय-शक्ति गिर जाती है अर्थात् वहाँ आन्तरिक मूल्य-स्तर गिर जाते हैं, तो उन देशों से अधिक मात्रा में सामान हमारे देश में आने लगता है और इससे देशी उद्योग खतरे में पड़ जाते हैं। इसे रोकने के लिये भी देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर सकता है।

---

1. "Devaluation means lowering of the official parities." (*Paul Enzig*)

(3) **भुगतान संतुलन में विषमता का सुधार करना**—यदि कोई देश यह अनुभव करता है कि उसका विदेशी व्यापार सम्बन्धी घाटा (Deficit) निरन्तर बना रहता है तथा वर्तमान विनिमय दर पर विदेशी ऋणों, स्वर्ण-आयात तथा अन्य उपायों द्वारा उसे दूर करना सम्भव नहीं है, तो वह अवमूल्यन द्वारा स्वदेशी मुद्रा की विदेशी विनिमय दर को कम करके इस घाटे को दूर कर सकता है। अवमूल्यन के परिणाम-स्वरूप उसकी वस्तुएँ विदेशों में सस्ती हो जाती हैं, जिससे उसके निर्यात प्रोत्साहित होते हैं किन्तु साथ ही स्वदेश में आयातित माल मँहगा हो जाता है; अतः आयात निरुत्साहित होते हैं। इस प्रकार भुगतान संतुलन में अनुकूलता आने लगती है और प्रतिकूलता घटने लगती है। लेकिन यह याद रखना चाहिये कि अवमूल्यन का मार्ग बार-बार नहीं अपनाया जाता। यदि कोई देश प्रत्येक समय, जब भी उसके भुगतान संतुलन में प्रतिकूलता हो, करैंसी के अवमूल्यन की नीति अपनाता है, तो इससे उसकी विनिमय दर की स्थिरता के विषय में व्यापारियों व सट्टेबाजों का विश्वास उठ जाता है और वे प्रतिक्षण अधिक मूल्य ह्रास की आशंका करने लगते हैं। विश्वास के अभाव में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विनियोग को बढ़ावा देने में स्वर्णमान का जो महत्व है वह आधा ही रह जाता है तथा देश भी निश्चित विनिमय दर से अनिश्चित विनिमय दर की दिशा में लौटने लगता है।

(4) **देश में आन्तरिक मूल्य-स्तर को ऊँचा करना** :—जब किसी देश में मूल्य-स्तर बहुत गिरा हुआ हो (अर्थात् मुद्रा संकुचन की स्थिति हो), तो अवमूल्यन से उस देश की वस्तुयें विदेशियों के लिये सस्ती हो जाती हैं, जिससे वे अधिक वस्तुएँ मँगाने लगते हैं। इस प्रकार स्वदेशी वस्तुओं की माँग बढ़ने से देश में आन्तरिक मूल्य स्तर ऊँचा उठ जायेगा। इसके अतिरिक्त, यदि देश में कच्चे माल, खाद्य पदार्थों आदि का आयात अधिक होता हो, तो अवमूल्यन के कारण वह पहले की अपेक्षा मँहगा पड़ने लगेगा, जिससे आयात निरुत्साहित होंगे तथा देश में वस्तुओं की कमी और बढ़ जायेगी। इससे मूल्यस्तर बढ़ जायेगा। दोनों ही अवस्थाओं में मुद्रा प्रसारिक प्रवृत्ति चल पड़ने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलेगा, रोजगार बढ़ेगा और मुद्रा संकुचन की स्थिति समाप्त होने लगेगी।

(5) **अधिमूल्यन की स्थिति का सुधार करना** :—यदि किसी देश ने भूल अथवा किसी अन्य कारण से अपनी मुद्रा को आवश्यकता से अधिक बाह्य कीमत दे रखी है, तो वह इस त्रुटि का सुधार करने के लिये भी अवमूल्यन कर सकता है।

(6) **मुद्रा की आन्तरिक एवं बाह्य कीमतों में समानता लाना** :—जब किसी देश में आन्तरिक मूल्य स्तर बढ़ जायें (अर्थात् जब मुद्रा का आन्तरिक) मूल्य कम हो जाता है, किन्तु मुद्रा का बाह्य मूल्य ऊंचा ही रहता है, तो दोनों को एक स्तर पर लाने के लिये या तो देश में उत्पादन लागत व मूल्य-स्तर को नीचे गिराना पड़ेगा अथवा मुद्रा के बाहरी मूल्य को कम करना पड़ेगा। यदि दोनों में से कोई भी उपाय नहीं अपनाया जाय तो इस स्थिति का देश की अर्थव्यवस्था एवं विदेशी व्यापार पर

बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि निर्यात कम होते जायेंगे और आयात बढ़ते जायेंगे। अतः दोनों में से कोई न कोई उपाय करना आवश्यक है। प्रायः पहला उपाय सरल व लाभदायक नहीं होता। अतः दूसरा उपाय ही अपनाया जाता है अर्थात् मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संदर्भ में अवमूल्यन के लाभ :

अवमूल्यन करने से जो लाभ होते हैं वे सदा ही नहीं बने रहते। करैन्सी का अवमूल्यन करने के लाभ कुछ ही समय तक अर्थात् तब तक मिलते हैं जब तक कि घरेलू एवं विदेशी दोनों ही बाजारों में लागत मूल्य संरचनायें (Cost price Structures) अवमूल्यन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई नवीन विनिमय समता के अनुसार अपने को समायोजित न करलें। साधारणतः अवमूल्यन के लाभदायक फल दो या तीन वर्ष तक मिलते रहते हैं। इस प्रकार अवमूल्यन की नीति अवमूल्यन करने वाले देश को, अन्य देशों की तुलना में अपने देश की लागत मूल्य संरचना का सुधार करने के हेतु (जिससे उसके भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता का स्थायी स्वभाव दूर हो जाये) केवल सांस लेने भर की मोहलत देती है। अवमूल्यन का तात्कालिक प्रभाव यह होता है कि अवमूल्यन करने वाले देश के निर्यात बढ़ने लगते हैं और उसके आयात घटने लगते हैं। इसका एक कारण यह है कि आन्तरिक मूल्यस्तर उस देश में वही रहता है जो कि अवमूल्यन के पहले था, अतः अवमूल्यन का प्रभाव उन्हें विदेशी करैन्सी के रूप में सस्ता बना देता है, क्योंकि उस विदेशी देश की मुद्रा, जिसके सम्बन्ध में अवमूल्यन किया गया था, स्वदेश (अवमूल्यन करने वाले देश) की पहले की अपेक्षा अब अधिक करैन्सी प्राप्त कर सकती है। इसी प्रकार, यदि विदेशी देश में लागत-मूल्य संरचना पहले के समान ही बनी रही, तो अवमूल्यन के प्रभाव स्वरूप विदेशी करैन्सी (तथा विदेशी माल भी) पहले से अधिक महंगा मिलेगा, जिससे आयात निरुत्साहित होंगे। इस प्रकार अवमूल्यन से अवमूल्यन करने वाले देश के विदेशी व्यापार को लाभ होता है।

किन्तु अवमूल्यन की नीति तभी सफल हो सकती है, जबकि निम्न शर्तों का पालन हो—(1) अवमूल्यन के पश्चात् अवमूल्यन करने वाले देश की लागत-मूल्य संरचना में कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिये। यदि उस देश में कीमतों में वृद्धि हो जानी है, तो जिस सीमा तक वृद्धि होगी उस सीमा तक अवमूल्यन का लाभदायक प्रभाव कम हो जायगा। (2) अवमूल्यन की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि अन्य देश जिनकी करैंसियों की तुलना में अवमूल्यन किया गया है, अवमूल्यन करने वाले देश की नीति का समर्थन करें अर्थात् उस नीति के प्रभाव को अपने प्राशुल्किक उपायों द्वारा निष्प्रभावित करने की चेष्टा न करें। (3) अवमूल्यन की सफलता बहुत कुछ विदेशी विनिमय से सम्बन्धित माँग व पूर्ति की लोच पर निर्भर होती है। यदि लोच बहुत कम हो, तो अवमूल्यन या तो भुगतान तुला में संतुलन

स्थापित करने में असमर्थ रहेगा अथवा संतुलन स्थापित कर सकने के लिये काफी अधिक मात्रा में अवमूल्यन करने की आवश्यकता पड़ेगी ।

☞ **Q. 24. Explain the circumstances which led to the recent devaluation of sterling and examine the propriety of the devaluation of its successful working.**

स्टर्लिंग का अवमूल्यन—कारण एवं औचित्य

18 सितम्बर सन् 1949 को इङ्गलैंड के तत्कालीन फायनेन्स मिनिस्टर श्री स्टेफोर्ड क्रिप्स ने पौंड स्टर्लिंग का मूल्य 4·03 डॉलर से घटाकर 2·80 डॉलर करने की घोषणा की । यह घोषणा बहुत अकस्मात् एवं असाधारण हुई, क्योंकि 30% अवमूल्यन की आशा नहीं की जाती थी । अतः इस घोषणा के कारण संसार आश्चर्य में रह गया और उसे बहुत धक्का लगा ।

किन्तु विश्व के अधिकांश अर्थशास्त्रियों ने इंगलैंड के इस कदम का समर्थन किया । मुद्रा कोष के अधिकारियों ने भी इसे पूर्ण कानूनी व उचित कहकर सराहा ।

प्रायः शंका की जाती है कि सन् 1931 में तो मैक्समिलन कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में स्टर्लिंग का 10% अवमूल्यन करने को भी अनुचित बताया था, तब सन् 1949 में स्टर्लिंग का 30% तक अवमूल्यन करने को कैसे उचित ठहराया जा सकता है ? वास्तव में इस नीति-भिन्नता का कारण यह है कि सन् 1931 की परिस्थितियाँ सन् 1949 की परिस्थितियों से बहुत भिन्न थीं । अतः उनके उपचारों में भी भिन्नता होना स्वाभाविक है ।

सन् 1931 में इंगलैंड की परिस्थितियाँ—

मैक्समिलन कमेटी नवम्बर सन् 1929 में निम्न उद्देश्यों से नियुक्त की गई थी :—(i) बैंकिंग फाइनेन्स और क्रेडिट की व्यवस्था की जाँच-पड़ताल करना; (ii) इनके संचालन पर प्रभाव डालने वाले आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटकों का अध्ययन करना; तथा (iii) इनके सुधार के लिये सुझाव देना ताकि वे व्यापार व वाणिज्य और रोजगार की उन्नति में सहायक हो सकें, कमेटी ने अपनी रिपोर्ट सन् 1931 में प्रस्तुत की, जिसमें उसने सन् 1929—30 की भयंकर मन्दी के कारणों की चर्चा की है और कीमतों में परिवर्तनों को रोकने की समस्या के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण झुकाव दिये हैं । कमेटी ने यह मत प्रकट किया कि मन्दी की समस्या को अवमूल्यन द्वारा हल नहीं किया जा सकता । जिन परिस्थितियों में कमेटी ने यह मत प्रकट किया उनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है ।

सन् 1925—31 के काल में सारे संसार में मूल्य बड़ी तेजी से गिर रहे थे । आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान टूट गये या टूटने वाले थे, क्योंकि स्वर्णमान देशों के स्वर्ण कोष खाली होते जा रहे थे । मुद्रा संकुचन एवं आय व रोजगार में गिरावट

के कारण इतने बड़े पैमाने पर बेरोजगारी उत्पन्न हो गई थी जो कि पहले कभी अनुभव नहीं की गई थी। ब्रिटेन को निम्न तीन विशेष कारणों से अन्य देशों की अपेक्षा अधिक हानि उठानी पड़ती थी :—

(i) सन् 1925 में भी जबकि इंगलैंड ने स्वर्णमान पुनः अपनाया था, पौंड स्टर्लिंग की विनिमय-समता अधिमूल्यित थी।

(ii) ब्रिटेन उन थोड़े से देशों में था जहाँ कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कस्टम करों का बन्धन न था। यहाँ तक कि अनेक देशों के लिये तो इंगलैंड माल बेचने के लिये एक सर्वोत्तम बाजार बना हुआ था। और,

(iii) एक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त केन्द्र होने के कारण लन्दन में स्टर्लिंग क्षेत्र की व अन्य देशों की करैन्सियों के रिजर्व रखे रहते थे। मन्दी एवं व्यापारिक संकट के प्रारम्भ होने पर इन देशों ने लन्दन से अपने रिजर्व निकालने आरम्भ कर दिये जिनकी पूर्ति के लिये लन्दन के स्वर्ण भंडार खाली होने लगे।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये उन दिनों भाँति-भाँति के सुझाव दिये गये। अनेक लोगों का मत था कि स्वर्णमान को जारी रखा जाय, क्योंकि यदि अपरिवर्तनीय करैंसी को अपनाया गया, तो ब्रिटेन में भी वैसी ही महान् मुद्रा प्रसारिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायेंगी जैसी कि जर्मनी व अन्य यूरोपीय देशों में युद्धोत्तर काल में हुई थीं। चूँकि युद्ध पूर्व की समता पर स्वर्णमान को अपनाने के कारण इस समय पौंड स्टर्लिंग अधिमूल्यित (Overvalued) हो गया था; अतः पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन की माँग की गई। अर्थात् स्टर्लिंग की स्वर्ण-समता में संशोधन करना आवश्यक समझा गया। यह कदम इस आधार पर उचित ठहराया जाता था कि यदि इंगलैंड पौंड-स्टर्लिंग की स्वर्ण-समता में 10% की कमी कर दे, तो इससे निर्यात करने वाले उद्योगों तथा उन उद्योगों को भी जिन्हें देश में आयातित माल से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ती है, सफलतापूर्वक विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने में सहायता मिलेगी।

किन्तु इस प्रस्ताव को कमेटी ने बिना किसी झिझक के अस्वीकार कर दिया। क्योंकि यकायक और बिना पूर्व सूचना के किसी सरकार द्वारा अपने देश की करैंसी का अवमूल्यन कर देना स्पष्ट रूप से एक अनुचित एवं अबुद्धिमत्तापूर्ण कदम है। कमेटी ने यह भी कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय, व्यापार, वाणिज्य एवं वित्त सब विश्वास पर निर्भर होते हैं और विश्वास की एक आधारशिला यह सामान्य धारणा है कि सभी देश यथाशक्ति अपनी राष्ट्रीय करैंसियों का मूल्य, जो कि कानून द्वारा निश्चित हो गया है कायम रखेंगे तथा जब कोई मूल्य-ह्रास वास्तव में घटित हो जाय, तभी वे उसको वैधानिक मान्यता देंगे, अन्यथा नहीं।

निस्सन्देह कमेटी ऐसे अनेक उदाहरणों से परिचित थी जब कि युद्धकालीन विभीषिकाओं के कारण अथवा नीति सम्बन्धी त्रुटियों या मूल्यों की अत्यधिक गिरावट

के कारण करेन्सियाँ समता से इतनी नीचे गिर गई थीं कि उन्हें पुनः समता के स्तर पर लौटाना सामाजिक दृष्टि से बहुत अन्यायपूर्ण होता अथवा राष्ट्र को बड़ा परिश्रम एवं त्याग करना पड़ता, जिसके लिये किसी पर्याप्त क्षतिपूर्ति की आशा नहीं की जा सकती थी। सन् 1925 में इंगलैंड की स्थिति बिल्कुल इसी स्वभाव की थी। सन् 1925 से पूर्व के वर्षों में ब्रिटिश करेंसी का मूल्य-ह्रास होता गया था। अतः समस्त संसार को स्पष्ट था कि पौंड स्टलिंग को समता पर पुनः स्थिर करना राष्ट्रीय हित या अहित की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतः यदि उस समय इंगलैंड ने स्टलिंग की समता दर को घटा दिया होता, तो उसने उचित ही किया होता। लेकिन यदि ब्रिटेन 1931 में अवमूल्यन का निर्णय करता है, तो यह पुरानी नीति से भिन्न एक नई नीति होगी। निस्सन्देह जब विश्व के सबसे बड़े लेनदार देश की सरकार जान-बूझकर और वह भी एक सुनियोजित नीति के रूप से किसी प्रातः को यह घोषणा करती है कि उसने कानूनन अपनी करेन्सी का मूल्य घटा दिया है तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-संसार (Financial World) को बहुत ठेस पहुँचेगी।

मैक्समिलन कमेटी ने मन्दी के काल में अवमूल्यन के प्रभावों का विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी के वातावरण में 10% अवमूल्यन का कोई सुपरिणाम निकलने की संभावना नहीं है। यही कारण है कि कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि "ऐसा असाधारण उपाय (जैसे कि स्टलिंग का अवमूल्यन) करने से संकट और कठिनाइयों का जो वातावरण हो जायगा और जो परिस्थितियाँ बनेंगी वे उन परिस्थितियों से भी खराब होंगी जो कि इसके पहले विद्यमान थीं।"

अतः मैक्समिलन कमेटी ने अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों को उठाने और आन्तरिक स्थिरता लाने के हेतु अन्य उपायों का सुझाव दिया।

सन् 1949 की परिस्थितियाँ :

इसके विपरीत सन् 1949 में जिन परिस्थितियों के कारण अवमूल्यन की नीति अपनाई गई, वह उपरोक्त परिस्थितियों से बिल्कुल भिन्न थी। उस समय विश्व में कहीं भी व्यापारिक संकट न था। कीमतें उच्च स्तर पर चल रही थीं और वास्तविकता तो यह है कि अनेक देशों में तो कीमतों के और भी अधिक बढ़ जाने की प्रवृत्ति हो रही थी, क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं की बड़ी कमी थी। अन्य अनेक देशों की भाँति इंगलैण्ड भी भुगतान संतुलन की भारी प्रतिकूलताओं से गुजर रहा था। तथा डॉलर का बहुत अभाव था। यद्यपि यह संकट उसके लिये नया न था तथापि अब वह बहुत भयंकर रूप धारण कर गया था।

डॉलर संकट के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :—

(i) ब्रिटेन द्वारा युद्ध कार्यों के लिये विशाल मात्रा में ऋण लिये गये थे। अमेरिका ने उसे वस्तुओं व धन की बहुत सहायता की थी, अब (युद्ध

समाप्त होने पर) अमेरिकन सिक्कों में ही लौटाना आवश्यक हो गया था।

(ii) जबकि युद्ध के पश्चात् अमेरिका एक बहुत समृद्ध व शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ, इंगलैण्ड बड़ी जर्जरित अवस्था में रह गया। उसे पुनर्वास के लिये विदेशों से (विशेषत: अमेरिका से) भारी आयातों की आवश्यकता थी और निर्यात करना वर्तमान स्थिति में उसके लिये संभव न था। अत: डॉलर का संकट बढ़ गया।

(iii) भारत, बर्मा व अन्य पूर्वी देशों ने ब्रिटिश सेनाओं को सामग्री सप्लाई की थी। इसका भुगतान इंगलैण्ड ने नगद न करके उनके खातों में, जोकि उसके यहाँ खुले हुये थे, स्टर्लिंग राशि क्रेडिट कर दी। इस प्रकार इन देशों का बहुत-सा स्टर्लिंग ऋण इंगलैण्ड पर जमा हो गया। जब युद्ध समाप्त हुआ, तो इन देशों ने इंगलैंड से अपने स्टर्लिंग पावने को डॉलरों में परिवर्तित करने का अनुरोध किया।

इस डॉलर संकट को दूर करने के लिये इंगलैण्ड ने कई उपाय किये, जैसे :—(i) उसने अमेरिका में अपने डॉलर विनियोगों को बेच दिया; (ii) अमेरिका से ऋण और आर्थिक सहायताएं विभिन्न कार्यक्रमों के अन्तर्गत (जैसे मार्शल योजना) प्राप्त की; तथा (iii) स्टर्लिंग ऋणों को धीरे-धीरे चुकाने की नीति अपनाई। किन्तु ये उपचार अधिक सफल सिद्ध न हुए और वे डॉलर संकट का केवल अस्थाई उपाय मात्र थे। उसका आयात निर्यातों की अपेक्षा दिनों दिन बढ़ता रहा था।

अमेरिका, कनाडा व अन्य दुर्लभ मुद्रा के देशों को निर्यात बढ़ाने लिये यह आवश्यक था कि इङ्गलैण्ड में लगान व मूल्य काफी नीचे किये जायँ। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इंगलैण्ड में मुद्रा प्रसार का विषम चक्र घूम रहा था, जिससे मजदूरी, ब्याज व लगान में कोई गिरावट नहीं हो पाई। फलत: न तो निर्यात बढ़े और न आयातों में ही कोई कमी आई, जिससे भुगतान संतुलन की प्रतिकूलता बनी रही।

इसके अतिरिक्त सट्टेबाज पौंड स्टर्लिंग के अधिमूल्यन के सम्बन्ध में अटकलबाजियाँ कर रहे थे। पूंजी विदेशों को भागने की प्रवृत्ति दिखा रही थी (विशेषत: अमेरिका को) क्योंकि लोगों को पौंड स्टर्लिंग के अवमूल्यन का भय हो गया था। कुछ समय तक ब्रिटेन ने इस समस्या को विनिमय नियंत्रणों द्वारा ठीक रखने का यत्न किया लेकिन ये नियंत्रण थोड़े ही समय के लिये लगाये जा सकते थे क्योंकि ब्रिटेन मुद्रा-कोष का सदस्य भी था। अतः भुगतान संतुलन की स्थिति में सुधार करने का एकमात्र उपाय यही रह गया था कि पौंड स्टर्लिंग का अवमूल्यन किया जाय।

सितम्बर सन् 1949 में जो संकट उत्पन्न हुआ उसने तो ब्रिटिश सरकार को ऐसी स्थिति में रख दिया कि उसके सम्मुख कोई अन्य विकल्प नहीं रहा। सितम्बर तक ब्रिटेन के स्वर्ण व डॉलर कोष घट कर केवल 1,340 मि० डॉलर रह गये थे जो कि अगस्त 1938 की अपेक्षा $\frac{1}{3}$ से भी कम थे। क्रय-शक्ति के दृष्टिकोण से तो ये अपने

युद्ध पूर्व स्तर के केवल 17% कोष के बराबर ही थे। गत छः महीनों में ही उनमें 572 मि० डॉलर की (अर्थात् लगभग 30%) कमी आ गई थी। कोष सम्बन्धी यह उपस्थिति इतनी संकट पूर्ण थी कि ब्रिटिश सरकार को अपनी स्थिति बनाये रखने में अधिक समय खोने की गुन्जाइश न थी और वह अवमूल्यन की घोषणा करने के लिये विवश हो गई। इस प्रकार **संक्षेप में यह कह सकते हैं कि सन् 1949 में डॉलर सम्बन्धी कठिनाइयों ने वह मौद्रिक संकट उत्पन्न कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि पौंड स्टर्लिङ्ग के मूल्य में 30% की कमी करनी पड़ी।**

सन् 1931 एवं सन् 1949 की परिस्थितियों में भेद (अवमूल्यन का औचित्य) :

सन् 1931 में मैक्समिलन कमेटी ने पौंड स्टलिंग का अवमूल्यन 10% तक करने के सुझाव को अस्वीकृत कर दिया था जबकि 1949 में ब्रिटिश सरकार ने स्टलिंग का 30 तक अवमूल्यन कर दिया। लेकिन अब हमने यह देख लिया कि इस भिन्नता का कारण उन परिस्थितियों में निहित है जो उन दो अवधियों में विद्यमान थीं। सन् 1930 में समस्या व्यापारिक संकट और विश्वव्यापी कीमतों की गिरावट की थी। यह संकट अमौद्रिक एवं मौद्रिक दानों ही प्रकार के घटकों का परिणाम था। मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होना तो एक मामूली घटक था। यदि ब्रिटेन ने अन्य अनेक देशों की अपेक्षा कुछ अधिक नुकसान उठाया, तो इसके कुछ अतिरिक्त कारण थे। अत: उस समय उचित मार्ग एक ऐसा उपाय करना था जिससे आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में सुधार हो न कि अवमूल्यन करना, क्योंकि यदि इंगलैण्ड अवमूल्यन कर देता, तो यह सम्भव था कि अन्य देश भी वैसा ही कर देते। इसके विपरीत, सन् 1949 में पौण्ड की समस्या विनिमय दर की थी, जो कि अधिमूल्यित था। यद्यपि डॉलर का अभाव प्रत्यक्ष रूप से पौण्ड स्टलिंग के अधिमूल्यित होने के कारण न था, तथापि द्वितीय महायुद्ध के प्रभाव से उद्धार पाने तथा जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त करने के लिये अमेरिकी माल पर अत्यधिक निर्भरता के कारण ही डॉलर संकट उत्पन्न हुआ। अत: यह अनुभव किया गया कि डॉलर के अभाव को कम करने के अन्य उपायों के अलावा एक प्रभावशाली उपाय स्टलिंग का मूल्यन करना भी है।

☞ Q. 25. What have been the effects of the devalution of Indian Rupee in 1949 ? Would you advocate further devaluation ?

भारतीय रुपये का अवमूल्यन एवं पुनर्मूल्यन

भारत द्वारा रुपये का अवमूल्यन एवं इसके कारण :

18 दिसम्बर सन् 1949 को इंगलैंड ने पौंड स्टलिंग का मूल्य 4·03 डॉलर से घटा कर 2·80 डॉलर करने की घोषणा की। भारत ने भी 20 सितम्बर 1949 को रुपये के अवमूल्यन की घोषणा की अर्थात् इंगलैंड के समान ही उसने भी डॉलर एवं स्वर्ण-मूल्य 30% घटा दिये। इससे रुपये के स्टलिंग मूल्य में तो कोई परिवर्तन

नहीं हुआ लेकिन उसका डॉलर मूल्य 30·225 सैंट से घट कर 21 सैंट रह गया। भारत ने यह अवमूल्यन क्यों किया, इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(1) स्टर्लिंग क्षेत्र के नियमों का पालन—यद्यपि रुपये का स्टर्लिंग से सन् 1947 में सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका था तथापि स्टर्लिंग क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण सदस्य होने के नाते व्यवहार में रुपये का स्टर्लिंग से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वह 'पत्नी नहीं तो मित्र तो था ही'। अतः नैतिक दृष्टि में रुपये को स्टर्लिंग क्षेत्र के नियमों का पालन करना आवश्यक था। यही कारण है कि जब स्टर्लिंग का डॉलर और स्वर्ण मूल्य कम किया गया, तो भारत को भी रुपये का डॉलर एवं स्टर्लिंग मूल्य कम करना पड़ा।

(2) निर्यात व्यापार की रक्षा—भारतीय रुपये का इंगलैंड के बराबर अवमूल्यन करने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि उसका 75% व्यापार स्टर्लिंग क्षेत्र के साथ होता था। भारत के बहुत से प्रतियोगी थे जो इस क्षेत्र में ही व्यापार करते थे। इन सबने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया। यदि भारत भी ऐसा न करता, तो उसके निर्यातों का मूल्य बढ़ जाता जबकि उसके प्रतियोगिता के निर्यातों का मूल्य घट गया था। ऐसी स्थिति में भारत का माल विदेशों में नहीं बिकता जिससे भुगतान संतुलन और भी बिगड़ जाता।

(3) पौंड पावनों के मूल्य की स्थिरता—अवमूल्यन का एक अन्य कारण यह भी था कि यदि भारत ऐसा न करता, तो पौंड पावनों (Sterling Balances) का मूल्य बहुत ही कम रह जाता। अतः इस हानि को बचाने के लिये भी अवमूल्यन करना उचित उपाय था।

(4) डॉलर संकट समाधान—सन् 1946 से भारत को भी डॉलरों की कमी अनुभव होने लगी थी और यह कमी प्रतिवर्ष बढ़ती जा रही थी। इस कमी को पूरा करने के लिये भारत ने कई उपाय किये, जैसे—(i) स्टर्लिंग पावनों को डॉलर में बदलवाया, (ii) विश्व कोष से ऋण लिया, तथा (iii) अमेरिका से भी सहायता ली। इतने पर भी भारत अपने डॉलरों की कमी को पूर्ण न कर सका। अतः उसने भी पौंड की भाँति अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया।

(5) भुगतान-संतुलन की विषमता का सुधार—सरकार द्वारा सन् 1949 में अवमूल्यन करने का यह अकेला सबसे मजबूत तर्क था। इसी वर्ष में हमारा भुगतान-संतुलन बहुत प्रतिकूल हो गया था, क्योंकि हमारी मूल्य-संरचना अपेक्षतः अधिक ऊँची था, जिससे देश के निर्यातों में कमी होती जा रही थी और भुगतान-संतुलन की विषमता बढ़ती जा रही थी। अतः इस विषमता का सुधार करने के लिये भी अवमूल्यन किया गया।

अवमूल्यन के प्रभाव :

सुपरिणाम—अवमूल्यन से भारत को निम्न तात्कालिक लाभ हुए—**(1) भुगतान संतुलन में सुधार**—जबकि सन् 1948-49 में भुगतान-संतुलन में भारत को घाटा

183·45 करोड़ रुपया था, वह सन् 1949-50 में 118·89 करोड़ तथा सन् 1950-51 में केवल 22·1 करोड़ रुपये का रह गया। (2) **पौंड पावनों के व्यय से अधिक लाभ**—अवमूल्यन के पश्चात् भारत ने अपने पौंड पावनों का जितना भाग डॉलर क्षेत्र में व्यय किया उसका मूल्य 30·5% कम हो जाने से उसे उतना ही लाभ अधिक हुआ।

दुष्परिणाम—किन्तु ये लाभ बहुत समय तक नहीं रहे। शीघ्र ही अवमूल्यन की हानियाँ सामने आने लगीं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—(1) **भुगतान-संतुलन में पुनः घाटा**—भुगतान-संतुलन की विषमता में सुधार का प्रभाव अधिक स्थाई नहीं रहा। अगले ही वर्ष अर्थात् सन् 1951-52 में यह घाटा पुनः बढ़ गया और लगभग 208·63 करोड़ रुपये था। इसका कारण यह था कि भारत के आयात खाद्यान्न, कच्चे माल तथा पूँजीगत सामान के थे, जिनकी माँग बेलोचदार थी। अतः भारत उन्हें कम न कर सका। (2) **आंतरिक मूल्य-स्तर में उठान**—अवमूल्यन के साथ-साथ मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति में अधिक वृद्धि के दो कारण थे—(अ) अवमूल्यन के कारण निर्यातों में वृद्धि हो गई और (आ) जो भी आयात आवश्यक था वह तो करना ही पड़ा किन्तु पहले से अधिक मूल्य पर क्योंकि अवमूल्यन के परिणामस्वरूप ही आयात भी मंहगे हो जाते हैं। इस प्रकार मुद्रा प्रसार तेजी से होने लगा। (3) **विदेशी ऋण के भार में वृद्धि**—भारत ने विश्व बैंक से जो ऋण लिया है उनका रुपया मूल्य बढ़ गया। (4) **आर्थिक विकास में बाधा**—हमें आर्थिक विकास के लिये पूंजीगत सामान चाहिए जो मुख्यतः अमेरिका से मिल सकता है। किन्तु अवमूल्यन के कारण अमेरिका एवं डॉलर क्षेत्र के अन्य देशों से इन वस्तुओं का आयात अब मंहगा पड़ने लगा, जिससे देश के आर्थिक विकास में बाधा पड़ी। कुछ विकास योजनायें तो स्थगित भी करनी पड़ गईं। (5) **भारत-पाक व्यापारिक सम्बन्धों में खिचाव**—पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया, इसलिये पाक-मुद्रा का मूल्य बढ़ गया और पाकिस्तान की वस्तुओं के लिये भारत को 44% अधिक दाम देने पड़े। अतः भारत ने वहाँ से कच्चा जूट और कपास मंगाना बन्द कर दिया। इसमे जूट व कपड़ा उद्योगों में लागत बढ़ गई तथा इनका उत्पादन कम हो गया।

अवमूल्यन की हानियों को दूर करने के उपाय :

सन् 1949 में सरकार ने अवमूल्यन के कुप्रभावों को दूर करने के लिए एक आठ सूत्री योजना (The Eight Point Programme) पर अमल करना आरम्भ किया। इसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(1) सरकार ने आयातों पर नियंत्रण लगाये। (2) विदेशों से सौदा करने की शक्ति में वृद्धि करने के प्रयास किये। (3) साख एवं सट्टे पर भी नियन्त्रण लगाया। (4) निर्यात के लाभ पर कुछ कर लगाया ताकि प्राइवेट लाभ का कुछ भाग सरकार के पास लौट आये। (5) घरेलू पूंजी के निर्माण को प्रोत्साहन दिया। (6) करों की वसूली में निश्चितता व शीघ्रता लाने के प्रयास किया। (7) सरकार ने अपने व्ययों में भी कमी करने का प्रयास किया। (8) कुछ ऐसे उपाय भी किये जिनसे आन्तरिक कीमतों के उतार में सहयता मिले।

भारतीय रुपये का पुनर्मूल्यन :

भारत में पंचवर्षीय योजनायें कार्यान्वित की जा रही हैं और इनके लिये आवश्यक पूंजी व सामान का आयात किया जा रहा है। साथ ही खाद्यान्न की कमी होने पर इसे भी आयात करना पड़ता है। दूसरी ओर हमारे निर्यात अधिक नहीं बढ़ पा रहे हैं अतः हमारा भुगतान-संतुलन हमारे बहुत प्रतिकूल रहता है तथा विदेशी विनिमय का संकट अपने उग्रतम रूप में उपस्थित है, इस संकट को दूर करने के लिये सरकार ने कई उपाय किये हैं, जैसे—(i) आयात पर कड़ा नियन्त्रण (ii) निर्यात को प्रोत्साहन, (iii) मित्र राष्ट्रों व अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सहायता एवं (iv) विलम्बित भुगतानों पर आयात की व्यवस्था। किन्तु अनेक अर्थशास्त्रियों ने कुछ समय पूर्व यह मत प्रकट किया था कि उपरोक्त उपाय अधिक कारगर न हो सकेंगे, क्योंकि हमारे भुगतान-संतुलन में एक मौलिक असंतुलन (Fundamental disequilibrium) पैदा हो गया है। इसके समाधान के लिये वे रुपये का और अधिक अवमूल्यन करने का सुझाव देते हैं।

अधिक अवमूल्यन करने के पक्ष में तर्क—रुपये के अधिक अवमूल्यन या पुनर्मूल्यन के पक्ष में उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(1) रुपये की वर्तमान दर अवास्तविक है—अवमूल्यन का सुझाव इस आधार पर किया जाता है कि मुद्रा प्रसार ने रुपये की विनिमय दर को अवास्तविक बना दिया है। अतः प्रत्येक विदेशी को, जिसे भारत को निर्यात द्वारा अथवा भारत में अपनी पूंजी व सम्पत्ति के विकास द्वारा भारतीय द्वारा प्राप्त होता है, उसे 18 पैंस प्रति रुपया मिल सकते हैं। यदि रुपये को उसके संतुलन (Equilibrium rate) पर मूल्यित किया गया होता, तो उसे इससे बहुत कम मिलता।

(2) विदेशी विनिमय कोष पर बहुत दबाव पड़ रहा है—अधिक अवमूल्यन करने के समर्थक देश के विदेशी विनिमय कोषों पर पड़ते हुए दबाव की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। 1952 के बाद व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता बढ़ती जा रही है और इससे हमारे विदेशी विनिमय कोष तक खाली होते जा रहे हैं। अतः उनका कहना है कि हमें मुद्रा का अवमूल्यन कर देना चाहिये, जिससे निर्यात बढ़ें और आयात कम हों। इससे हमारी विदेशी विनिमय सम्बन्धी स्थिति काफी सुधर जायेगी।

(3) व्यापार की शर्तों में सुधार—अवमूल्यन का इस आधार पर भी समर्थन किया जाता है कि इससे हमारी व्यापार की शर्तों (Terms of Trade) में उसी प्रकार फिर सुधार हो जायगा जिस प्रकार की सितम्बर 1949 के अवमूल्यन के पश्चात् हुआ था।

लंदन के फाइनेन्सियल टाइम्स के कालम-लेखक श्री लोम्बार्ड (Lombard) ने भी अवमूल्यन का सुझाव रखा था, जिससे कि भारत अपने पौंड पावनों को गिरने से रोक सके और निर्यात को बढ़ा सके, इसके विपरीत प्रोफेसर शिनोय (Prof.

Shenoy) का मत है कि रुपये को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय और अन्य मुद्राओं की तुलना में यह अपनी शक्ति अपनी विनिमय दर के अनुसार स्वयं तय कर लेगा।

अब अधिक अवमूल्यन करने से भारत को कुछ लाभ नहीं होगा—अवमूल्यन के अपने विशेष लाभ हैं इससे हमें कोई इन्कार नहीं। किन्तु देखना यह है कि भारतीय परिस्थितियों में, जैसी कि वे इस समय विद्यमान हैं उससे कोई लाभ हो सकता है या नहीं।

(1) भुगतान-संतुलन में सुधार की आशा व्यर्थ है—सर्व प्रथम भुगतान संतुलन को ही लीजिये। यदि रुपये का मूल्य आधा और कम कर दिया जाय, तो हमारे निर्यातों का मूल्य आधा रह जायगा जबकि आयातों का मूल्य दुगुना हो जायगा, ऐसी स्थिति में, यदि हम अपने आयात आधे और निर्यात दूने कर सकें, तो भुगतान-संतुलन हमारे पक्ष में हो सकता है। किन्तु यह कठिन मालूम पड़ता है कि मूल्य कम होने पर निर्यात दुगने हो जायेंगे, क्योंकि हमारे निर्यात अधिकांश बेलोच प्रकृति के हैं। जहाँ तक आयातों का प्रश्न है उन पर तो हमारे देश में पहले ही कड़ा नियंत्रण है। यहाँ तक कि आवश्यकता के आयात भी कम रखे गये हैं और जो आयात होता है वह अधिकांशतः अत्यावश्यक पूँजी, वस्तुओं अथवा रुपये माल का है। अतः अधिक अवमूल्यन करके आयातों में और कमी कर सकने की आशा निरर्थक है। हाँ, इससे यह नुकसान हो जायगा कि हमारे आयात अब की अपेक्षा और अधिक मँहगे हो जायेंगे तथा हमारी विकास योजनाओं में बाधा पड़ जायेगी।

(2) भारत के पास निर्यात अतिरेक नहीं है—निर्यात बढ़ाने के लिये भारत के पास आधिक्य होना चाहिये जिससे मूल्य कम होने पर वह विदेशों को भेजा जा सके। किन्तु भारत में तो पहले ही वस्तुओं का बहुत अकाल है और आन्तरिक उपभोग में बड़ी बाधा पड़ रही है।

(3) मूल्य-स्तर और भी बढ़ जायेगा—यदि और अधिक अवमूल्यन किया गया, तो मूल्य-स्तर जो पहले से ही काफी ऊँचा है और अधिक ऊँचा हो जायगा। इससे रहन-सहन की लागत भी बढ़ जायगी। इसका सम्पूर्ण भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(4) अन्य देश भी अवमूल्यन कर सकते हैं—यदि भारत अवमूल्यन कर सकता है, तो अन्य देश भी ऐसा कर सकते हैं। जिस प्रकार प्रथम महायुद्ध के बाद प्रतियोगी विनिमय अवमूल्यन प्रारम्भ हो गया था उसी प्रकार अब भी हो सकता है। यदि ऐसा हुआ तो विभिन्न देशों की तुलनात्मक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

(5) भारत में मूल्य-स्तर अन्य देशों के मुकाबिले में ऊँचा नहीं है—इस कारण से भी अवमूल्यन करना आवश्यक है। यद्यपि भारत की मुद्रा के मूल्य में सन् 1947 से 29% की गिरावट हुई है तथापि अन्य देशों की मुद्राओं के मूल्य में भी इतनी ही गिरावट हुई है। इसी समय में इङ्गलैंड, अमेरिका व फ्रांस के मौद्रिक मूल्यों में क्रमशः 46%, 19% और 96% की कमी हुई।

अतः अवमूल्यन से कोई लाभ नहीं है। वास्तव में मौद्रिक समस्या को हल करने के लिये उसका मूल्य जानना चाहिये। यूरोप के देशों ने इस समस्या को आन्तरिक व्यय पर नियन्त्रण रख कर ठीक किया है। हमें भी अपने गैर विकास व्यय (Non Developmental Expenditure) को कम करके विनियोगों की मात्रा में वृद्धि करनी चाहिये। जनता को भी चाहिये कि अपना खर्च कम करके बचत अधिक करे।

☞ **Q. 26. Do you advocate stable or a flexible rate of foreign exchange of a country ? Discuss their Comparative merits and demerits.**

स्थिर एवं लोचदार विनिमय दरें
(Fixed and Flexible Exchange Rates)

"बहुत समय से विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि स्थिर एवं लोचदार विनिमय दरों में से कौन-सी दर उत्तम है। वास्तव में, देश की आन्तरिक मौद्रिक नीति तथा विदेशी व्यापार की मात्रा उसकी विनिमय-दर पर बहुत कुछ आधारित है। विभिन्न समयों पर विभिन्न देशों ने अपनी परिस्थिति के अनुकूल स्थिर व लोचदार नीति को अपनाया है। उदाहरणार्थ सन् 1931 से पूर्व जब अधिकतर देशों ने स्वर्णमान को अपना रखा था, तब विनिमय-दर लगभग स्थिर थी। इसका मुख्य कारण यह था कि विनिमय दरों में स्वर्ण बिन्दुओं की सीमा बाहर परिवर्तन होना सम्भव ही नहीं था। परन्तु सन् 1931 के पश्चात् अधिकांश देशों ने स्वर्णमान को त्याग कर प्रतिबन्धित मान (Managed Currency) को अपनाना प्रारम्भ कर दिया। परिणामस्वरूप विनिमय दरों में बहुत अधिक उच्चावचन होने लगे जिसके कारण अन्तरिक व्यवस्था व विदेशी व्यापार दोनों ही बुरी तरह प्रभावित हुए। अतः स्थिर अथवा लोचदार विनिमय दरों को अपनाने के गुणों और अवगुणों पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि दो वस्तुओं में से उत्तम वस्तु सुगमतापूर्वक भी छाँटी जा सकती है जबकि हम उनके गुणों ओर दोषों से परिचित हो जायें।

लोचदार विनिमय दरों के गुण दोष :

लोचदार विनिमय दर के समर्थकों के अनुसार लोचदार विनिमय के निम्नांकित लाभ हैं :—

(1) देश के लिये एक स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाना संभव—लोचदार विदेशी-विनिमय-दर के अन्तर्गत एक देश की अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तनों का प्रभाव अन्य देशों की आर्थिक व्यवस्था पर नहीं पड़ता है; अतः प्रत्येक देश अपनी स्वतन्त्र आर्थिक नीति अपनाने में सफल हो जाता है। चूँकि लचीली विदेशी विनिमय-दर के कारण पर अन्य देशों की आर्थिक अवस्थाओं के परिवर्तन का (अर्थात् तेजी मन्दी का) कोई प्रभाव नहीं

पड़ता, इसलिये इस विनिमय दर को **'झटकों को सहन करने वाली'** (Shocks Absorber) के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, लोचदार विनिमय दर सुगमतापूर्वक परिवर्तित की जाने के कारण आर्थिक अवस्थाओं के प्रभावों से प्रभावित होने से वंचित रह जाती है।

(2) मौद्रिक नीति का उद्देश्य पूरा करने में सफलता— आधुनिक युग में मौद्रिक नीति का मुख्य उद्देश्य मूल्य व रोजगार में समन्वय स्थापित करना है जो लोचदार विनिमय दर से ही सम्भव है न कि स्थायी विनिमय से। देश की सरकार मूल्यों और बेरोजगारी पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करके विनिमय दर को बन्धन-मुक्त कर देती है। दूसरे शब्दों में, सरकार की आन्तरिक नीति के अनुसार ही विनिमय दर आवश्यकतानुसार कम या अधिक होती रहती है।

(3) देश की आवश्यकतानुसार अतिमूल्यन या अधिमूल्यन सम्भव—कभी-कभी विदेशी वस्तुओं को अपने देश में सस्ती करने के लिये (अथवा आयात को बढ़ावा देने के लिये) किसी देश विशेष को **अतिमूल्यन** (Overvaluation) करना हो या अपनी वस्तुयें विदेशों में सस्ती करने (अथवा निर्यात को बढ़ावा देने के उद्देश्य से) **अवमूल्यन** (Undervaluation) करना हो, तो यह लोचदार विनिमय दर के अन्तर्गत ही सम्भव है।

(4) मांग पूर्ति का सिद्धान्त लागू होना—अर्थशास्त्र का मांगपूर्ति का नियम प्रत्येक क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य करता है, जो विनिमय-दर के निर्धारण में भी सफलतापूर्वक कार्य कर सकता बशर्ते विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। **अतः, चूंकि मांगपूर्ति का सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण नियम है जो प्रत्येक क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य करता है तब विनिमय-दर के निर्धारण में भी विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़कर अर्थात् लोचदार विनिमय द्वारा इस नियम को कार्य करने देना चाहिये।**[1]

(5) शोधनाशेष (Balance of payment) में सुधार—चूंकि विदेशी विनिमय तथा देश की आन्तरिक अवस्था बहुत कुछ शोधनाशेष से प्रभावित होते हैं और शोधनाशेष में सन्तुलन लाना विनिमय दर का एक मुख्य कार्य है इसलिये इस सन्तुलन कर्ता (Equilibrator) को स्वचालित अथवा स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देना ही अधिक हित में है। अतः शोधनाशेष (Balance of payment) में सन्तुलन तभी

1. "There seems no valid reason to assume, as is commonly done, that while the principle of supply and demand functions fairly well in goods relationiships, it should not be allowed to operate, except within arbitrary restrictions, to determine the price of currencies." *(Whittess)*

स्थापित किया जा सकता है जब विदेशी विनिमय दर (Foreign Exchange rate) में समयानुकूल परिवर्तन होते रहें।[1]

लोचदार विदेशी विनिमय दरों के जहाँ उक्त लाभ हैं वहाँ इसके कुछ दोष भी हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है :—

(1) **आन्तरिक स्थिरता का विनाश**—**हाम (Halm)** के मतानुसार लोचदार विनिमय दर के अन्तर्गत निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिससे आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था प्रायः अस्त व्यस्त ही हो जाती है। यही नहीं, विनिमय दर के परिवर्तन आयात-निर्यात की वस्तुओं के मूल्य में भी परिवर्तन लाते रहते हैं।

(2) **मुद्रा का अस्थिर मूल्य**—एक दोष यह भी है कि इसमें मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं रह पाता। दूसरे शब्दों में, यदि विनिमय दर के परिवर्तन से एक देश की मुद्रा का मूल्य बढ़ता है तो दूसरे देश की मुद्रा का मूल्य घटता है। इससे विदेशी भुगतान करने में बहुत परेशानी का सामना करना पड़ जाता है, क्योंकि यदि एक देश के व्यापारी का लाभ होता है तो दूसरे को हानि भी उठानी पड़ जाती है।

(3) **सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन**—चूँकि विनिमय दरें अस्थिर होती हैं और वस्तुओं के मूल्यों में बहुत अधिक घट-बढ़ होती है, इसलिये सट्टे की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक है।

(4) **बेरोजगारी**—**हेबरलर (Haberler)** का कहना है कि चूँकि मुद्रा मूल्य में बार-बार कमी व वृद्धि होने के कारण सट्टेबाजों को भी अधिक लाभ अथवा अधिक हानि होती है इसलिये सट्टेबाज पूँजी को तरल रूप में रखना पसन्द करते हैं अर्थात् सट्टेबाज मुद्रा को जोड़कर (Hoard) रखना पसन्द करते हैं। इसका प्रत्यक्ष परिणाम होता है साख का संकुचन। साख-संकुचन से ब्याज दर मे वृद्धि होती है, ब्याज-दर में वृद्धि होने से विनियोजन की कमी और विनियोजन की कमी से बेरोजगारी फैलने लगती है और इससे आन्तरिक आर्थिक व्यवस्था कुप्रभावित होती है। इसलिये हाम के शब्दों में **"परिवर्तन होने वाली विनिमय दरों के प्रभावों से आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को पृथक् नहीं किया जा सकता।"**

(5) **दीर्घकालीन विदेशी-विनियोजन में कमी**—कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार जिनमें **गेयर (Gayer)**, **बर्नस्टीन (Bernstein)** तथा **हिल (Hill)** आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, लोचदार विनिमय दरों के अन्तर्गत दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन हतोत्साहित होता है क्योंकि ऋणी देश के आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था का ऋण-

---

1. "A growing understanding of the insufficiency of some of the older methods of ensuring a monetary balance has sometimes led to the conclusion that the only way of preventing a perpetuation of monetary disequilibrium on foreign account is to admit relatively frequent adjustments in exchange rates."

(*From 12th yearly report of Bank for International settlement.*)

दाता देश की ऋण देने व पूंजी विनियोजन सम्बन्धी नीतियों पर भी न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ा करता है। विदेशी दर में परिवर्तन होते रहने से ऋणदाता देश को विनियोजन की मात्रा तथा किस्म का ठीक प्रकार ज्ञान नहीं होने पाता।

स्थिर विनिमय दरों के गुण-दोष :

स्थिर विनिमय दरों के निम्न लाभ बताये जाते हैं :—

(1) आन्तरिक तथा बाह्य अर्थ-व्यवस्था स्थिर रहना—स्थिर विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत मुद्रा तथा वस्तुओं के मूल्यों में शीघ्र परिवर्तन नहीं होने पाते, इसलिये आयात-निर्यात पर भी काफी समय तक कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फलतः आन्तरिक तथा बाह्य अर्थ-व्यवस्था प्रायः स्थिर ही रहती है।

(2) सट्टे जैसी कुप्रवृत्तियों का विनाश— स्थिर विदेशी विनिमय दर में चूंकि वस्तुओं तथा मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं रहती, इसलिये सट्टेबाजी का प्रायः विनाश होने लगता है।

(3) बेरोजगारी की समस्या का समाधान—लोचदार विदेशी विनिमय दर के अन्तर्गत सट्टेबाज प्रायः पूंजी को तरल रूप में रखना चाहते हैं अर्थात् धन का संचय करते हैं, जिससे साख का संकुचन हो जाता है। साख का संकुचन होने से ब्याज दर में वृद्धि, तथा ब्याज दर में वृद्धि होने से विनियोजन में कमी होती है और फिर बेरोजगारी की समस्या जोर पकड़ती है। परन्तु स्थिर विनिमय दर में कोई भी धन को तरल रूप में रखना पसन्द नहीं करता। अतः साख का संकुचन होने के स्थान पर उसका प्रसार होता है, और ब्याज दर में कमी होती है जिससे विनियोजन के बढ़ने से रोजगार के अवसर अधिकाधिक विकसित होते हैं।

(4) दीर्घकालीन विदेशी विनियोजन को प्रोत्साहन—स्थिर विनिमय दर में दीर्घकालीन विदेशी विनिमय को प्रोत्साहन मिलता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वस्तुओं तथा मुद्राओं के मूल्यों में अपेक्षाकृत परिवर्तन कम होता है, जिस ऋण-दाता देश के विदेशी विनियोजन की मात्रा तथा किस्म के विषय में निश्चित ज्ञान होता है।

स्थिर विदेशी विनिमय दर के दोष निम्न प्रकार हैं :—

(1) स्वतन्त्रता का हनन— स्थिर विदेशी विनिमय दर में अन्य देशों की तेजी-मन्दी आदि सभी अवस्थाओं का प्रभाव स्वदेश की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है परन्तु वह उस प्रभाव से बचने के लिए अपनी विनिमय दर में परिवर्तन नहीं कर पाता।

(2) मूल्यों व रोजगार में स्थिरता नहीं आ पाती—स्थिर विदेशी विनिमय दर में आधुनिक युग के मौद्रिक नीति के उद्देश्य (मूल्यों व रोजगार में स्थायित्व लाना) का हनन हो जाता है। इसका कारण यह है कि स्थिर विनिमय दर की दशा में चूंकि विनिमय दर बन्धन-मुक्त रहती है अर्थात् विनिमय दर में आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं हो पाता इसलिये मूल्यों व रोजगार में स्थायित्व लाना भी कठिन ही होता है।

किन्तु, लोचदार विनिमय दर में देश विनिमय दर को स्वतन्त्र छोड़कर केवल उत्पादन, मूल्यों व रोजगार पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

(3) **आयात निर्यात की मात्रा लगभग निश्चित**—विनिमय दर के लोचदार होने की दशा में देश आयात-निर्यात की मात्रा में अपनी आवश्यकतानुसार कमी तथा वृद्धि कर सकता है। आयात को बढ़ाने के लिए मुद्रा का अतिमूल्यन (Overvaluation) तथा निर्यात को बढ़ाने के लिए मुद्रा का अवमूल्यन (Undervaluation) किया जाता है। मुद्रा अधिमूल्यन से विदेश की वस्तुये अपने देश में सस्ती तथा मुद्रा के अवमूल्यन से अपने देश की वस्तुयें विदेशों में सस्ती हो जाती हैं। इसलिये मुद्रा का अतिमूल्यन आयात में वृद्धि तथा मुद्रा का अधिमूल्यन निर्यात में वृद्धि करता है। इसके विपरीत चूंकि स्थिर विदेशी विनिमय दर की दशा में देश अपनी मुद्रा का अतिमूल्यन तथा अधिमूल्यन नहीं कर सकता है, इसलिये आयात-निर्यात में आवश्यकतानुसार वृद्धि भी नहीं की जा सकती। फलतः देश को बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ जाता है।

(4) **मांग-पूर्ति का सिद्धान्त क्रियाशील नहीं होता**—अर्थशास्त्र के लगभग प्रत्येक क्षेत्र में लागू होने वाला प्रसिद्ध मांग-पूर्ति सिद्धान्त स्थिर विदेशी विनिमय दर के सम्बन्ध में कार्यशील नहीं हो पाता, अर्थात्, विनिमय-दर मांग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्ति द्वारा निर्धारित न होकर स्वतः ही निर्धारित होती रहती है।

(5) **असन्तुलित शोधनाशेष (Balance of Payment) सन्तुलित नहीं किया जा सकता**—विदेशी विनिमय दर का एक प्रमुख कार्य शोधनाशेष में सन्तुलन लाना होता है, परन्तु, विनिमय दर में समयानुकूल परिवर्तन लाये बिना निरन्तर असन्तुलित शोधनाशेष में समायोजन अत्यन्त कठिन है। अतः अनेक अर्थशास्त्री स्थिर विदेशी विनिमय दर के विपक्ष में हैं।

सन्तुलित या तटस्थ विनिमय दर :

उक्त विवेचन से स्पष्ट होगया होगा कि स्थिर तथा लोचदार दोनों ही विदेशी विनिमय दरों के यदि कुछ लाभ हैं तो कुछ हानियाँ भी हैं। इसी कारण किसी एक दर को प्राथमिकता देना कठिन तथा अन्यायपूर्ण है। अतः ठीक यही है कि विनिमय दर को न तो पूर्ण लोचदार रखा जाये और न पूर्ण स्थिर अर्थात् दोनों के बीच का मार्ग अपनाया जाना ही उचित है। विनिमय दर को ऐसे स्थान पर स्थायी होनी चाहिये जहाँ देश की अर्थ-व्यवस्था पर दबाव (Strain) भी न पड़े और विनिमय दर में थोड़े परिवर्तन से असंतुलित शोधनाशेष को ठीक भी किया जा सके। दूसरे शब्दों में, मौद्रिक अधिकारी को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि शोधनाशेष (Balance of payment) असन्तुलित न होने पाये। **सन्तुलित दर की परिभाषा नर्कस (Nurkse) महोदय ने इस प्रकार की है कि "सन्तुलित दर वह है जो कुछ समय तक अन्तर्राष्ट्रीय चलन मुद्रा कोष में बिना कुछ परिवर्तन लाये शोधनाशेष को सन्तुलित**

बनाये रखे।"[1] नर्कस महोदय का कथन है कि सन्तुलित दर के होने से न केवल शोधनाशेष सन्तुलित रहते हैं वरन् बेरोजगारी की समस्या भी उत्पन्न नहीं होने पाती है।

हाम (Hlam) ने सन्तुलित दर को तटस्थ दर (Neutral Rate) के नाम से सम्बोधित किया है **क्योंकि इस दर से न तो आयात पर असाधारण रोक ही लग पाती है और न कृत्रिम रूप से निर्यात प्रोत्साहित होने पाता है।"**[2] सन्तुलित दर में मांग और पूर्ति प्रायः समान रहती है तथा इस दर को ज्ञात करने का मुख्य उपाय मूल एवं सुधार की टेक्नीक (Trial and error technique) है। इस दर को तब ही स्थापित किया जा सकता है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा अधिकारियों से निकट सहयोग स्थापित हो क्योंकि मौद्रिक अधिकारियों से निकट सहयोग प्राप्त किये बिना मुद्रा के मूल्य में कमी करने से परस्पर प्रतियोगिता प्रारम्भ हो सकती है। **अतः मौद्रिक अधिकारियों को चाहिये कि इस सम्बन्ध में उचित नियम बना कर और तदनुसार सोच समझ करके मुद्रा के मूल्य में ह्रास करने की आज्ञा दें तब ही संसार के देश मौद्रिक युद्ध (Monetary Warfare) के विनाश से बचकर अपनी आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सफल हो सकेंगे।**

सन्तुलित विनिमय दर को स्थापित करने के प्रयत्न :

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) ने इस विनिमय दर को व्यावहारिक रूप देने का सन्तोषजनक प्रयत्न किया है। प्रत्येक देश द्वारा अपनी मुद्रा का समता मूल्य स्वर्ण या डालर में परिभाषित करना इस दिशा में एक ठोस पग है। किसी देश के शोधनाशेष में आधारभूत असन्तुलन आ जाने पर मुद्रा कोष 10 प्रतिशत तक उस देश को स्वेच्छापूर्वक केवल सूचना देने मात्र पर ही परिवर्तन करने की आज्ञा देता है परन्तु 10 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन मुद्रा कोष की पूर्व आज्ञा से ही किया जा सकता है जिसका निर्णय कोष को केवल तीन दिन में देना होता है। 20 प्रतिशत से अधिक परिवर्तन के लिये कोष के दो तिहाई सदस्यों का बहुमत प्राप्त करना अनिवार्य होता है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा ने विनिमय दर के निश्चित करने तथा उसमें परिवर्तन सम्बन्धी नियम बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दर को कुछ अंश तक अवश्य ही स्थिर करने में अपना योग दिया है। आशा है कि यदि संसार के समस्त देश इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष को अपना सहयोग प्रदान करें, तब निश्चित ही संतुलित दर स्थापित हो सकती है।

---

1. The equilibrium rate is the rate which, over a certain period, maintains the balance of payments in equilibrium without any net change the International Currency Reserve."
2. "The equilibrium could also be specified as the rate which is "Neutral" because it would not create artificial export advantages or disadvantages." — *Halm*

☞ **Q. 27. Discuss the main causes of foreign exchange crisis in our country. What steps have been taken for the conversation of foreign exchange resources? To what extent do you consider such actions can help the developmental programmes of planning in our country?**

(Agra, M. A., 1960)

भारत में विदेशी विनिमय संकट

भारत के विदेशी विनिमय संकट का यह अर्थ है कि जितना धन हमें विदेशों से अपने निर्यात, प्राप्त ऋण, सहायतार्थ प्राप्त धन तथा विदेशियों द्वारा भारत में किये गये व्यय से प्राप्त होना है उससे कहीं अधिक मात्रा में विदेशों को उनसे किये गये आयात, ऋण के भुगतान, अन्य भुगतान तथा भारत द्वारा विदेशों में किये गये व्यय के लिये देने का प्रबन्ध करना है।

भारत में विदेशी विनिमय संकट और उसके कारण :

सन् 1956-57 में, जबकि भारत का दायित्व पक्ष 1205·7 करोड़ रुपये तथा आदेश पक्ष 898·9 करोड़ रुपये था, भारत के भुगतान संतुलन (Balance of Payments) ने 306·8 करोड़ रुपये का घाटा था। सन् 1957-58 में यह बढ़कर 376·8 करोड़ रुपये हो गया। भारत के पौंड-पावने की मात्रा जो सन् 1955 के अन्त में 735 करोड़ रुपये और मार्च 1956 में 746 करोड़ रुपये थी, विदेशी विनिमय संकट के कारण घटकर 1958 के मार्च के अन्त में 267 करोड़ रु० और अगस्त सन् 1968 के अन्त में 187 करोड़ रु० हो गई। यह आशा की जाती थी कि सन् 1965-57 से 1960-61 तक अर्थात् द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कुल विदेशी विनिमय घाटा 1100 करोड़ रु० का होगा। इसमें से 200 करोड़ रु० पौंड-पावने की सहायता से, 100 करोड़ रु० विदेशी पूंजीपतियों के प्राइवेट क्षेत्र में विनियोगों द्वारा और 800 करोड़ रु० सरकार द्वारा विदेशी सरकारों व संस्थाओं से ऋण लेकर पूरा किया जायगा। परन्तु योजना के प्रारम्भिक वर्षों में ही विदेशी विनिमय के घाटे की पूर्ति में बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो गई। उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(1) विदेशी विनिमय की मात्रा का गलत अनुमान लगाना—योजना के निर्माताओं ने द्वितीय योजना की अवधि में विदेशी विनिमय की मात्रा का अनुमान कम लगाया और विदेशों से प्राप्त विदेशी विनिमय के साधनों का अनुमान अधिक लगाया। इसी भूल का परिणाम है कि उक्त संकट उदय हुआ। प्रथम योजना काल में 298 करोड़ रु० भारत को विदेशी साधनों के रूप में कोलम्बो प्लान, फोर्ड फाउन्डेशन, विश्व बैंक तथा कुछ विदेशी सहायता कार्यक्रमों के अन्तर्गत प्राप्त हुये थे। यह आशा करना कि 800 करोड़ रु० विदेशी साधनों के रूप में द्वितीय योजना काल में प्राप्त होंगे जबकि प्रथम योजना काल में केवल 298 करोड़ रु० ही प्राप्त हुये थे; अनुचित था।

(2) **विदेशी विनिमय का वार्षिक बजट न बनाना**—योजना आयोग एवं सरकार की दूसरी बड़ी भूल जिसने हमें इतने संकट में डाल दिया, वार्षिक विदेशी विनिमय बजट का न होना था। यदि ऐसा बजट बना लिया गया होता, तो हम अपने आयात का एक निश्चित क्रम बना लेते ताकि वे सब गड़बड़ियाँ जो उपस्थित हुईं, न होने पातीं। यह तर्क दिया जाता है कि 1955 के मध्य तथा 1956 में व्यक्तिगत व्यापारियों द्वारा मशीनों, कच्चे माल व उपभोक्ता वस्तुओं के आयात के लिये बड़ी मात्रा के लाइसेन्स प्राप्त कर लिए गये थे और यही सारे संकट का कारण था। वास्तव में यह तर्क निराधार है। व्यक्तिगत व्यापारियों का अधिक लाइसेन्स प्राप्त करना स्वाभाविक था जबकि उन्हें प्रगतिशील आर्थिक क्रियाओं की आशा दिलाई गई थी। भारतीय व्यापारियों ने व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग बढ़ाकर सरकार का पूर्ण सहयोग किया, इसीलिये मशीनरी, कच्चा माल तथा उपभोक्ता की वस्तुओं का अधिक आयात होना स्वाभाविक ही था।

(3) **विशेष परिस्थितियाँ**—देशों में मुद्रा-स्फीति के दबाव उत्पन्न हो गये, क्योंकि वस्तुओं की पूर्ति उस रफ्तार से नहीं बढ़ सकी, जिस रफ्तार से इनकी माँग बढ़ने लगी। खाद्यान्नों की कमी से इनके भाव बढ़े और फिर अन्य वस्तुओं के मूल्य बढ़ गये। इस प्रकार आन्तरिक दबाव उत्पन्न हो गये और ऐसा प्रतीत होने लगा कि योजना को बीच में ही छोड़ना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त प्रतिरक्षा का सामान मँगाया गया, खाद्यान्नों का भारी मात्रा में आयात करना पड़ा, कच्चा माल अन्य विकास सामग्री व उपभोग का सामान मँगाना पड़ा, स्वेज दुर्घटना के कारण जहाजी किराये बढ़ गये और भारत व पाकिस्तान के सम्बन्धों में तनाव आ गया। इन सब बातों के कारण योजना व्यय अनुमान से बहुत बढ़ गया।

विदेशी विनिमय के संकटों को दूर करने के उपाय :

अब प्रश्न यह है कि इस संकट से मुक्ति पाने के लिये क्या किया गया और क्या किया जा सकता है ? श्री शिनाय ने यह सुझाया था कि विदेशी विनिमय के संकट को दूर करने के लिये रुपये का अवमूल्यन कर दिया जाय, क्योंकि क्रय-शक्ति घट जाने से रुपये के आन्तरिक मूल्य में कमी हो गई जिससे उसकी समानता बाह्य मूल्य से (जो कि सन् 1927 से 1 रु० स्थिर सा० 8 है) नहीं रही है। हमारी सम्पत्ति में इस उपज का अवलम्बन करने से संकट और बढ़ जायगा, क्योंकि आयात की हुई मशीनों, कच्चे माल व खाद्यान्न के मूल्य रुपयों में बढ़ जायेंगे जिससे तृतीय योजना की वित्त-व्यवस्था में अधिक बाधायें उपस्थित हो जायेंगी।

भारत सरकार एक ओर उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं तथा अनावश्यक वस्तुओं के आयात कम करने एवं निर्यात को बढ़ाने और दूसरी ओर विदेशी सहायता से अपने विदेशी साधन बढ़ाने की दोहरी नीति अपना रही है। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि आयात पर प्रतिबन्ध वस्तुओं का आधिक्य निर्यात करने

के लिए न होने देगा, क्योंकि ऐसी दशा में लोग देश में ही उत्पादित वस्तुओं का उपभोग आयात की हुई वस्तुओं के स्थान पर करेंगे और इससे विदेशी विनिमय की आमदनी घट जायगी। इसके अतिरिक्त, कच्चे माल, मशीनों व उपभोग की आवश्यक वस्तुओं का आयात घटाने की भी एक सीमा है, जिसके परे जाने से द्वितीय योजना की सफल पूर्ति में व उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा पड़ने लगेगी।

जहाँ तक निर्यात का सम्बन्ध है, उसे बढ़ाने के लिये सरकार ने अनेक प्रयत्न किये हैं किन्तु ये उपाय अधिक कारगर साबित नहीं हुए हैं और भारत के निर्यात को उसके वर्तमान स्तर से जो कि 600 करोड़ रु० से लगाकर 750 करोड़ रु० तक प्रति वर्ष है, बढ़ाया नहीं जा सका है।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक व विदेशी सरकारों से उपयुक्त मात्रा में ऋण मिले हैं तथापि इनसे भी विदेशी विनिमय की कमी पूर्ण नहीं होने पाई है और वह आज भी चल रही है।

इस समस्या को सुलझाने का एक प्रभावशाली ढंग भारत में विदेशी पूंजी के प्रवाह को प्रोत्साहन देना होगा। यदि आवश्यक कर-छूट प्रदान की जाय और विदेशी पूंजीपतियों की अनावश्यक परेशानियों से रक्षा की जाय, तो यह संभव है कि भारत में विदेशी पूंजी का प्रवाह बढ़कर हमारी विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो सकेंगी।

☞ **Q. 28. "The existence of an active or passive balance of trade is no sufficient criterian for distinguishing between debtor and creditor country." Discuss the statement.**

किसी देश के 'देनदार' या 'लेनदार' होने की कसौटी उसके व्यापार संतुलन का 'निष्क्रिय' या सक्रिय होना नहीं है

व्यापार संतुलन का सक्रिय या निष्क्रिय होना अन्तिम कसौटी नहीं :

यद्यपि प्रत्येक देश यह चाहता है कि शेष विश्व से उसका भुगतान-संतुलन 'साम्यावस्था' में ही रहे तथापि व्यवहार में ऐसा कठिनता से ही हो पाता है। देशों के भुगतान-संतुलनों में प्रायः असाम्यता ही दिखाई देती है। जब किसी देश का भुगतान संतुलन असाम्यावस्था में हो, तो उस देश को या तो अन्य देशों के प्रति कुछ रकम चुकानी है या अन्य देशों से कुछ रकम प्राप्त करनी है। प्रथम दशा में देश का भुगतान संतुलन 'निष्क्रिय' (Passive) और दूसरी दशा में वह 'सक्रिय' (Active) होता है। अथवा, प्रथम दशा में वह देश 'देनदार' और दूसरी दशा में वह देश लेनदार होता है। लेकिन कभी-कभी किसी देश के लिये यह सम्भव है कि वह अपने भुगतान संतुलन में साम्य की स्थिति होते हुए भी किसी अन्य देश का ऋण स्वीकार करके (उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड की भाँति) एक 'लेनदार' देश बन जाय या अन्य देशों से ऋण लेकर एक 'देनदार' देश बन जाय (जिस प्रकार कि इंगलैण्ड आजकल है।)

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी देश का देनदार या लेनदार होना केवल व्यापारिक स्थिति पर ही निर्भर नहीं है वरन् एक राष्ट्र युद्ध-मुआविजे के कारण या पुराने ऋण पर ब्याज के कारण भी ऋणी या लेनदार हो सकता है।

भुगतान संतुलन पर ध्यान देने की आवश्यकता :

अत: यहाँ प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक जगत में कोई देश ऋणी है या लेनदार, इसकी जांच के लिये क्या कसौटी है ? चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक 'अदल-बदल' मात्र है और किसी देश के लेनदार होने का अर्थ यह है कि उसने अन्य देशों को वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अधिक दिया है किन्तु बदले में अन्य देशों से कम पाया है, अत: इसमे तत्काल ही यह निष्कर्ष निकलता है कि एक 'लेनदार' देश का व्यापार संतुलन 'अनुकूल' (अर्थात् 'सक्रिय') एवं एक 'देनदार' देश का व्यापार संतुलन 'प्रतिकूल' (या 'निष्क्रिय') होगा।

किन्तु किसी देश की अवस्था का अनुमान लगाने का यह तरीका अन्तिम निर्णायक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक लेनदार देश का व्यापार संतुलन 'निष्क्रिय' एवं एक देनदार देश का व्यापार संतुलन 'सक्रिय' भी हो सकता है। अन्य शब्दों में, लेनदार तथा देनदार दोनों ही प्रकार के देशों के सक्रिय एवं निष्क्रिय दोनों ही प्रकार के व्यापार संतुलन हो सकते हैं। ऐसी दशा में उपरोक्त कसौटी को लागू करना कठिन है। एक लेनदार देश का व्यापार संतुलन निष्क्रिय हो सकता है, जिसकी सूचना उसके निर्यातों की अपेक्षा उसके आयातों की अधिकता से मिलती है जबकि उसे देनदार देश द्वारा पिछला ऋण ब्याज सहित चुकाया जा रहा हो। यह दशा यू० के० की थी जबकि लेटिन अमेरिका के उपनिवेशिक राज्यों ने अपने पिछले ऋण चुकाये। इसी प्रकार, एक देनदार देश का व्यापार संतुलन 'सक्रिय' हो जाता है जबकि वह ऋण चुकाना प्रारम्भ कर देता है, क्योंकि ऐसी दशा में उसके निर्यात उसके आयातों की अपेक्षा अधिक होते हैं। **अत: किसी देश की व्यापार संतुलन सम्बन्धी स्थिति के आधार पर उनकी दशा के बारे में (कि वह लेनदार देश है या देनदार देश) कुछ कहना कठिन है।** इसके लिये उसके भुगतान संतुलन सम्बन्धी स्थिति का विस्तृत विश्लेषण करना जरूरी है।

☞ **Q. 29. What is the transfer problem involved in large unilateral payments ? Discuss the role of price changes in the mechanism of such transfers.**

विशाल एकपक्षीय भुगतानों में निहित ट्रान्सफर समस्या तथा इन ट्रान्सफरों में मूल्य परिवर्तनों की भूमिका का महत्व

विशाल एकपक्षीय भुगतानों में निहित ट्रान्सफर समस्या :

विशाल एकपक्षीय भुगतानों में निहित ट्रान्सफर की समस्या ऐतिहासिक दृष्टि से काफी पुरानी है। आधुनिक वित्तीय इतिहास में ... कोई नहीं है

जितनी कि सन् 1871 में जर्मनी की फ्रान्सिसी युद्ध-क्षतिपूर्ति के सफलतापूर्वक भुगतान की घटना है। इसमें 5,315 मि० फ्रांक के एकपक्षीय भुगतान की समस्या उदय हुई थी। इसी प्रकार, एक विशाल एकपक्षीय भुगतान से मिलता-जुलता अन्य भुगतान कनाडा द्वारा सन् 1900 से 1914 के बीच पूंजी ($ 2,545,627) का आयात करना था। जर्मनी द्वारा मित्रराष्ट्रों को युद्ध-क्षतिपूर्ति का भुगतान एक अन्य उदाहरण है। जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति का भुगतान करने के अवसर पर एकपक्षीय भुगतानों के ट्रान्सफर की समस्या पर बहुत वाद-विवाद हुआ, जो **'कीन्स-ओहलिन वाद-विवाद'** के नाम से वित्तीय इतिहास में प्रसिद्ध है।

एक देश द्वारा दूसरे देश को एकपक्षीय भुगतान करने की समस्या के दो पहलू हैं :—**प्रथम,** स्वदेश में एक रकम एकत्र करनी पड़ती है। युद्ध के मुआवजे की दशा में यह समस्या सरकारी खजाने को हल करनी होगी; किन्तु जब प्राइवेट पूंजी का निर्यात करना हो, तो यह समस्या सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा हल की जायगी। **दूसरे,** स्वदेश में एकत्र की गई राशि को भुगतान प्राप्त करने वाले देश की करेंन्सी में परिणत करना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि इतना निर्यात-आधिक्य (Export surplus) उत्पन्न कर लिया जाय, जो कि दी हुई रकम का ट्रान्सफर करने के लिये पर्याप्त हो।

'निर्यात-आधिक्य' उत्पन्न करने के तीन अर्थ होते हैं—(i) निर्यात बढ़ाया जाय जबकि आयात पूर्ववत् रहे; (ii) विद्यमान निर्यात आधिक्य ही बड़ा हो जाय; अथवा (iii) विद्यमान आयात-आधिक्य छोटा हो जाय। सरल शब्दों में सम्बन्धित देश को निर्यात बढ़ाकर, या वहां से आयात घटाकर अथवा कुछ तो निर्यात बढ़ाकर तथा कुछ आयात घटाकर आवश्यक निर्यात आधिक्य उत्पन्न करना पड़ता है।

निर्यात-आधिक्य उत्पन्न करने की कार्यविधि यह है—पहले ट्रान्सफर के लिये आवश्यक रकम स्वदेश में करारोपण द्वारा उगाही जाती है। ऐसा करने से देश में लोगों की आय एवं क्रय-शक्ति घट जाती है, मुद्रा का चलन संकुचित हो जाता है तथा फलस्वरूप मूल्य गिरने लगते हैं। इसके विपरीत भुगतान पाने वाले देशों में राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है, मुद्रा की मात्रा विस्तृत होती है तथा मूल्य बढ़ जाते हैं। भुगतान करने वाले देशों में मूल्य गिरने और भुगतान पाने वाले देशों में मूल्य बढ़ने की क्रिया के कारण दोनों प्रकार के देशों के मूल्यों में इतना 'अन्तर' (Gap) हो जाता है कि एक ओर एकपक्षीय भुगतान करने वाले देश में निर्यात प्रोत्साहित तथा आयात हतोत्साहित होते हैं, और, दूसरी ओर भुगतान पाने वाले देश में आयात प्रोत्साहित तथा निर्यात हतोत्साहित होते हैं। हतोत्साहन एवं प्रोत्साहन की इस क्रिया के द्वारा ही एकपक्षीय भुगतान करना सम्भव हो जाता है।

स्पष्ट है कि ट्रान्सफर की सम्भावना पहले से ही विद्यमान व्यापार या भुगतान के सक्रिय संतुलन पर निर्भर नहीं है (जैसा कि भुगतान-संतुलन का सिद्धान्त कल्पना करता है।) **अन्य शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि ईश्वर द्वारा निर्यात-आधिक्य**

प्रस्तुत किये जाने तक प्रतीक्षा की जाय, किन्तु जब भी भुगतान का मिकेनिज्म क्रियाशील कर दिया जाता है, तब ही निर्यात आधिक्य स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

ट्रान्सफर की उपरोक्त क्रिया में मूल्य-परिवर्तनों की भूमिका :

एकपक्षीय भुगतान करने वाले देश में मूल्य गिरते हैं और भुगतान पाने वाले देश में उस स्तर तक बढ़ते हैं, जिससे कि उस देश में, जिसे एकपक्षीय भुगतान करना है, पर्याप्त 'निर्यात-आधिक्य' उत्पन्न हो जाय। किन्तु, जब दोनों देशों में मूल्यों पर दबाव इतना पर्याप्त नहीं है कि आवश्यक मात्रा में निर्यात-आधिक्य बन सके (अर्थात् जब मूल्य-परिवर्तन उचित स्तर तक न हो सकें) तो भुगतान करने वाले देश के विदेशी विनिमय कोष पर दबाव अनुभव किया जाने लगता है अर्थात् सैंट्रल बैंक के विदेशी विनिमय कोष घटने लगेंगे। यदि यह घटोत्तरी मामूली है, तो इसकी चिन्ता नहीं की जावेगी लेकिन यदि वह अधिक है और लगातार जारी रहती है, तो सैंट्रल बैंक इस दशा को सहज ही स्वीकार नहीं करेगा। वह सावधानी से काम लेगा और अपनी बैंक दर बढ़ा देगा। बैंक दर बढ़ाने का वही प्रभाव है जो कि मूल्यों की कमी होने का है। चूंकि बैंक दर बढ़ा दी गई है इसलिये कुछ विदेशी विनिमय अल्पकालीन विनियोग के रूप में देश में लौट आवेगा। यही नहीं, बैंक दर की वृद्धि अर्थव्यवस्था में विनियोजन क्रिया को रोककर बेरोजगारी उत्पन्न करती है तथा इससे मूल्य गिरने लगते हैं। इस प्रकार डिस्काउन्ट-रेट पालिसी का उद्देश्य भी देश-मूल्यों को आवश्यक स्तरों तक गिराना होता है।

मन्दी युग में एकपक्षीय विशाल भुगतानों की समस्या नियंत्रण के बाहर हो गई थी, क्योंकि उक्त दोनों ही बातें सम्भव न हो सकीं। अमेरिका एक लेनदार देश था जबकि पूर्वी यूरोप और लेटिन-अमेरिका के छोटे-छोटे राज्य देनदार थे। न तो मूल्य अमेरिका में बढ़ सके (क्योंकि वहाँ स्वर्ण को मूल्य पर प्रभाव डालने से रोक दिया गया) और न वे यूरोपियन राज्यों में आवश्यक स्तर तक गिर सके (क्योंकि वहाँ श्रम संघों के दबाव के कारण मजदूरियाँ घटाई नहीं जा सकीं)। इस प्रकार अब डिस्काउन्ट रेट बढ़ाने का ही विकल्प शेष था किन्तु इस उपाय के लिये देनदार देश तैयार न हुए। फलतः ट्रान्सफर सम्भव न हो सका।

मूल्य परिवर्तनों की भूमिका के बारे में कीन्स-ओहलिन विवाद :

ट्रान्सफर मिकेनिज्म में मूल्य परिवर्तनों (विरोधी दिशाओं में) की क्या भूमिका है, इसके विषय में बहुत वाद-विवाद छिड़ गया जबकि विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी द्वारा युद्ध-हर्जाने के भुगतान की समस्या प्रस्तुत हुई। एक ओर प्रो० ओहलिन के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों का मत यह था कि ट्रांसफर मिकेनिज्म में मूल्य परिवर्तनों का कोई महत्व नहीं है अर्थात् एकपक्षीय भुगतानों के ट्रान्सफरों के लिये मूल्यों में कोई परिवर्तन होना तनिक आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर, प्रो० कीन्स के नेतृत्व में अर्थशास्त्रियों का कहना था कि सम्बन्धित देशों में मूल्य परिवर्तनों का होना बहुत महत्वपूर्ण है, और, प्रतिकूल परिस्थितियों में तो ये मूल्य परिवर्तन इतनी अधिक मात्रा में आवश्यक होते हैं कि

गम्भीर कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे कभी-कभी ट्रान्सफर करना असम्भव हो जाता है।

कीन्स का दृष्टिकोण :

हम सर्वप्रथम कीन्स के दृष्टिकोण से प्रारम्भ करते हैं। कीन्स के अनुसार जर्मनी को एक निर्यात-आधिक्य बनाने के लिये अपने निर्यात अवश्य बढ़ाने चाहिये। इस हेतु उसे अपनी निर्यात-वस्तुओं के मूल्यों में कमी करनी होगी। मूल्य में कमी कितनी मात्रा में होनी चाहिये, यह जर्मनी की वस्तुओं और सेवाओं के लिये विदेशी मांग की लोच पर निर्भर है। यदि विदेशी मांग की लोच यूनिटी से अधिक है, तो जर्मनी की वस्तुओं के मूल्यों में एक दिया हुआ परिवर्तन होने से उसके निर्यातों में अनुपातिक से अधिक वृद्धि होगी तथा जर्मन राष्ट्र को अधिक कठिनाई के बिना ही निर्यात-आधिक्य उत्पन्न हो जायेगा। इसके विपरीत, यदि मांग की लोच यूनिटी के बराबर अथवा इससे कम है, तो निर्यातों में कितनी ही वृद्धि होने पर भी निर्यात-आधिक्य (मूल्य) न बन सकेगा, क्योंकि मूल्यों में भी, निर्यात की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ, उतनी ही तीव्रता से या अधिक तीव्रता से कमी होने लगेगी।

कीन्स का मत था कि जर्मनी के उदाहरण में मांग सम्बन्धी दशाएं ऐसी थीं कि मूल्य में बहुत अधिक गिरावट होने पर ही भुगतान के लिये पर्याप्त निर्यात-आधिक्य उत्पन्न हो सकता था। इसमें जर्मनी को प्रत्यक्ष भार के अतिरिक्त कुछ और भी (सेकेन्डरी) हानि उठानी पड़ेगी। क्योंकि एक दिये हुए कुल मूल्य के जर्मन निर्यात में, मूल्यों में कमी होने के कारण, पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में वस्तुएँ सम्मिलित होंगी। अन्य शब्दों में, 'विनिमय का वास्तविक अनुपात' (Real Ratio of Exchange or Barter Terms of International Trade) जर्मनी के विरुद्ध हो गया है। यदि जर्मन आयातों की कीमतें भी बढ़ जायें, तो व्यापार-शर्तें और भी अधिक प्रतिकूल हो जायेंगी। इस प्रकार, जर्मनी को दोहरा भार सहन करना पड़ता है :—(i) 2 मिलियार्ड गोल्ड मार्क्स विदेशी देशों को चुकाने पड़ते हैं एवं (ii) 2 मिलियार्ड गोल्ड मार्क्स और आयात की एक दी हुई मात्रा कमाने के लिये पहले की अधिक मात्रा में जर्मन माल देना पड़ता है।

'वस्तु पक्ष' (Commodity Side) पर मौद्रिक मिकेनिज्म उक्त परिणाम को निम्न प्रकार से लाता है :—सर्वप्रथम, मुआवजा-कर जर्मनी में वसूल किये जाते हैं। यह प्रयत्क्ष या प्रारम्भिक भार है। यदि आवश्यक निर्यात-आधिक्य उत्पन्न नहीं होता है, तो रीश बैंक (Reichs bank or Central Bank of Germany) के नगद कोष घटेंगे, सोना व विदेशी मुद्रा बाहर जाने लगेगी तथा साख का संकुचन होगा। इससे मूल्यों एवं आयों में और अधिक गिरावट आ जाती है। इसे सेकेण्डरी या द्वितीयात्मक भार कहते हैं।

ओहलिन का दृष्टिकोण :

ओहलिन ने प्रो० कीन्स की उक्त विचारधारा की इस उचित आधार पर

आलोचना की हैं कि उन्होंने माँग पक्ष के परिवर्तनों को भुला दिया है। जर्मनी द्वारा युद्ध-मुआवजे के भुगतान की समस्या के संदर्भ में, प्रो० ओहलिन का कहना है कि, ऐसे भुगतान के कारण पाने वाले देशों को क्रयशक्ति का ट्रान्सफर हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि कुल पर उन देशों की माँग बढ़ जाती है जबकि जर्मनी की माँग कुल पर घट जाती है। अतः ओहलिन का मत है कि हम अपरिवर्तित माँग (Unaltered demand) के आधार पर कैसे तर्क कर सकते हैं। उनके मतानुसार पूंजी-आवागमनों की मशीनरी को क्रियाशील बनाने वाला निर्णायक घटक यह है कि माँग में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया है।.......इस प्रकार A देश में B देश की वस्तुओं के लिये पहले की अपेक्षा अधिक बड़ा बाजार बन जाता है। दूसरी ओर, A की वस्तुओं के लिये B देश में बाजार पहले जितना बड़ा नहीं रहता। माँग का स्थानीय वितरण बदल गया है....... पूंजी के आवागमन के पूर्व दोनों देश सब प्रकार की इतनी वस्तुएं खरीद रहे थे जिनका मूल्य स्वदेश में उत्पन्न की गई वस्तुओं के मूल्य के बराबर हो जाय। लेकिन जब पूंजी का आवागमन प्रारम्भ हो गया, तो मिले-जुले कुल उत्पादन की मात्रा A पहले से अधिक और B पहले से कम खरीदता है।"[1]

किन्तु यद्यपि पूंजी-आवागमन के बाद A देश अधिक और B देश कम खरीदता है तथापि जेक्विस रयूफ (Jacques Rueff) 'के' 'क्रयशक्ति रक्षा सिद्धान्त' के अनुसार A और B देशों की मिली-जुली खरीद मूल्य में अपरिवर्तित ही रहती है, जिससे A देश की हानि B देश के लाभ से व्यर्थ हो जाती है।

निष्कर्ष :

सच तो यह है कि कीन्स एवं ओहलिन दोनों के ही दृष्टिकोण एकपक्षीय हैं एवं समस्या पर निष्पक्षता से विचार नहीं करते। वास्तविकता इन दोनों के मध्य है, क्योंकि सैद्धान्तिक रूप से ऐसी दो परिस्थितियां संभव हैं जिनमें ट्रान्सफर के लिये मूल्य परिवर्तन होते हैं और जिनमें ट्रान्सफर के लिये मूल्य परिवर्तन नहीं होते।

---

1. "We can therefore least of all argue on the basis of unaltered demand. The decisive point for the machinery of capital movements is, on the contrary, that demand has undergone a radical change......There is thus a market in A for more of B's goods than formerly. On the otherhand, the market in B for A's goods is not as big as it was before. The local distribution of demand has changed......Prior to the beginning of the movement of capital the two countries were buying so much of all kinds of goods that their value equalled that of the goods produced at home. On the other hand, after the capital movement started, A buys more and B less of their combined production than before."

(*Ohlin*)

ओहलिन की कम से कम एक बात यह सत्य है कि कीन्स ने ट्रान्सफर मिकेनिज्म में माँग पक्ष के परिवर्तनों की नितान्त उपेक्षा कर दी है। निःसंदेह दोनों ही देशों में 'माँग-अनुसूचियों' (Demand Schedules) में मौलिक परिवर्तन हो जाता है।

Q. 30. Explain the aim, organisation and mode of operation of the International Monetary Fund, the extent of success so far achieved by it.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष संगठन—संगठन एवं प्रबन्ध

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक—ये दो संस्थायें मौद्रिक-जगत विभिन्न राष्ट्रों के अपूर्व सहयोग का ज्वलन्त उदाहरण हैं। यद्यपि इन संस्थाओं की स्थापना सन् 1944 में हुई थी तथापि इनकी प्रेरक परिस्थितियों का सूत्रपात प्रथम महायुद्ध के बाद से ही आरम्भ हो गया था। ये परिस्थितियाँ निम्न थीं :—

(i) प्रथम महायुद्ध के पूर्व विश्व के मुख्य-मुख्य देशों में स्वर्णमान प्रचलित था, जिससे उत्पादन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत प्रोत्साहन मिला, किन्तु युद्धकाल में इसका परित्याग कर दिया गया। युद्ध समाप्त होने पर इसे पुनः अपनाने में भरसक प्रयत्न किये गये, किन्तु विभिन्न राष्ट्रों की परिस्थितियों में इतना मौलिक परिवर्तन हो गया था कि इन प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली।

(i) युद्धकालीन मुद्रा प्रसार के कारण सभी देशों की आर्थिक अवस्था बिगड़ गई। अनेक देशों ने अपने यहाँ अत्यधिक मात्रा में अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा चलाई, जिससे कीमतों में बहुत उथल-पुथल हुई। विभिन्न देशों के मूल्य-स्तरों में बहुत असमानता उत्पन्न हो गई। इससे विदेशी व्यापार को बहुत ठेस पहुंची और आन्तरिक व्यापार में बहुत कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं।

(iii) प्रत्येक देश, दूसरे देश के हितों का ध्यान रखे बिना, स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति अपना रहा था। यदि कुछ देशों ने विनिमय अवमूल्यन द्वारा निर्यात में वृद्धि करनी चाही, तो अन्य देशों ने आयात-नियंत्रण लगा दिये। इस प्रकार एक दूसरे की देखादेखी सभी देश एक दूसरे का गला काटने पर तैयार थे। इस काल में मौद्रिक सहयोग के स्थान पर परस्पर प्रतिस्पर्द्धा का बोलबाला था। प्रत्येक देश दूसरों को धोका देकर अपना उल्लू सीधा करना चाहता था।

(iv) युद्धकाल में मानव सम्पत्ति का इतना विनाश हो गया कि युद्धोत्तर काल में पुनर्निर्माण एवं पुनर्वास की समस्याओं से सभी राष्ट्र घबड़ाये हुये थे।

यह स्पष्ट था कि इन समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, विदेशी व्यापार के विस्तार और अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों के समुचित प्रवाह के बिना हल करना सम्भव न था। साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान को अपनाना

कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है। अतएव एक ऐसी नई व्यवस्था की आवश्यकता थी जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से यथेष्ट लोच रहे और मौद्रिक अनुशासन भी निभे।[1]

इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों ने अपनी-अपनी योजनायें विश्व के सामने रखीं जिसमें ब्रिटेन की कीन्स योजना, अमेरिका की व्हाइट योजना और कनाडा की कनेडियन योजना प्रमुख थी। इन पर विचार करने के लिये जुलाई सन् 1944 में अमेरिकन सरकार ने ब्रेटेने वुड्स (Bretten Woods) नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद बुलाई, जिसमें 44 मित्र देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस परिषद के विचार विमर्श और सुझावों के फलस्वरूप दो संस्थाओं की स्थापना हुई— (i) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, जिसे संक्षेप में मुद्रा कोष (I. M. F.) भी कहा जाता है, और (ii) अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक, जिसे संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय या विश्व बैंक (World Bank or I. B. R. D.) भी कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य

कोष के चार्टर में कोष के उद्देश्यों को निम्न प्रकार बताया गया है :—

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को बढ़ावा देना**—यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिये सब राष्ट्रों को परामर्श का अवसर देगा और उनके सहयोग का समाधान ढूंढेगा।

(2) **विनिमय दरों के स्थायित्व को प्रोत्साहन देना**—कोष अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का ठोस विकास करने के हेतु विनिमय दरों में स्थायित्व लाने का प्रयास करेगा लेकिन विनिमय दरों की स्थायित्व सम्बन्धी नीति में अत्यधिक कठोरता (Rigidity) नहीं होगी और सदस्य देशों को अपनी करेन्सियों के सम-मूल्यों (Par Values) में उचित मात्रा में परिवर्तन करने एवं लोच रखने की अनुमति होगी।

(3) **विनिमय नियन्त्रणों को हटवाना** – अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए कोष सभी प्रकार के विनिमय नियन्त्रणों एवं करेन्सियों के प्रतिस्पर्धात्मक अवमूल्यन को निरुत्साहित करेगा। अत: कोष के नियमों में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कोई भी सदस्य देश कोष की अनुमति के बिना चालू अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिये भुगतान व हस्तान्तरण करने पर प्रतिबन्ध नहीं लगायेगा।

(4) **संकट काल में सदस्यों की सहायता**—कोष का उद्देश्य संकट काल में सदस्य देशों को आश्वस्त करना भी है और इस हेतु वह उनको अल्पकालीन मौद्रिक सहायता देगा।

---

1. "It was necessary to establish new and more strongly founded, a kind of system which would provide, at the same, sufficient flexivity through international assistance, and yet still adhere to those principles of monetary discipline without which no international system can function properly."—Jacobsson, Managing Director of the International Monetary Fund.

(5) अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के अन्तर की विषमताओं को दूर करना—सदस्य देशों के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान के सन्तुलन में अस्थाई विषमताओं की अवधि को तथा उनकी मात्रा को कम करने के लिए कोष उन्हें मौद्रिक सहायता देगा।

(6) बहुपक्षीय भुगतान व व्यापार पद्धति का विस्तार करना—मुद्रा कोष द्वितीय समझौतों (Bilateral Agreements) के स्थान में भुगतान व व्यापार सम्बन्धी बहु-पक्षीय समझौते कराने की सुविधायें देगा।

(7) लाभ के कार्यों में पूंजी लगाना—कोष का उद्देश्य एक देश से दूसरे देश में दीर्घकालीन पूंजी को लाभप्रद कार्यों में लगाने में मदद करना है।

(8) राष्ट्रों के संतुलित विकास में सहायता करना—इस हेतु कोष सदस्यों को दूसरे राष्ट्रों की मुद्रायें उधार देता है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा पद्धति को जन्म देना है, जिसमें लोच और व्यावहारिकता हो, जो अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय दरों में स्थायित्व ला सके और सदस्य राष्ट्रों की अल्पकालीन साख आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

मुद्रा कोष का संगठन एवं प्रबन्ध

(1) कोष के कार्य संचालन के लिये (i) एक बोर्ड आफ गवर्नर्स (Board of Governors), (ii) बोर्ड आफ डाइरैक्टर्स (Board of Directors), मैनेजिंग डाइरैक्टर तथा (iii) अन्य स्टाफ होता है।

(2) सदस्यता—जिन देशों ने ब्रैटनवुड्स कान्फ्रेंस में भाग लिया था या जिन्होंने 31 दिसम्बर सन् 1945 से पहले कोष की सहायता स्वीकार कर ली थी वे देश इस कोष के मूल सदस्य (Original members) कहलाते हैं। जिन देशों ने तब इसकी सदस्यता ग्रहण नहीं की थी उन्हें बाद में भी इस कोष में सम्मिलित होने की छूट रखी गई है।

(3) प्रधान कार्यालय—कोष का प्रधान कार्यालय सबसे अधिक कोटे वाले देश (इस समय अमेरिका, क्योंकि इसका कोटा सबसे अधिक है) में रखा जायगा। कोष की शाखायें किसी भी सदस्य देश में खोली जा सकती हैं।

(4) कोष की पूंजी—प्रत्येक सदस्य देश को कोष की पूंजी में से एक निश्चित भाग या कोटा दिया गया है, जिसे बदला भी जा सकता है। कोटे की कुछ रकम स्वर्ण और कुछ रकम स्वदेशी करेंसी में देनी होती है। मुद्रा कोष का कुल सोना किसी एक स्थान में नहीं रखा जाता। इसका 50% स्वर्ण तो उस स्थान में रखा जाता है जिसका निर्देश सबसे अधिक कोटे वाला देश करे और कम से कम बाकी 40% उन अगले चार देशों में रखा जायगा जिनके कोटे अधिक हैं। मुद्रा के रूप में सदस्यों से जो कोटा प्राप्त होता है वह अन्तर्राष्ट्रीय कोष के नाम से उस देश की केन्द्रीय बैंक में ही जमा करा दिया जाता है। निम्न चार्ट से कोष की पूंजी संरचना अधिक स्पष्ट हो जायेगी :—

कोष की कुल पूंजी
(88 मिलियन डालर)

- 7·0 मि० डालर सदस्य देशों की करेन्सियों व प्रतिभूतियों के रूप में
    - 50% अमेरिका में रखा हुआ
    - 40% इङ्गलैंड, चीन, फ्रांस व रूस के केन्द्रीय बैंकों में जमा
    - 10% अन्य स्थानों में जमा
- 1.8 मि० डालर स्वर्ण के रूप में

मुद्रा कोष की कार्यप्रणाली व सफलता

इसके लिये अगला प्रश्नोत्तर देखिये ।

☞ Q. 31. How far is the International Monetary Fund capable of maintaining the stability of foreign exchange rates ? What steps can be adopted by the Fund to remedy the situation if a country has a constant favourable balance of trade ?

Or

"The International Monetary Fund is an ingenious attempt to enable the member countries to practise 'stabilizing intervention' without committing them to absolute rigidity of the exchange values of their currencies at all times." Examine critically this statement and state how far I. M. F. has helped in the stabilization of international trade and foreign exchange.

विनिमय दरों में स्थायित्व के लिये कोष के प्रयत्न

मुद्रा कोष की कार्य प्रणाली :

कोष के कार्य संचालन से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(1) स्वर्ण के द्वारा प्रत्येक राष्ट्र की मुद्रा के सम-मूल्य का निर्धारण—जब कोई देश कोष का सदस्य बनता है, तो उसे कोष से डालर या सोने में अपनी मुद्रा का मूल्य घोषित करना पड़ता है । इससे विभिन्न देशों की विनिमय दरों के आपस में निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं होती है । अर्थात् संसार के विभिन्न देशों की करेन्सियों के विनिमय की सम-मूल्य दरें (Par values) निश्चित हो जाती हैं ।

(2) समता-दरों में परिवर्तन की सुविधा—किन्तु कोष ने स्वर्णमान की तरह विनिमय दर को कठोर (rigid) नहीं बताया है वरन् इसमें परिवर्तन करने की सुविधा

भी दी है। यदि कोई देश चाहे तो अपनी मुद्रा के प्रारम्भिक सम-मूल्य को 10% कम या अधिक कर सकता है। इतने परिवर्तन के लिये उसे कोष से केवल परामर्श करना होगा अर्थात् कोष की स्वीकृति के बिना परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु, यदि कोई देश इस सीमा से अधिक परिवर्तन करना चाहता है, तो इसके लिये उसे कोष की स्वीकृति लेनी होगी। यदि कोष को यह विश्वास हो जाय कि उस देश के संतुलन में कोई गम्भीर मौलिक विषमता (Fundamental disequilibrium) विद्यमान है, तो वह सम्बन्धित देश अपनी करैन्सी के विनिमय मूल्य में घटा-बढ़ी करने की स्वतन्त्रता दे देता है। इस प्रकार अब स्पर्धात्मक विनिमय अवमूल्यन की संभावनायें कम हो गई हैं। उचित आधार देख कर ही कोष ने भारत को सन् 1949 में अपनी करैन्सी का 30·5% अवमूल्यन करने की अनुमति दे दी थी।

(3) अस्थाई सन्तुलन के लिए विदेशी मुद्रा का ऋण देना—करैन्सियों के सम-मूल्य में घटा-बढ़ी को रोकने के लिये मुद्रा को सम्बन्धित देशों को अपने भुगतान की विषमता का सुधार करने में सहायता भी देता है। उदाहरण के लिये यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन में घाटा है तो कोष उस देश को वह विदेशी मुद्रा एक निर्दिष्ट विनिमय दर पर बेचेगा जिसकी उसे आवश्यकता है। इससे वह देश अपना विदेशी दायित्व चुका सकता है। इस प्रकार कोष घाटे का भुगतान सन्तुलन रखने वाले देशों को इतनी मोहलत मात्रा (Breathing space) देता है जिसमें वे उसका सुधार कर सकें। किन्तु, जब भुगतान सन्तुलन की स्थिति में विषमता किसी मौलिक कारण से हो तो कोष उस देश में अपनी अर्थ-व्यवस्था में उचित परिवर्तन करने के लिये कहेगा।

(4) सदस्यों द्वारा विदेशी मुद्रा लेने पर प्रतिबन्ध—कोष के पास अल्प-मुद्रायें जल्द समाप्त न हों, सदस्य देश स्वयं अपनी दशा को सुधारने का प्रयत्न भी करें तथा कोई भी सदस्य बिना आवश्यकता या बार-बार कोष से विदेशी विनिमय न खरीदें, इसलिये निम्न व्यवस्थायें की गई हैं : – (i) किसी भी समय कोष के पास किसी सदस्य-देश की मुद्रा की मात्रा उसके कोटे 20% से अधिक नहीं होना चाहिये। (ii) कोई देश 12 महीनों के अन्दर मुद्रा कोष से अपनी मुद्रा के बदले में अपने कोटे के 25% से अधिक नहीं खरीद सकता। (iii) जैसे-जैसे मुद्रा कोष का ऋण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे ऋण सदस्य को निरन्तर बढ़ती हुई दरों पर ब्याज देना पड़ता है।

(5) कोष द्वारा अपने साधनों को तरल (Liquid) रखने के उपाय—यदि ऋणी देश अपनी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रायें खरीदते चले जायें, तो यह सम्भव है कि कोष के पास ऐसी मुद्राओं का बाहुल्य हो जाय जिनकी माँग कम है और ऐसी मुद्राओं की कमी हो जाय जिनकी माँग अधिक है। यदि ऐसा हुआ, तो कोष एक सुरक्षित कोष का कार्य नहीं कर सकेगा। अतः यह जरूरी है कि कोष अपने साधनों को तरल रूप में रखे। इसके लिये उपाय किये गये हैं—(i) सदस्य देश सोने के बदले में कोई भी विदेशी मुद्रा खरीद सकते हैं, (ii) यदि किसी सदस्य देश की मुद्रा

कोष के पास उसके कोटे से अधिक है; तो वह आधिक्य को स्वर्ण देकर वापस खरीद सकता है, और (iii) प्रत्येक देश को कोष के पास रखी हुई अपनी मुद्रा का कुछ भाग स्वर्ण या परिवर्तनीय मुद्रा देकर प्रतिवर्ष पुनः खरीदना होगा ।

यह सम्भव है कि किसी देश की मुद्रा की पूर्ति कम हो जाय । पूर्ति कम होने का अर्थ यह है कि वह देश बहुत अधिक निर्यात कर रहा है और आयात बहुत कम । जो देश निरन्तर अनुकूल भुगतान संतुलन का अनुभव कर रहा है तो वह विनिमय दरों की स्थिरता में रोड़ा अटकाने का उतना ही दोषी है जितना कि वह देश जोकि अत्यधिक घाटे वाले भुगतान संतुलन रखता है । इन दोनों ही प्रकार के देशों से विश्व व्यापार की स्वतन्त्रता को गम्भीर ठेस लगती है । अतः मुद्रा-कोष अनुकूल भुगतान स्थिति वाले देश से अपनी करेन्सी का अवमूल्यन करने के लिये कहता है ताकि स्थिति में सुधार हो सके । इस हेतु कोष उसकी मुद्रा को 'दुर्लभ मुद्रा' (Scarce Currency) घोषित कर देता है और तब सम्बन्धित देश का यह कर्तव्य हो जाता कि वह अपनी करेन्सी का अवमूल्यन करदे ताकि उस देश में लागतें और व्यय बढ़ जांय तथा निर्यात घट कर आयातों में वृद्धि होने लगे । इस प्रकार उसकी दुर्लभ मुद्रा की पूर्ति बढ़ने लगेगी ।

(6) मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण का स्थान—मुद्रा कोष की योजना में स्वर्ण को यह स्थान दिया गया है—(i) प्रत्येक सदस्य देश को अपने कोटे का 25% या अपने पास के सोने का 10% सोना कोष में जमा करना पड़ता है, (ii) प्रत्येक देश की मुद्रा का मूल्य सोने में परिभाषित होता है, जिसके आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित की जाती हैं । कोष की अनुमति से इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है, (iii) यदि कोष को अपने पास किसी भी देश की करेन्सी का अभाव प्रतीत हो, तो उसे वह सोना देकर खरीद सकता है, और (iv) कोष ने स्वर्ण का मूल्य 35 डालर प्रति विशुद्ध औंस निश्चित किया है । **संक्षेप में स्वर्ण को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर तथा विनिमय दरों का आधार बना दिया गया है ।**

(7) केन्द्रीय बैंकों का बैंक—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष को विश्व के विभिन्न देशों के 'केन्द्रीय बैंकों का बैंक' (Central Bank's Bank) कहा जा सकता है, क्योंकि जिस प्रकार देश का केन्द्रीय बैंक वहाँ के व्यापारिक बैंकों के नगद कोष (Cash Reserves) अपने पास एकत्र कर लेता है, उसी प्रकार मुद्रा कोष भी सदस्य-देशों के केन्द्रीय बैंकों के साधनों को एक जगह एकत्र करता है ।

(8) संक्रान्ति काल में सुविधायें—मुद्रा कोष का उद्देश्य विश्व व्यापार की वृद्धि के हेतु विनिमय नियन्त्रणों को हटवाना है लेकिन उसने यह भी अनुभव किया कि युद्ध कालीन अर्थ-व्यवस्था को शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था में बदलने में कुछ समय लगेगा और इस बीच विनिमय नियन्त्रण सहसा ही नहीं हटाये जा सकते । अतः उसने परिवर्तन काल में सदस्य राष्ट्रों को विनिमय नियन्त्रण जारी रखने की छूट दे दी थी; किन्तु साथ ही यह आशा भी प्रकट की थी कि ये शीघ्रातिशीघ्र हटा लिये जायेंगे ।

प्रत्येक देश को अपने विनिमय नियन्त्रणों के बारे में अपना मत कोष के सामने रखने का अधिकार है। यदि कोष और सदस्य-देश के मध्य विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी मतभेद सन्तोषपूर्ण ढंग से हल न हों तो सदस्य देश को कोष से अलग होना पड़ेगा।

☞ Q. 32. In What way does the International Monetary Fund serves the same purpose as the Gold Standard ? Is the I. M. F. equally effects in stabilizing foreign values ?

क्या कोष की स्थापना स्वर्णमान पर वापिस आना है ?

कुछ अर्थशास्त्रियों की सम्मति में कोष का निर्माण स्वर्णमान पर वापिस आना है, क्योंकि कोष योजना और स्वर्णमान में निम्न समानतायें हैं—स्वर्णमान वाले देशों की भाँति ही इस कोष में भी विभिन्न मुद्राओं के बीच प्रारम्भिक विनिमय दर (Initial rate of exchange) स्वर्ण के आधार पर ही तय की जाती है। (ii) कोष की योजना में स्वर्ण का अमुद्रीयकरण नहीं हुआ है, क्योंकि इसका योजना में महत्वपूर्ण स्थान है (देखिये ऊपर के पैरे में)। (iii) स्वर्णमान की तरह कोष भी बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली को प्रोत्साहन देता है, क्योंकि मुद्राओं को कोष द्वारा पूर्व निर्धारित तुल्यताओं पर खरीदा और बेचा जा सकता है। (iv) स्वर्णमान के अन्तर्गत विभिन्न देश अपने भुगतान-संतुलन की विषमता को स्वर्ण के निर्यात द्वारा चुकाते हैं। मुद्रा-कोष की योजना में सदस्यों के कोटे इस कार्य को करते हैं। (v) जिस प्रकार स्वर्णमान के अन्तर्गत स्वर्ण के आयात-निर्यात का सम्बन्धित देशों की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मुद्रा कोष की योजना के अन्तर्गत मुद्राओं का पारस्परिक परिवर्तन भी सम्बन्धित देशों की अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालता है। क्योंकि (जैसा कि हाम (Halm) ने कहा है) कोष से अन्ततः विदेशी मुद्रा खरीदने वाले और बेचने वाले देशों की स्थितियाँ स्वर्णमान में क्रमशः स्वर्ण पाने वाले (Gold receiving) देशों की भाँति होती है। (vi) स्वर्णमान के अन्तर्गत तुलनात्मक लागत सिद्धांत के आधार पर व्यापार होता है और इसमें कोई विशेष अड़चन नहीं पड़ती है लेकिन योजना के अन्तर्गत संक्रांति काल में विनिमय नियन्त्रणों के कारण विदेशी व्यापार में कुछ बाधायें पड़ेंगी, किन्तु मुद्रा कोष अपने प्रयत्नों से इन नियन्त्रणों को हटवायेगा। इस तरह कुछ समय बाद विदेशी व्यापार स्वर्णमान की तरह कोष योजना के अन्तर्गत भी कम अधिक मात्रा में तुलनात्मक लागत के सिद्धांत से ही शासित होने लगेगा।

इस प्रकार स्वर्णमान के लगभग सभी गुण कोष की योजना में मौजूद हैं, किन्तु उसका दोष इसमें एक भी नहीं है। अतएव अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि 'कोष योजना' को स्वर्णमान की स्थापना नहीं कहा जा सकता। ऐसे दोष निम्नलिखित हैं:– (iii) स्वर्णमान में विनिमय दर बिल्कुल कठोर (Rigid) सी होती है और उसे स्वर्ण के आयात व निर्यात द्वारा स्थिर रखा जाता है जबकि कोष की योजना के अन्तर्गत विनिमय-दरों में कुछ सीमा तक परिवर्तन हो सकता है। (ii) स्वर्णमान के

हर एक देश को अपना आन्तरिक मूल्य-स्तर अन्य देशों के समान रखना पड़ता है तथा वे सोने का आयात-निर्यात करके अपने भुगतान-संतुलन की विषमताओं को दूर करते हैं, जिससे देश में साख के प्रसार और संकुचन का क्रम चलता है, लेकिन कोष की योजना के अन्तर्गत प्रत्येक देश अपनी आन्तरिक आर्थिक नीति के बारे में स्वतन्त्र होता है तथा कोष की सहायता द्वारा अन्य देशों से अपने भुगतान-संतुलन की विषमता ठीक कर लेता है ; किन्तु साथ ही उसकी साख-व्यवस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इन्हीं बातों के आधार पर लार्ड कीन्स ने कहा है कि कोष-योजना स्वर्णमान के ठीक विपरीत (Exact opposite) है ।

☞ Q. 33. How has India benefitted from the membership of the I. M. F.

भारत को कोष की सदस्यता के लाभ :

सन् 1944 के मौद्रिक सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व सर जैरमी रईसमैन ने किया था । सम्मेलन के निर्णयों को भारत ने भी स्वीकार किया था । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद् में भारत ने दो प्रस्ताव रखे थे—प्रथम, उसे मुद्रा कोष की कार्यकारिणी में स्थाई स्थान दिया जाय ; दूसरे, उसके पौंड-पावना ऋणों को भी कोष के कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया जाय । किन्तु ये दोनों प्रस्ताव अस्वीकृत हो गये । इससे भारत को कोष की सदस्यता प्राप्त करने में बहुत संकोच हुआ । लेकिन बाद में रूस के निकल जाने से उसका रिक्त स्थान भारत को मिल गया जिससे उसकी पहली माँग अपने आप ही पूर्ण हो गई तथा पौंड-पावनों के सम्बन्ध में भी उसका इंगलैंड से एक सम्मानजनक ठहराव हो गया । अक्टूबर सन् 1946 में वह कोष का प्रारम्भिक सदस्य बन गया था । भारत के प्रतिनिधियों ने कोष की नीतियों का निर्माण करने में और उसकी वार्षिक साधारण सभाओं में महत्वपूर्ण भाग लिया है । कोष की पूंजी में भारत का कोटा—401 मि० डॉलर है, जिसमें से 2·75 मि० तो स्वर्ण के रूप में तथा शेष भारतीय मुद्रा में दिया गया था। उसने अपने रुपये का सम-मूल्य डॉलर में 30 5 सेन्ट तथा सोने में 0·36831 ग्राम निर्धारण किया था। किन्तु सितम्बर 1949 के अवमूल्यन के पश्चात् ये मूल्य क्रमशः 21 सेन्ट और 0·186621 ग्राम हो गये हैं ।

कोष की सदस्यता से भारत को लाभ :

(1) **विदेशी मुद्राएँ मिलने में सुविधा**—भारत की आवश्यकतानुसार विदेशी मुद्रायें मिलने में सुविधा हो गई है, जिससे वह अपनी आर्थिक उन्नति के लिए विदेशों से पूंजीगत सामान ले सकता है । युद्ध के पश्चात् भारत का शोधनाशेष उसके बहुत प्रतिकूल हो गया था तथा उसमें बहुत घाटा रहता था । इसे पाटने में उसे कोष से अमूल्य सहयोग मिला है । इस सम्बन्ध में भारत ने अब तक कोष से 300 मि० डॉलर

का ऋण लिया है। सच तो यह है कि भारत ने कोष की सुविधाओं का अधिकतम उपयोग करने में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त करली है। उदाहरण के लिये, भारत की दशा में कोष ने इस प्रतिबन्ध को ढीला कर दिया था कि कोई सदस्य-देश किसी वर्ष में अपने कोटे के 25% से अधिक अन्य करेंसियाँ कोष से नहीं खरीद सकता। यह ढील भारत को प्राकृतिक आपदाओं के आधार पर मिली थी।

(2) **स्टर्लिङ्ग की दासता से रुपये की मुक्ति**—कोष का सदस्य हो जाने पर भारत को अपने रुपये का मूल्य स्वर्ण में परिणित करना पड़ा, जिससे सम-मूल्य के आधार पर उसका सम्बन्ध किसी भी देश की मुद्रा से प्रत्यक्ष रूप से बताया जा सकता है। इस प्रकार अब उसे स्टर्लिंग पर पहले की भाँति निर्भर नहीं रहना पड़ता है। अतः अब अन्य देशों की मुद्रा से भारतीय मुद्रा की बहुपक्षीय परिवर्तनशीलता कायम हो गई जबकि पहले यह एकपक्षीय परिवर्तनशीलता थी।

(3) **आन्तरिक आर्थिक समस्याओं के हल में सहायता**—उदाहरण के लिये भारत की अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के सम्बन्ध में कोष से अपूर्व आर्थिक सहायता मिलती है।

(4) **विश्व बैंक की सदस्यता**—कोष का सदस्य होने के कारण भारत को विश्व बैंक की सदस्यता भी प्राप्त हो गई और इस संस्था से भारत को अपने पुनर्निर्माण एवं विकास के लिये बहुत ऋण मिला है।

(5) **अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता में वृद्धि**—भारत को कोष की कार्यकारिणी में एक संचालक नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है जो कोष की नीति के निर्माण में महत्वपूर्ण भाग लेता है। इस प्रकार भारत मुद्रा-कोष के 5 बड़े सदस्यों में गिना जाता है।

मुद्रा कोष की सदस्यता से भारत को तथाकथित हानियाँ – कुछ लोगों ने यह मत प्रकट किया था कि भारत ने कोष की सदस्यता स्वीकार करके हानि उठाई है, क्योंकि (i) कोष ने भारत को पौंड-पावनों के भुगतान की सुविधा नहीं दी है, (ii) भारत का कोटा उसको प्राप्त होने वाले लाभ से अधिक रखा गया है, तथा (iii) कोष का सदस्य बनते समय उसके विधान मण्डलों की राय नहीं ली गई थी। **किन्तु ये सब नाममात्र के आक्षेप हैं। वास्तव में कोष की सदस्यता से भारत को बहुत लाभ हुआ है। भारत कोष के इने-गिने बड़े ऋणियों में से एक है।**

☞ Q. 34. Examine critically the functioning of the International Monetary Fund.

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष के कार्यों का ब्यौरा :

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी स्थापना से लेकर अब तक जो कार्य किये हैं उनका संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है :—

(1) **कोष के बोर्ड आफ गवर्नर्स की पहली मीटिंग**—मार्च सन् 1946 में जार्जिया

के सैवाना नगर में हुई, जिसमें कोष की कार्य-प्रणाली पर विचार करने के पश्चात् महत्वपूर्ण निर्णय किये गये। कोष ने 1 मार्च सन् 1946 से विनिमय व्यवहार की कार्यवाही आरम्भ कर दी थी।

(2) **सदस्य**—दिसम्बर सन् 1946 में 34 देश इसके सदस्य थे; 30 अप्रैल 1952 को इनकी संख्या 51 थी और अब 86 हो गई है।

(3) **कोष की पूंजी**—प्रारम्भ में 10,000 मि० डालर निश्चित की गई थी। किन्तु अक्टूबर सन् 1958 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के गवर्नर्स की दिल्ली मीटिंग के निर्णयानुसार यह 15,000 मि० डालर हो गई है। सब सदस्य देशों के कोटे भी 50% बढ़ गये हैं। अनेक देशों ने तो अपने कोटे से भी अधिक चन्दा दिया। सब देशों के द्वारा अपने चन्दों का भुगतान कर देने पर कोष की स्वर्ण-जमा 2,300 मि० डालर से बढ़ कर 4,600 मि० डालर हो जायगी। कोष के साधनों में वृद्धि होने से कोष की कार्यशक्ति पहले से बहुत बढ़ गई है। वह विश्व व्यापार को अब अधिक मात्रा में आर्थिक सहायता दे सकेगा और निर्यात में कमी होने से उत्पन्न भुगतान-संतुलन की समस्या को अधिक सुविधा से हल कर सकेगा। **श्री एंडरसन** (संयुक्त राज्य के प्रतिनिधि) ने कोष के साधनों की वृद्धि का प्रस्ताव गवर्नरों की बैठक में रखते हुए कहा था कि इससे उन देशों को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलेगा, जो अपनी मुद्रा की परिवर्तनशीलता को बनाने का या बनाये रखने का प्रयास कर रहे हैं।

(4) **मुद्रा का क्रय-विक्रय**—30 अप्रैल 1958 तक सदस्यों ने कोष से कुल 3,016·2 मि० अमरीकी डालर के बराबर मुद्रा का क्रय किया। सन् 1956-57 के वर्ष में सबसे अधिक मात्रा में (लगभग 1140 मि० डालर) विदेशी मुद्राएं सदस्य देशों द्वारा क्रय की गईं। 30 अप्रैल 1957 तक सदस्य देशों ने लगभग 1033 मि० डालर की विदेशी मुद्रायें कोष को वापस बेच दीं। कोष द्वारा 1956-57 में सदस्य देशों को करेंसी के विक्रय में यू० के०, फ्रांस और भारत का लगभग 75% भाग था। अधिकतर क्रय अमेरिकी मुद्रा का किया गया था। केवल मिश्र ने ही 15 मि० के कनैडियन डालर लिये थे।

(5) **वित्तीय सहायता का क्षेत्र**—कोष में कार्यों का क्षेत्र विशेषतः सन् 1956-57 में, विश्व के सभी महत्वपूर्ण प्रदेशों तक विस्तृत रहा है। इस वर्ष में 16 देशों से कोष का व्यवहार हुआ था, जिनमें से 3 यूरोप के, 9 लेटिन अमेरिका के, 2 मध्य पूर्व के और 2 सुदूर पूर्व के देश थे।

(6) **सम-मूल्यों में परिवर्तन**—कोष ने समय-समय पर राष्ट्रों की मुद्राओं के सम-मूल्यों में कमी की है, जैसे—दिसम्बर सन् 1952 में उसने यूगोस्लाविया की मुद्रा का सम-मूल्य कम कर दिया था।

कोष की सफलताएं :

साधारणतः कोष का कार्यवाहन संतोषजनक ही रहा है। इसकी प्रमुख सफलताएँ निम्नलिखित हैं :—

(1) बहुपक्षीय व्यापार व भुगतान की व्यवस्था—कोष योजना के कार्यवाहन से अब बहुपक्षीय व्यापार और बहुपक्षीय भुगतान की व्यवस्था सम्भव हो गई है। इससे विदेशी व्यापार और विनियोग के लिए पूँजी के आवागमन को बहुत प्रोत्साहन मिला है।

(2) शोधनाधिक्य के असंतुलन को दूर करने में सहायता—कोष के पास विभिन्न देशों की मुद्राओं के रक्षित कोष रहते हैं, जिनके आधार पर उसने विभिन्न देशों को शोधनाधिक्य के असंतुलन को बराबरी के आधार पर दूर करने में सहायता दी है। वह आवश्यकतानुसार विभिन्न मुद्राओं का क्रय-विक्रय करके देशों की विदेशी विनिमय सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी करता रहता है। असाधारण काल में किसी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाने पर वह उसे 'दुर्लभ' घोषित करके तथा उसका राशनिंग करके सदस्य देशों को अपने शोधनाधिक्य के असन्तुलन को दूर करने का अवसर देता है। इस तरह कोष की योजना में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में 'साम्य' (Equilibrium) रखने का भार देनदार एवं लेनदार दोनों ही देशों पर समान रूप से डाला गया है।

विनिमय दरों पर कोष के कार्यवाहन की प्रतिक्रिया :

(3) विनिमय दरों में अधिक स्थिरता—कोष की योजना के कार्यवाहन से विनिमय दरों पर बहुत ही अनुकूल प्रतिक्रिया हुई हैं। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार व भुगतान की सुविधा के लिये विभिन्न देशों की मुद्राओं के सम-मूल्य निश्चित कर देना आवश्यक था। कोष की योजनानुसार विश्व के अनेक देशों ने ऐसा कर दिया है। इस प्रकार अब विनिमय दरों में काफी स्थिरता आती जा रही है। साथ ही इनमें स्वर्णमान जैसी कठोरता भी नहीं है।

(4) स्वर्णमान के लाभों की प्राप्ति—कोष के निर्माण से विश्व को स्वर्णमान की स्थापना के बिना स्वर्णमान के सब लाभ प्राप्त हो गये हैं।

(5) मौद्रिक अनुशासन की वृद्धि—कोष ने अपने सदस्यों में मौद्रिक अनुशासन की वृद्धि करने के लिये काफी प्रयास किया है। जैकोबसन के शब्दों में—"यदि हम कोष के कार्यवाहन की परीक्षा करें, तो यह उचित रूप से कहा जा सकेगा कि कोष ने मौद्रिक अनुशासन की वृद्धि में सहायता दी है न कि उसने मौद्रिक अनुशासन को कमजोर बनाया है। जब सदस्य देश अपनी समस्याओं को और वर्तमान कार्यक्रमों को हल व पूरा करने के लिये उचित प्रयास करते हैं, तो वह उन्हें समुचित सहायता देता है और इस बात का आवश्वासन देता है कि विनिमय की व्यावहारिक दरों से स्थिरता रहेगी। यद्यपि कोष से वास्तविक सहायता न भी लेनी पड़े तथापि सहायता मिलने की सम्भावना मात्र से ही बहुत से देश सन्तुलन की स्थापना करने में आत्म-विश्वास के साथ उचित कदम उठाने के लिये प्रेरित हुए हैं। यदि उन्हें अपने ही साधनों पर निर्भर रहना पड़ता तो सम्भवतः वे इतने कठोर उपाय कभी न अपनाते।"

(6) **टैक्नीकल सहायता**—कोष ने विश्व के अनेक भागों में अपने स्टाम्पन-मिशनों द्वारा टैक्नीकल सहायता का विस्तृत कार्यक्रम बनाया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर अध्ययन, रिपोर्टों व प्रकाशनों की व्यवस्था की है। उसने अपने सदस्य देशों को मौद्रिक विषयों पर उचित टैक्नीकल परामर्श भी प्रदान किया है, जैसे—सम-मूल्यों में परिवर्तन करना, विनिमय-नियन्त्रण, मुद्रा, साख एवं प्रशुल्क नीति के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों पर प्रभाव तथा विकास योजनाओं के मौद्रिक पहलू आदि।

कोष की विफलतायें :

यद्यपि कोष की सफलताओं की सूची बहुत लम्बी है तथापि सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से कोष की बहुत आलोचना की गई है। प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(1) **कोष का सीमित कार्य-क्षेत्र**—कोष के कार्य-क्षेत्र को बहुत सीमित रखा गया है। वह केवल चालू सौदों के विदेशी विनिमय की समस्याओं को हल करने का प्रयास करता है। युद्ध-ऋण, पूंजी का आयात-निर्यात, अवरुद्ध-स्टर्लिंग आदि की समस्यायें उसके क्षेत्र से बाहर हैं। इनके लिये राष्ट्रों को स्वतन्त्र प्रयास करने होंगे। हमें कोष की यह आलोचना उचित नहीं जान पड़ती है, क्योंकि यदि प्रारम्भ से ही कोष पर उक्त समस्याओं का भार डाल दिया जाता, तो कोष योजना शीघ्र ही असफल हो जाती।]

(2) **राष्ट्रों के कोटे वैज्ञानिक आधार पर निश्चित नहीं हैं**—राष्ट्रों के कोटे या तो उनके विदेशी व्यापार की मात्रा के आधार पर निश्चित किये जा सकते थे अथवा व्यापार शेष की स्थिति या विदेशी विनिमय की आवश्यकताओं के अनुसार भी स्थिर किये जा सकते थे। किन्तु कोष ने इनमें से किसी आधार को नहीं अपनाया। कुछ लोगों का यह मत है कि ये कोटे इंगलैंड और अमेरिका के आर्थिक एवं राजनैतिक स्वार्थों को दृष्टि में रख कर निश्चित किये गये हैं। चूंकि राष्ट्रों को कोष से मिलने वाला लाभ उनके कोटे से सीमित होता है, इसलिये इन्हें किसी वैज्ञानिक आधार पर निश्चित करना आवश्यक है।

(3) **भेदभावपूर्ण व्यवहार**—ऋणों के स्वीकृत करने तथा अन्य सुविधायें देने के सम्बन्ध में कोष ने भेदभाव की नीति अपनाई है। इसके दो ज्वलन्त उदाहरण हैं—(i) जनवरी सन् 1948 में फ्रांस ने कोष की आज्ञा के विरुद्ध अपनी विनिमय दर का 44% अवमूल्यन कर लिया। यहाँ तक कि उसने पेरिस में स्वर्ण, अमेरिकी डालरों व पुर्तगाली मुद्रा के लिये स्वतन्त्र बाजार भी उत्पन्न कर दिया जिससे वहाँ कोष द्वारा सरकारी रूप से निर्धारित दरों के समानान्तर (Parallel) स्वतन्त्र विनिमय दरें प्रचलित हो गईं। इतने पर भी उसे कोई कड़ी सजा नहीं दी गई। (ii) यद्यपि सारे संसार को (विशेषतः स्टर्लिंग क्षेत्र के देशों को) अमेरिका डालरों का बहुत अभाव था तथापि अमेरिकी प्रभाव में होने के कारण कोष ने डालरों को 'दुर्लभ मुद्रा' घोषित

नहीं किया। यदि वह ऐसा कर देता, तो अमेरिका को अपनी करेंसी का इस प्रकार पुनर्मूल्यन करना पड़ता कि काफी सीमा तक डालरों का अभाव दूर हो जाय। लेकिन कोष ने ऐसा न करके उल्टे पौंड स्टलिंग के ही अवमूल्यन का सुझाव दिया।

(4) **कार्यकारिणी की दोषपूर्ण सदस्यता**—मुद्रा कोष की कार्यकारिणी का गठन कुछ इस प्रकार किया गया है कि अमेरिका के हितों की रक्षा होती रहे। इसी कारण उसमें लेटिन अमेरिका के देशों को दो स्थान दिये गये हैं।

(5) **डालरों की अल्पता की सम्भावना**—विभिन्न देश अमेरिका से माल मँगाने के लिये कोष से डालर तो निकालेंगे किन्तु जब वे अमेरिका को माल भेजेंगे, तो अमेरिका व्यापारियों से स्वदेशी करेंन्सी में बीजक का भुगतान न लेकर डालर करेंन्सी में ही भुगतान लेंगे और इसे कोष को न देकर अपने ही पास रख लेंगे। इस प्रकार कोष के पास डालरों की अल्पता होती जायेगी जबकि उसके बाहर उक्त देश डालर एकत्र कर लेंगे। ऐसी स्थिति में डालरों की 'अल्पता' के कारण कोष की योजना असफल हो जाने का भय है। (किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कोष डालरों का पुनः क्रय भी कर सकता है तथा उसका राशनिंग भी कर सकता है। इससे योजना टूटने का डर व्यर्थ है।)

(6) **कोष की योजना के कुछ दोषपूर्ण नियम**—कोष की योजना के कुछ नियम इतने दोषपूर्ण हैं कि वे कोष को बड़ी संकोचपूर्ण एवं असहाय स्थिति में डाल देते हैं। उदाहरण के लिये, जब किसी देश की घरेलू नीति के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुये आन्तरिक मुद्रा प्रसार के कारण शोधनाधिक्य में गम्भीर असन्तुलन पैदा हो जाता है, तो कोष उस देश को अपनी करेंसी का 10% से भी अधिक अवमूल्यन करने से नहीं रोक सकता, क्योंकि इसमें परिवर्तन का प्रस्ताव करने वाले देश की घरेलू, सामाजिक व आर्थिक नीतियों का प्रश्न जुड़ा हुआ है, जिसके बारे में सदस्य देश स्वतन्त्र होते हैं। लेकिन अवमूल्यन करना तब तक प्रभावपूर्ण नहीं होगा जब तक कि आन्तरिक मुद्रा प्रसार को रोका न जाय। लेकिन इसके लिये कोष कोई आज्ञा नहीं दे सकता, क्योंकि ऐसा करना कोष द्वारा सदस्य-देश की आर्थिक नीति में हस्तक्षेप समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में कोष क्या करे? अधिक से अधिक वह सदस्य-देश को समझा-बुझा ही सकता है, लेकिन प्रायः ऐसे नाजुक मामलों में समझाना-बुझाना बेकार ही रहता है।

(7) **कम उन्नत देशों पर पश्चिमी देशों का दबाव**—इस बात की सम्भावना है कि पश्चिमी देश भविष्य में अपने आर्थिक हितों की उन्नति के लिये व्यापारिक नियन्त्रण हटवाने पर जोर देंगे जो कम उन्नत देशों के हित में न होगा। अतः वे इसका विरोध करेंगे। इस प्रकार कोष दोनों हितों की खींच-तान का अखाड़ा बन जायेगा।

कुछ भी हो, अन्तर्राष्ट्रीय कोष की स्थापना और इसका अब तक का कार्य

मिलाकर बहुत सराहनीय है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में कोष अपना कार्य-वाहन सबके प्रति अधिक संतोषजनक रखने का प्रयास करेगा।

Q. 35. State briefly the functions of the International Bank and comment on its working.

Or

Explain the aims and objects of the Bank for Reconstruction & Development.

Or

What are the objects of setting up the International Bank for Reconstruction and Development? Can you mention any case or cases of any country or countries to which the I. B. R. D. has granted loans? If so, give your opinions, with reasons regarding the terms of the transaction. In what way can the Bank be helpful to India?

अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण व विकासार्थ बैंक
(Bank For International Reconstruction & Development)

प्रायः सभी यह मानते हैं कि पश्चिमी और पूर्व के आय तथा रहन-सहन के स्तरों में भी जो भारी विषमतायें हैं वह शक्तिशाली विस्फोट का कारण बन सकती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पुनः खतरे में पड़ सकती है। अतः अविकसित देशों की जनता का रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठाना तथा युद्ध-जर्जरित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनः निर्माण की समस्याओं ने ब्रैटनवुड्स सम्मेलन को इन कार्यों के पृथक से एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना के लिये प्रेरित किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य :

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा परिषद की रिपोर्ट के दूसरे भाग की धारा 1 के अनुसार विश्व बैंक के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(1) राष्ट्रों का पुनर्निर्माण और आर्थिक विकास—विश्व बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्ध जर्जरित राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण और अविकसित अथवा कम उन्नत देशों को अपने प्राकृतिक साधनों का अधिकतम शोषण करके विकास करने में आर्थिक सहायता प्रदान करना है।

(2) पूंजी के विनियोग को प्रोत्साहन—पिछड़े हुये या कम उन्नत देशों में पूंजी की विकट समस्या है। पूंजी के अभाव के कारण वहाँ प्राकृतिक साधनों का शोषण समुचित प्रकार से नहीं हो पाया है। अतः बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य विदेशी प्राइवेट विनियोजकों को उनकी पूंजी की गारन्टी देकर या उनके विनियोगों अथवा ऋणों में भाग लेकर उन्हें ऐसे देशों में उत्पादक विनियोग करने के लिये प्रोत्साहित करना है। यदि प्राइवेट विनियोग पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सकें तो

बैंक इस कमी की पूर्ति के लिए अपनी ही पूंजी में से उक्त देशों को उत्पादक कार्यों के लिये ऋण देगा।

(3) **दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा**—विश्व बैंक का तीसरा उद्देश्य विदेशी व्यापार की दीर्घकालीन उन्नति की व्यवस्था करना है। वह एक ऐसी दशा उत्पन्न करेगा जिसमें राष्ट्रों के भुगतान संतुलन में भारी विषमतायें न रहें अर्थात् संतुलित व्यापार को जन्म देना विश्व बैंक का उद्देश्य है।

(4) **शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना**—विश्व बैंक का उद्देश्य अपने कार्य इस प्रकार करना है जिससे युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था का शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था से प्रतिस्थापन हो सके।

विश्व बैंक का गठन :

(1) **सदस्यता**—कोई भी देश बैंक का सदस्य बन सकता है बशर्ते वह बैंक के नियमों को पूरा करे। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता विश्व बैंक का सदस्य बनने के लिये आवश्यक है। जो देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता त्याग देता है वह इस बैंक का भी सदस्य नहीं रह सकता। अक्टूबर 1958 को बैंक की सदस्य संख्या 38 थी। भारत भी इस बैंक का सदस्य है।

(2) **पूंजी साधन**—बैंक की अधिकृत पूंजी 1000 करोड़ डालर है जिसे 1-1 लाख डालर के अंशों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक सदस्य के कुल चन्दे को तीन भागों में बाँटा गया है—(i) 2% चन्दा स्वर्ण अथवा अमरीकन डालर में माँगने पर तुरन्त देय होता है और इसे उधार देने के काम में स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है; (ii) 18% चन्दा सदस्य देश अपनी मुद्रा में दे सकता है। इसका उपयोग उधार देने में उस सदस्य देश की अनुमति से ही प्रयोग किया जाता है; और (iii) शेष 8% उस समय देना पड़ता है जबकि बैंक को अपने दायित्वों को पूरा करने के लिये उसकी आवश्यकता अनुभव हो। यह उधार देने के काम में नहीं ली जा सकती है और इसे सदस्य देश स्वर्ण, डालर या बैंक द्वारा आदेशित किसी अन्य मुद्रा में चुका सकता है।

(3) **प्रबन्ध**—बैंक के प्रबन्ध के लिये (i) एक बोर्ड ऑफ गवर्नर्स; (ii) एक्जीक्यूटिव डाइरैक्टर्स; (iii) एक प्रेसीडेण्ट तथा (iv) अन्य कर्मचारी होते हैं। **बोर्ड ऑफ गवर्नर्स (Board of Governors)**—बैंक की सारी शक्तियाँ बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में निहित हैं। ये गवर्नर पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते हैं। बोर्ड की मीटिंग वर्ष में एक बार अवश्य होती है। यद्यपि इस मीटिंग में औपचारिक बातों पर ही विचार-विमर्श किया जाता है, तथापि इसे महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय वित्त एवं मौद्रिक समस्याओं के बारे में उच्च स्तर पर विचारों के आदान-प्रदान का अवसर माना जाता है। **बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स**—एक्जीक्यूटिव डाइरैक्टरों में से, जिनकी संख्या इस समय 18 है, 5 डाइरैक्टर बैंक के सबसे बड़े 5 शेयरहोल्डरों—अमेरिका ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और भारत—द्वारा नियुक्त किये जाते हैं और शेष डाइरैक्टर बचे

हुए राष्ट्रों द्वारा चुने जाते हैं। प्रत्येक डाइरैक्टर को अपनी सरकार द्वारा धारण किये हुये शेयरों के अनुपात में वोट देने का अधिकार होता है। कुछ अपवादों को छोड़कर अन्य सभी मामलों में बोर्ड ऑफ गवर्नर्स ने अपने अधिकार एक्जीक्यूटिव डाइरैक्टरों को सौंप दिये हैं। इन डाइरैक्टरों की अवधि दो वर्ष होती है। बोर्ड ऑफ डाइरैक्टर्स द्वारा एक **एडवाइजरी काउन्सिल (Advisory Council)** भी निर्वाचित की जाती है, जिसमें कम से कम 7 सदस्य होते हैं। ये सदस्य बैंकिंग, वाणिज्य, उद्योग-धन्धे, कृषि व श्रम आदि विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। इनका निर्वाचन करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि अधिक से अधिक राष्ट्रों को प्रतिनिधित्व मिले। इस काउन्सिल की मीटिंग वर्ष में कम से कम एक बार होती है और यह बैंक को उसकी सामान्य नीति के सम्बन्ध में परामर्श देती है। इसके अतिरिक्त एक **ऋण समिति (Loan Committee)** भी होती है, जिसका कार्य सदस्यों के ऋण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों की जांच-पड़ताल करना है। इसमें एक प्रतिनिधि प्रार्थना करने वाले राष्ट्र का भी होता है। इस समिति के सदस्य भी विशेषज्ञ ही हुआ करते हैं। **प्रेसीडेन्ट**—इसका चुनाव एक्जीक्यूटिव डाइरैक्टरों द्वारा किया जाता है और यह उनके चेयरमैन का कार्य करता है।

बैंक की कार्य-प्रणाली :

(1) अपने ही कोष से ऋण देना—बैंक दत्त पूंजी (Paid-up capital) के 20% तक अपने ही कोष से ऋण दे सकता है। इसमें से 2% भाग जो स्वर्ण के रूप में होता है, बैंक चाहे जिस कार्य के लिये प्रयोग कर सकता है। लेकिन शेष 18% भाग, जोकि हिस्सा खरीदने वाले राष्ट्र की मुद्रा के रूप में होता है, बैंक तभी उधार दे सकता है या अन्य मुद्राओं से इसका विनिमय कर सकता है जबकि वह उक्त राष्ट्र से अनुमति ले लें।

(2) उधार ली गई पूंजी से ऋण देना—सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने के लिये बैंक अन्य समर्थ सदस्य-राष्ट्रों से कोष उधार ले सकता है किन्तु यहां भी शर्त यह होती है कि इन राष्ट्रों की अनुमति से ही वह इस उधार ली गई पूंजी से किसी राष्ट्र को ऋण में दे सकता है।

(6) गारन्टी देकर ऋण दिलाना—बैंक स्वयं ऋण देने की अपेक्षा यथा-संभव दूसरों के द्वारा दिए हुए ऋणों की गारन्टी देना ही अधिक अच्छा समझता है। दूसरे शब्दों में, बैंक प्राइवेट ऋणों को प्रोत्साहित करता है और अपने पास से ऋण तब ही देता है जबकि प्राइवेट विदेशी ऋण न मिल सके। **बैंक निम्न शर्तों पर प्राइवेट ऋणों की गारन्टी देता है**—(i) ऋण प्रदान करने की शर्तें उचित होनी चाहियें, (ii) जिस योजना के लिये ऋण लिया जा रहा है वह भी उचित होनी आवश्यक है। (इसके औचित्य का निर्णायक बैंक स्वयं ही होता है), (iii) ऋणी के पास भुगतान करने के लिये यथेष्ट साधन होने चाहियें और (iv) ऋण लेने वाले राष्ट्र की सरकार को उस ऋण की गारन्टी देनी होगी।

यह उल्लेखनीय है कि बैंक सदस्य-देशों से लेन-देन उनकी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के द्वारा ही करता है। किसी प्राइवेट व्यक्ति या संस्था से सीधा व्यवहार वह तभी कर सकता है जब उस देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक ऋण की गारन्टी दें। बैंक सदस्य राष्ट्रों को ऋण अथवा ऋण की गारन्टी तभी देता है जब कि उसे विश्वास हो जाता है कि उचित शर्तों पर अन्य किसी ढंग से ऋण मिलने की संभावना नहीं है। ऋण की रकम ऋण लेने वाले देश के केन्द्रीय बैंक में जमा करदी जाती है जहाँ से उसे आवश्यकतानुसार निकाला जा सकता है। ऋण दिलाते समय बैंक ऋणी और ऋणदाता दोनों ही देशों के हितों का ध्यान रखता है। ऋण की राशि को केवल पुर्ननिर्माण या विकास योजनाओं में ही व्यय किया जा सकता है और बैंक को इसके निरीक्षण का भी अधिकार होता है।

विश्व बैंक के कार्यों का मूल्यांकन :

बैंक का काम करते हुए 15 वर्ष होते जा रहे हैं। नीचे हम अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की प्रमुख सफलताओं का विवेचन दे रहे हैं—

(1) वित्तीय साधनों का विस्तार— गत 15 वर्षों में विश्व-बैंक के कार्य-क्षेत्र का बहुत विस्तार हो गया है, जिससे उसे काफी अधिक मात्रा में ऋण देना या दिलाना सम्भव हो गया है। चूंकि बैंक द्वारा दिये गये ऋण या गारन्टी द्वारा दिलाये गये ऋण दोनों की रकम बैंक की प्रार्थित पूंजी और संचित कोष के योग से अधिक नहीं हो सकती है, इसलिये अधिक ऋण प्रदान करने के लिये वित्तीय-साधनों में विस्तार करना बैंक के लिये आवश्यक था। समय-समय पर बैंक ने इसके लिये प्रयत्न भी किये हैं, बैंक के साधनों में वृद्धि होने से बैंक की ऋण-प्रदायक शक्ति बहुत बढ़ गई है और इसका वास्तविक लाभ अधिकांशतः अविकसित देशों को ही मिलेगा।

(2) सदस्य देशों के विकास के लिये अधिक ऋण—बैंक ने सदस्य देशों को 3,819 मि० डालर के ऋण उपलब्ध किये। बैंक ने कुल 34 ऋण दिये और ऋण पाने वाले देशों व क्षेत्रों की संख्या 18 थी। 24 ऋणों में से 7 ऋण भारत को, 1 पाकिस्तान को और 4 जापान को एशिया में दिये गये थे। अफ्रीका में विभिन्न क्षेत्रों को 3 ऋण, दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न देशों को 7 ऋण (जिनमें चिली को दिये गये 3 ऋण भी सम्मिलित हैं) उत्तरी अमेरिका को 3 ऋण (जिनमें मैक्सिको को दिये गये 2 ऋण सम्मिलित हैं) दिये गये। 3800 मि० डालर के ऋण में से 1400 मि० डालर ऋण एशियाई व अफ्रीकी देशों को विकास योजनाओं के लिये दिया गया था। ऋणों की अवधि 6 से 30 वर्ष तक की है। इन ऋणों पर बैंक ने 1% से 1½% तक कमीशन तथा ½% से 3½% तक ब्याज लिया है। ऋण अमेरिकी डालरों, बेल्जियन फ्रांक, कनैडियन डालर, नीदरलैंड, गिल्डर पौंड स्टर्लिंग, स्विस फ्रैंक में दिया गया है।

ऋणों का योजनाबद्ध सदुपयोग—बैंक के ऋण देने का प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को इस प्रकार से सहायता देना है जिससे वे अपना आर्थिक विकास एक दृढ़

आधार पर कर सकें। अतएव विद्युत-शक्ति और यातायात के साधनों की विकास योजनाओं को बैंक ने बहुत महत्व दिया है, क्योंकि ये आधारभूत सेवायें हैं।

(4) टैक्नीकल सहायता—बैंक ने पिछले वर्षों में सदस्य सरकारों को ऋण-उपयोग से सम्बन्धित मामलों में टैक्नीकल सहायता प्रदान करके महत्वपूर्ण सेवा की है। इसके सर्वे-दलों ने विभिन्न ऋणी देशों में जाकर वहां के राष्ट्रीय साधनों का गहन अध्ययन किया तथा उनके दीर्घकालीन विकास-कार्यक्रमों के लिये आधारभूत सुझाव दिये हैं। प्रार्थना करने पर बैंक ने अविकसित देशों को वित्तीय अथवा आर्थिक विशेषज्ञों की सेवायें भी उधार दी हैं। इन राज्यों के अधिकारियों के लिये सामूहिक एवं व्यक्तिगत ट्रेनिंग-प्रोग्रामों का भी उसने आयोजन किया।

(5) राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों में मध्यस्थता—राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़े उनके आर्थिक विकास में बाधा डालते हैं। अतएव बैंक ने इन झगड़ों में मध्यस्थता करके उन्हें निपटाने का प्रयत्न किया है। भारत और पाकिस्तान के नहरी विवाद पर भारत पाकिस्तान के बीच अक्टूबर 1960 में जो समझौता हुआ उसका श्रेय विश्व बैंक को ही है।

(6) स्टाफ कालिज की स्थापना—रौकफैलर तथा फोर्ड फाउण्डेशनों की वित्तीय सहायता से बैंक ने वाशिंगटन में एक प्रशिक्षण संस्था (Economic Development Institute) की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य कम उन्नत देशों से उच्च अधिकारियों को आमन्त्रित करके विशेष शिक्षा प्रदान करना है ताकि वे अपने देश में अधिक विकास की समस्याओं को सुगमता से समझ सकें और विकास के कार्य-क्रमों को अधिक कुशलतापूर्वक चला सकें।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त-निगम—जुलाई सन् 1956 में स्थापित हुये इस निगम से प्राइवेट साहस को बढ़ावा मिला है।

(8) ऋणदाता देशों की सामयिक बैठकें—विश्व बैंक समय-समय पर ऋणदाता देशों की मीटिंग करता रहता है। इस प्रकार की बैठकों के कारण विचार-विनिमय में सुविधा हो जाती है तथा ऋणी देशों को ऋण मिलने में सुगमता हो जाती है।

विश्व बैंक के कार्यों की आलोचना :

यद्यपि बैंक ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये हैं तथापि इसमें कुछ दोष भी हैं जो मुख्य-मुख्य निम्नलिखित हैं—

(1) ऋण देश के साथ पक्षपात—आलोचकों का कहना है कि बैंकों का विधान ही ऐसा है कि यह ऋणी देशों का पक्षपात करता है। चूंकि अधिकांश सदस्य-देश ऋणी होते हैं, तथा ऋणदाता सदस्य कम होते हैं, इसलिये बैंक के निर्णयों पर ऋणियों का अधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है।

[किन्तु यह आलोचना भ्रमपूर्ण है। बैंक सभी सदस्यों की (चाहे वे ऋणदाता हों या ऋणी) संयुक्त और व्यक्तिगत गारन्टी पर खड़ा है। अतः बैंक जब किसी सदस्य को ऋण देता है, तो न केवल पूंजी उधार देने वाला देश जोखिम उठाता है।

वरन् अन्य सभी देश भी जोखिम उठाते हैं। ऐसी स्थिति में ऋण लेने वाले देश के साथ कोई भी देश अनुचित पक्षपात दिखाना पसंद नहीं करेगा।]

(2) **प्राइवेट विनियोगों की तुलना में कम अच्छा कार्य**—बैंक के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया जाता है कि उसने उतनी कुशलता से पिछड़े देशों में पूंजी का विनियोजन नहीं किया जितनी कुशलता से प्राइवेट विनियोजक कर सकते हैं। [यह आलोचना भी उचित नहीं है। बैंक के विधान और उसके कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक का उद्देश्य प्राइवेट विनियोगिकों की सहायता करना है न कि उनका स्थान ले लेना। इसके अतिरिक्त, प्राइवेट विनियोग दीर्घकाल के लिए अधिक जोखिमपूर्ण कार्यों में अपनी पूंजी फंसाना कदापि पसन्द नहीं करते जबकि बैंक से इन परिस्थितियों में भी ऋणी को सस्ती ब्याज पर पर्याप्त रुपया मिल सकता है।]

(3) **ब्याज की ऊंची दर**—यद्यपि बैंक के ऋणों की गारन्टी ऋण लेने वाले देश की सरकार द्वारा की जाती है और उसमें प्रायः नहीं के बराबर जोखिम होता है तथापि बैंक ऋणों पर अधिक ब्याज लगता है, जो उचित नहीं है। उसे यह याद रखना चाहिये कि विश्व के आर्थिक रूप से दुर्बल राष्ट्रों को उनके प्रसाधनों का विकास करने में सहायता देकर विश्व में आर्थिक शांति का विस्तार करने के लिये ही उसकी स्थापना हुई थी।

(4) **ऋणी देश की भुगतान क्षमता पर अत्यधिक बल**—बैंक की एक आलोचना यह भी है कि वह किसी देश की ऋण लौटाने की क्षमता पर बहुत अधिक बल देता है। यह दृष्टिकोण बहुत रूढ़िवादी है। वास्तव में लौटाने की क्षमता ऋण के पूर्व नहीं वरन् बाद में ही विकसित होती है। एक अविकसित देश में, जहाँ पृथ्वी के गर्भ में शोषण की प्रतीक्षा में सम्पन्न साधन दबे हैं, ऋण स्वीकृत करने से पूर्व लौटाने की क्षमता तलाश करना विश्व बैंक की अदूरदर्शिता ही जाहिर करेगा। जब ऋणों की सहायता से विकास कार्यक्रम पूरे हो जायेंगे, तो ऋण लेने वाला देश चुकाने की स्थिति में स्वतः हो जायेगा।

(5) **अविकसित देशों को कम ऋण**—बैंक एक निष्पक्ष एवं अराजनैतिक संस्था है। उससे यह आशा की जाती है कि वह सबके साथ समानता का व्यवहार करेगा। किसी के साथ ऋण देने के मामले में अनुचित पक्षपात नहीं करेगा और प्रार्थी को उसकी स्थिति की योग्यता के आधार पर ही ऋण देगा। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि बैंक ने इन कठोर सिद्धान्तों का पूर्ण पालन नहीं किया है। उसने केवल योग्यता एवं आर्थिक आधार पर ही ऋण नहीं दिये हैं, वह राजनैतिक कारणों से भी प्रभावित हुआ है। उदाहरण के लिये, 3729 मि० डालर के कुल ऋणों में एशिया और अफ्रीका दोनों को मिलाकर केवल 1427 मि० डालर मिले जो कि बैंक द्वारा स्वीकृत ऋणों का लगभग 38% है।

(6) **अपर्याप्त वित्तीय सहायता**—यद्यपि बैंक सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं का उचित रूप से विकास करने में काफी मदद कर रहा है तथापि उसे पर्याप्त एवं

प्रभावपूर्ण नहीं जा सकता। विश्व बैंक द्वारा दी गई आर्थिक सहायता समुद्र में एक बूँद के समान है। यही कारण है कि बैंक के साधनों का विस्तार करने के लिये कई सहायक संगठनों के निर्माण का सुझाव दिया गया है, जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद अथवा विशेष संयुक्त राष्ट्र कोष आदि। इनकी स्थापना होने से बैंक अविकसित राष्ट्रों के विशेष आवश्यकताओं को उचित रूप से पूरा कर सकेगा।

(7) **विलम्बपूर्ण कार्यवाहन**—यह भी आरोप लगाया गया है कि बैंकों का कार्यवाहन बहुत विलम्बपूर्ण होता है।

निष्कर्ष—कुल मिलाकर यह स्वीकार करना होगा कि विश्व बैंक का कार्य बहुत शानदार है भविष्य में यह आशा की जा सकती है कि अविकसित और कम विकसित देश भी इसके सहयोग से शीघ्र ही औद्योगिक दृष्टि से उन्नत व प्रगतिशील राष्ट्र बन जायेंगे।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से हुए लाभ

भारत का आर्थिक विकास बहुत कुछ पूँजी की उपलब्धता पर निर्भर है। देश में पूँजी की कमी के कारण वह विदेशी पूँजी पर आश्रित है। किन्तु विदेशी पूँजी तब प्राप्त हो सकती है जबकि उनको पुनः भुगतान और ब्याज की गारन्टी मिले। स्वार्थी देश इसके साथ-साथ प्रायः राजनैतिक शर्तें भी जोड़ दिया करते हैं। इसके अतिरिक्त ऋणी देश को प्रायः यह ज्ञान नहीं होता है कि कौन देश कितना ऋण देने की स्थिति में है। विश्व बैंक के सहयोग से ये सब कठिनाइयाँ सुलझ गई हैं। अतः भारत को पूँजी मिलने में बहुत सुविधा हो गई है। यह उल्लेखनीय है कि ऋण देने वालों में भारत का प्रथम स्थान है। पहला ऋण भारत को मिला और सबसे अधिक ऋण भी भारत को ही प्राप्त हुआ है। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भारत को ये ऋण बराबर मिलते रहे हैं, जिससे उसके विकास कार्य-क्रम अबाध गति से पूरे होते गये हैं। भारत को विश्व बैंक से प्राप्त हुई सहायता का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार हैं :—

(I) वित्तीय सहायता :

(1) विभिन्न मित्र देशों से पर्याप्त सहायता दिलाने के अतिरिक्त विश्व बैंक ने स्वयं भी 1961-62 में 70 करोड़ रु० के ऋण भारत को दिये, जिससे कुल स्वीकृत ऋण-राशि 390 करोड़ रु० हो गई। इसमें से 293 करोड़ रु० 1961-62 के अन्त तक प्रयोग किये जा चुके थे। बैंक ने जिन योजनाओं के लिये ऋण दिये हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(i) भारतीय रेलों के लिए इन्जन व अन्य साज-सामान खरीदने के लिए।
(ii) भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिये कृषि यन्त्रादि।
(iii) दामोदर घाटी निगम की सिंचाई एवं विद्युत योजना।
(iv) ऐयर इंडिया कारपोरेशन द्वारा हवाई जहाजों की खरीद के लिये।
(v) कलकत्ता व मद्रास के बन्दरगाहों के विकास के लिये।
(vi) महाराष्ट्र में कोयना विद्युत केन्द्र के लिये।

(vii) टाटा लौह एवं इस्पात कम्पनियों के विकास कार्यक्रमों के लिये।

(viii) बम्बई के निकट ट्राम्बे में थर्मल पावर स्टेशनों की स्थापना के लिये।

(ix) प्राइवेट क्षेत्र में कोयला उद्योग के विकास के लिये।

(x) भारत के औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम सहायता के लिये ताकि यह निगम प्राइवेट कम्पनियों को ऋण दे सके।

(2) विदेशी विनिमय के संकट में सहायता—जब-जब भारत के सामने विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न हुआ तब-तब बैंक ने अपनी सहायता का हाथ बढ़ाया है। उदाहरण के लिये, सन् 1958 में जब विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न हो गया, तो बैंक ने 100 मि० डॉलर का ऋण भारत को दिया, जो कि अधिकांश रेलों के लिये था।

(3) सामान्य ऋणों की सुविधा—अभी तक भारत को निश्चित उद्देश्यों के लिये ऋण मिले हैं, जिनका उपयोग केवल उन्हीं कार्यों में हो सकता था जिनके लिये वे दिये गये थे। इस तरह ऋण से अधिक लाभ नहीं उठाया जा सकता था। अतः भारत ने बैंक से सामान्य ऋण देने के लिये प्रार्थना की थी, जिनका उपयोग भारत अपनी इच्छानुसार कर सके। बैंक ने भारत की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली है।

(4) भारतके लाभार्थ ऋणदाता देशों की बैठकों का आयोजन—विश्व बैंक ने भारत को केवल ऋण ही प्रदान नहीं किये हैं वरन् भारत की आवश्यकताओं को ऋणदाताओं की बैठक करके उनके सामने रखा है।

उदाहरण के लिये विश्व बैंक ने 'भारत सहायता क्लब' (Aid India Consortium) की एक बैठक मई 1962 में तथा दूसरी बैठक जुलाई 1962 में बुलाई थी, जिसमें आस्ट्रिया, नीदरलैंड, बेल्जियम और इटली भी सदस्य बने। जुलाई की बैठक में नये पुराने दोनों ही सदस्यों ने भारत को पर्याप्त आर्थिक सहायता देने का आश्वासन दिया। 1962-63 के लिये भारत सहायता क्लब से कुल 1070 मि० डॉलर ऋण मिलेगा, जिसका विवरण इस प्रकार है :—

	मि० डॉलर
(1) विश्व बैंक/ अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद	200
(2) अमेरिका	435
(3) प० जर्मनी	139
(4) यू० के०	84
(5) जापान	55
(6) कनाडा	33
(7) फ्रांस	45
(8) आस्ट्रिया	5
(9) बेल्जियम	10
(10) नीदरलैंड	11
(11) इटली	53
	1070

(II) टैक्नीकल सहायता (Technical Assistance) :

विश्व बैंक ने भारत को केवल वित्तीय सहायता ही प्रदान नहीं की वरन् महत्वपूर्ण टैक्नीकल सहायता भी दी है, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(1) टैक्नीकल परामर्श देना—भारत की विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में उसे विश्व बैंक से टैनीकल परामर्श मिलता रहा है । इस परामर्श के प्रकाश में भारत अपनी योजनाओं में आवश्यक परिवर्तन कर सका है ।

(2) सर्वे दल भेजना—विश्व बैंक ने देश के विकास कार्यक्रमों का मूल्यांकन करने के लिये तथा विभिन्न प्रोजेक्टों के फील्ड सर्वे के लिये कई दल भेजे हैं :— (i) नवम्बर 1951 में बैंक से एक मिशन भारत में देश के विकास की प्रगति का निरीक्षण करने आया । (ii) सन् 1952 में बैंक के प्रेसीडेन्ट भारत में आये तथा उनके बाद बैंक के अन्य अधिकारियों का भी आगमन हुआ । (iii) फरवरी 1954 में प्राइवेट उद्योगों के विकास एवं आधुनिकीकरण का वित्त प्रबन्धन करने के हेतु एक प्राइवेट स्वामित्व संचालन वाला निगम भारत में स्थापित करने की संभावनाओं का पता लगाने के लिये एक मिशन आया । (iv) भारत की प्रार्थना पर प्रथम पंचवर्षीय योजना की प्रगति का परीक्षण करने तथा द्वितीय योजना का अध्ययन करके परामर्श देने के हेतु एक मिशन अप्रैल 1956 में भी आया । (v) बैंक ने दिल्ली में एक स्थायी प्रतिनिधि भी नियुक्त कर दिया है जो सरकार के साथ देश की विकास योजनाओं के सम्बन्ध में घनिष्ठ सम्पर्क रखता है ।

(III) पाकिस्तान के साथ विवाद में मध्यस्थता :

विश्व बैंक ने भारत को एक अन्य तरीके से भी आर्थिक विकास में सहायता पहुँचाई है । पाकिस्तान और हमारे विवाद में मध्यस्थता करना, जिसके फलस्वरूप 1960 में बहुत पुराना नहर पानी विवाद सुलझ गया ।

आलोचनायें :

भारत को विश्व बैंक से जो सहायता प्राप्त हुई हैं उनके सम्बन्ध में कुछ आलोचनाएं भी हुई हैं जो कि इस प्रकार हैं :—

(1) बैंक के ऋण प्रायः निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये होते हैं—जिससे उनका अधिक लाभ नहीं उठाया जा सका है अब आशा है कि भारत को आस्ट्रेलिया की भाँति सामान्य ऋण भी मिलने लगेंगे ।

(2) ब्याज की दर बहुत ऊँची है—विश्व के बैंक ने भारत से 2·5% से 5·78% तक ब्याज लिया है । भारत जैसे निर्धन व अविकसित देश के लिये इतनी अधिक ब्याज-दर भार स्वरूप है । अतः बैंक को अपनी नीति में कुछ उदारता बरतनी चाहिये अन्यथा भारत व अन्य अविकसित एशियाई देशों को सस्ती दर पर पूंजी प्राप्त करने के लिये अन्य साधन ढूंढ़ने होंगे ।

(3) **भारत को बैंक से बहुत कम ऋण मिला है**—यद्यपि अन्य देशों की तुलना में भारत को सबसे अधिक ऋण मिला है तथापि उसकी आवश्यकता को देखते हुये यह बहुत कम है। वस्तव में भारत को बैंक पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये वरन् अपने देश में ही वैयक्तिक पूंजी को निकालने के साधन ढूंढ़ने चाहियें।

इन आलोचनाओं के होते हुए भी भारत को विश्व बैंक से जो सहायता मिली है, उसके लिये हमें बैंक का कृतज्ञ होना ही पड़ेगा। यह विश्व संस्था भारत के लिए अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हो रही है। भारत के विकास कार्यक्रमों की सफलता का बहुत कुछ श्रेय विश्व बैंक को ही है।

अध्याय 4

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति
(INTERNATIONAL TRADE POLICY)

Q. 36. What are the chief arguments advanced in favour of free trade? Examine them critically in the light of modern economic thought.

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क और आधुनिक विचारधारा के प्रकाश में इनकी परीक्षा

'स्वतन्त्र व्यापार नीति' से आशय :

जब विभिन्न देशों के बीच वस्तु या वस्तुओं का विनिमय निर्बाध होता है, तो इसे 'स्वतंत्र व्यापार' कहते हैं। **एडम स्मिथ** के शब्दों में "वह व्यापारिक नीति जिसमें घरेलू और विदेशी वस्तुओं में कोई अन्तर नहीं समझा जाता है और न किसी को विशेष अधिकार दिये जाते हैं, 'स्वतन्त्र व्यापार नीति' कहलाती है।" इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वतन्त्र व्यापार व्यवस्था में वस्तुओं पर कोई कर नहीं लगाया जाता वरन् जो भी कर लगता है वह आय की दृष्टि से लगाया जाता है—संरक्षण के लिये नहीं।

सन् 1776 में एडम स्मिथ की पुस्तक 'Wealth of Nations' के प्रकाशन ने संरक्षणवाद (Protectionism) पर एक प्रबल आक्रमण किया। तब से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों में, 'स्वतन्त्र व्यापार' (Free Trade) के पक्ष में जनमत प्रबल हो गया, और इङ्गलैंड के नेतृत्व में, जिसे स्पष्टतः विस्तृत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से बहुत लाभ था, व्यापारिक प्रतिबिम्ब हटाये जाने लगे। लेकिन स्वतन्त्र व्यापार की लोकप्रियता कभी भी पूर्ण नहीं हो सकी। सर्वसाधारण के मन में स्वर्ण के लिये बड़ी श्रद्धा थी तथा विदेशी आयातों से देश के मजदूरों के बेकार होने का डर भी समाया हुआ था। अतः बीसवीं शताब्दी की अस्थिर राष्ट्रीयता के अन्तर्गत आयात-करों में तेजी से वृद्धि हुई। सन् 1930 की विश्वव्यापी मंदी में तो विदेशी व्यापार पर अनेक प्रतिबन्धों की एक बाढ़ सी आगई। इन प्रतिबन्धों के द्वारा गृह-दशा के सुधरने की आशा की जाती थी, चाहे अन्य देशों को इनसे नुकसान पहुंचे।

परन्तु मन्दी की समाप्ति पर यह यह अनुभव किया गया कि सन् 1920 के प्रतिबन्धवाद (Restrictionism) के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुत बाधा पड़ी है जबकि किसी राष्ट्र को उससे कुछ विशेष लाभ न हुआ। अतः द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक राष्ट्रों ने ऐसे उपाय खोजने प्रारम्भ कर दिये हैं, जिनके द्वारा, राष्ट्रीय अर्थ-

व्यवस्थाओं को खतरे में डाले बिना ही, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में वृद्धि करना सम्भव हो जाय। इस खोज के परिणामस्वरूप आजकल नवीन दृष्टिकोण उदय हो रहे हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के प्राचीन स्वतन्त्र और बहुपक्षीय स्वरूप की ओर लौटने के लिये एक संगठित प्रयास किया जा रहा है।

स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में तर्क
(Arguments For Force Trade)

(I) स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में मुख्य तर्क सामाजिक उत्पत्ति का अधिकतम होना :

तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए हमने यह दिखाया था कि वस्तुओं के हस्तक्षेप रहित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सभी भाग लेने वाले देशों की वास्तविक आय बढ़ जाती है। प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य-यंत्र (Price Mechanism) अपने आप ही एक ऐसी व्यवस्था कर देता है कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करे, जिनके लिए वह तुलनात्मक रूप से अधिक उपयुक्त है और, उन वस्तुओं का आयात करे, जिन्हें वह स्वयं उत्पादन करने की अपेक्षा अधिक सस्ता प्राप्त कर सकता है।

अनेक दशाओं में यह बात स्पष्ट है कि वस्तुओं का उत्पादन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन द्वारा बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है। अनगिनती कच्चे मालों (जैसे—कोयला, लोहा, अन्य धातु तथा कपास, जूट आदि) का उत्पादन विश्व के कुछ ही भागों में सम्भव है। जो देश ऐसी वस्तुयें उत्पन्न नहीं कर सकते, उन्हें या तो इनको विनिमय द्वारा प्राप्त करना होगा, अथवा इनके बिना ही काम चलाना होगा, जबकि वास्तव में ये वस्तुयें एक आधुनिक जीवन-स्तर के लिये अनिवार्य बनी हुई हैं। यही बात, कुछ कम सीमा तक, उन वस्तुओं के विनिमय के बारे में भी सत्य हैं, जोकि सभी देशों में उत्पन्न की जा सकती हैं।

यही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन से भी सम्बन्धित देशों को केवल इस मान्यता के अन्तर्गत ही लाभ नहीं होता कि देशों के बीच उत्पत्ति के साधन (विशेषतः श्रम) गतिशील हैं, वरन् तब भी लाभ होता है जबकि श्रम (जैसा कि वास्तविक संसार में देखा जाता है) राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर नहीं जाने पाता। यदि कोई वस्तु ऐसे मूल्य पर आयात की जाती है, जिससे स्वदेश का उद्योग प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता, और फलतः वह समाप्त होने या आकार में घटने के लिये बाध्य हो जाते हैं, तो उत्पत्ति के साधन उत्पादन की अन्य शाखाओं में चले जायेंगे, जहाँ वे अब अधिक उत्पन्न कर सकते हैं और इसलिये अधिक दर से पुरस्कार प्राप्त कर सकते हैं। अतः जब कभी आर्थिक शक्तियों के स्वतन्त्र आचरण पर प्रतिबन्ध लगा कर (जैसे टैरिफ के द्वारा उत्पत्ति के साधन एक ऐसे रोजगार में बलात् रोक लिये जाते हैं, जिसमें उनकी सीमान्त उत्पादकता कम है, तो इससे सामाजिक उत्पत्ति (Social Product) को हानि ही पहुँचती हैं।

यही मुख्य तर्क है जो कि स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में दिया जाता है। केवल इस आधार पर ही (तथा इस मान्यता के अन्तर्गत ही) कि वांछनीय उद्देश्य सामाजिक उत्पत्ति को अधिकतम करता है, एक उदार व्यापार नीति को वैज्ञानिक रूप से उचित ठहराया जा सकता है, यद्यपि राजनैतिक प्रचार की दृष्टि से अन्य तर्क भी दिये जा सकते है।"[1]

(II) स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में अन्य तर्क :

सामाजिक उत्पत्ति अधिकतम होने के तर्क के अतिरिक्त निम्न तर्क भी स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में दिये जाते है :—

(1) आयात-वस्तुओं के मूल्य में कमी—स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष में सबसे आकर्षक तर्क यह है कि स्वतन्त्र आयात के कारण आयात की हुई वस्तुएँ कम मूल्य पर मिल सकती हैं। जिस सीमा तक इनके मूल्य में कमी होती है वह उस लाभ का सूचक है जो कि अर्थ-व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होता है। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति एक उपभोक्ता है और इस नाते मूल्यों में कमी होना पसन्द करता है, इसलिये यह तर्क प्रचार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

किन्तु यह तो एक ही पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि इस तर्क को 'स्वतन्त्र व्यापार' के विरुद्ध भी स्तेमाल किया जा सकता है। कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार में केवल उपभोक्ताओं के हितों का ही ध्यान रखा गया है और रोजगार के प्रश्न तथा उत्पादकों के हितों को भुला दिया गया है। निस्संदेह इसके उत्तर में स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक यह कह सकते हैं कि स्वतन्त्र व्यापार से न केवल मूल्य वरन् अर्थ-व्यवस्था के अन्य भागों को उत्पत्ति के साधनों का बहिर्गमन होने लगेगा, जहां वे अधिक पुरस्कार कमा सकते हैं।

(2) एकाधिकारों की स्थापना पर रोक—स्वतन्त्र आयात और निर्यात से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले, सभी देश लाभान्वित होते हैं क्योंकि इनके कारण खतरनाक एकाधिकारों की स्थापना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती है।

एकाधिकारों के निर्माण से अर्थ-व्यवस्था को तीन प्रकार से हानि पहुंचती है—

(अ) स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश द्वारा कुछ वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण होने से उत्पत्ति इकाई को अनुकूलतम आकार प्राप्त

1. "Only upon this basis, and, of course, under the assumption that the desired end is the maximisation of the social product can a liberal trade policy be scientifically justified although it may be that for reasons of political propaganda other arguments are placed more in the foreground."

(*Haberler : The Theory of International Trade, p. 222,*)

हो जाता है और इससे सब क्षेत्रों में लागतें कम हो जाती हैं। किन्तु व्यापार की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगने से ये लाभ नहीं होने पाते।

(ब) प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप बनने वाले एकाधिकारों की उत्पादित वस्तुओं के मूल्य उनकी उत्पादन-लागत से भी अधिक बढ़ जायेंगे (जब कि सीमित बाजार के कारण सीमित मात्रा में उत्पत्ति करने से मूल्य पहिले से ही अधिक थे)। एवं,

(स) अनुभव यह बताता है कि स्वतन्त्र प्रतियोगिता पर प्रतिबन्ध लगने से व्यवस्था में अकुशलता आ जाती है (जबकि विदेशी प्रतियोगिता के भय से स्वदेशी उत्पादक अधिक चैतन्य रहते हैं)।

फिर भी, यह स्वीकार करना होगा कि स्वतन्त्र व्यापार एकाधिकारों के निर्माण के विरुद्ध एक पूर्ण बचाव नहीं है अर्थात् स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत भी अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार उदय हो सकते हैं। इन स्थानीय एकाधिकारों का अस्तित्व, टैरिफ के अभाव में, यातायात व्ययों पर निर्भर होता है क्योंकि यातायात व्यय का प्रभाव भी टैरिफों के ही समान है। जिन उत्पादन-शाखाओं में उपज को बहुत अधिक व्यय पर ही यातायात किया जा सकता है उनमें कम उत्पादन लागतों (जो कि उत्पादन इकाई का आधार बड़ा होने के कारण सम्भव है) का प्रभाव एक विशाल क्षेत्र में अधिक उत्पत्ति के विपणन की बढ़ी हुई लागतों के कुप्रभाव द्वारा समाप्त हो जाता है। ऐसी दशा में 'एक मूल्य' वाला कोई 'एक बाजार' न होगा वरन् कई एकाधिकारी जिले (Monopoly Districts) बन जायेंगे, जिनमें पृथक्-पृथक् एकाधिकार मूल्य प्रचलित होंगे और इन मूल्यों का अन्तर यातायात व्यय के बराबर होगा। यदि उत्पादन जिलों को पृथक् करते हुए कोई प्रशुल्क दीवार (Tariff wall) खड़ी कर दी जाय, तो इससे उत्पादन-इकाइयों की (यातायात व्यय की परिस्थिति पर आधारित) विवेकपूर्ण व्यवस्था भंग हो जायेगी और एकाधिकारियों की शक्ति पहले से भी अधिक मजबूत हो जायेगी, क्योंकि पहले तो दो एकाधिकारी किसी क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा करते थे किन्तु अब वे प्रशुल्क दीवार द्वारा एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, जिससे अपने-अपने क्षेत्र में (जो कि प्रशुल्क दीवार द्वारा रक्षित है) वे अधिक मनमानी कर सकते हैं।

(3) विश्व के सभी देशों के आर्थिक हितों की रक्षा—स्वतन्त्र व्यापार व्यवस्था विश्व के सभी देशों के आर्थिक हितों की रक्षा करती है। अन्तर-युद्धकालीन अवधि में कच्चे माल की समस्या ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया और अनेक देश (जैसे—इटली, जर्मनी और जापान) कच्चे माल के अभाव से पीड़ित थे। इन देशों को 'अभाव ग्रस्त' (Have-Nots) और अन्य देशों को 'सम्पन्न' (Haves) देश कहा जाने लगा था। इस बुरी स्थिति का कारण यह था कि मन्दी काल में स्वतन्त्र व्यापार का स्वरूप बहुत बिगड़ गया और उनका स्थान अनेक द्विपक्षीय व्यापार समझौतों ने ग्रहण कर लिया। इससे सम्पूर्ण विश्व-व्यापार का प्रतिरूप (Pattern) ही बदल

गया। यही कारण था कि जर्मनी, इटली व अन्य 'अभाव ग्रस्त' देशों ने उपनिवेशों के पुनर्वितरण की माँग की थी। जापान ने तो चीन पर हमला करके मन्चूरिया को अपने अधिकार में ले लिया क्योंकि वह कच्चे माल का स्रोत था।

(4) देनदार देशों को भुगतान में सुविधा—स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत वस्तुओं के आवागमन (अर्थात् देनदार देशों से निर्यात और लेनदार देशों की आयात) द्वारा देनदार देशों से लेनदार देशों को भुगतानों का ट्रान्सफर होने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

(5) स्वर्णमान की व्यवस्था के अनुकूल—इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्र व्यापार स्वर्णमान की व्यवस्था से भी संगति रखता है। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मान की सफलता करैन्सियों के स्वतन्त्र क्रय-विक्रय (अर्थात् करैन्सियों की बहुमुखी परिवर्तनशीलता) पर निर्भर होती है। किन्तु स्वतन्त्र व्यापार के अभाव में करैंसियों की बहुमुखी परिवर्तनशीलता कदापि संभव नहीं है। राष्ट्रीय करैन्सियों की बहुमुखी परिवर्तनशीलता अनिवार्य रूप से स्वतन्त्र व्यापार प्रणाली से ही सम्बद्ध है। यही कारण था कि, मन्दी काल में स्वतन्त्र व्यापार प्रणाली भंग होने पर स्वर्णमान तत्काल ही टूट गया था। अतः आधुनिक विश्व में एक अन्तर्राष्ट्रीय मान की स्थापना को सम्भव बनाने के लिए स्वतन्त्र व्यापार पर लौटना आवश्यक समझा जाता है।

(६) सभी देशों के लिए कच्चे माल के स्रोत तक पहुँच (access) की सुविधा—स्वतन्त्र व्यापार किसी देश के विरुद्ध या उनके पक्ष में भेदभाव (Discrimination) नहीं होने देता, और इस प्रकार, विश्व के सभी देशों को कच्चे माल के स्रोतों तक पहुँचने का अवसर प्राप्त करता है। मन्दी काल में, जिन देशों में कच्चे माल का अभाव था (जैसे, जर्मनी और इटली) उन्होंने कई आर्थिक सम्मेलनों के सामने व्यापारिक भेदभाव के प्रति विरोध प्रदर्शित किया था तथा यह माँग की थी कि विश्व के कच्चे मालों तक उनकी भी पहुँच होनी चाहिये। इस प्रकार स्वतन्त्र व्यापारिक प्रणाली के अन्तर्गत प्रायमरी उपज; (विशेषतः उष्ण कटिबन्धीय उपज) की पूर्ति के स्रोतों पर कुछ देशों का ही प्रभुत्व नहीं रहता वरन् बहुमुखी व्यापार-प्रतिक्रिया के द्वारा ये वस्तुएँ उन देशों को भी सुलभ हो जाती हैं जो कि कच्चे माल की पूर्ति के लिये विदेशी स्रोतों पर निर्भर हैं।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर अर्थशास्त्रियों द्वारा यह कहा जाता है कि देशों के बीच व्यापार को खुली छूट होनी चाहिये तथा सरकार का उस पर कोई हस्तक्षेप न हो।

☞ **Q. 37. "The validity of the argument for a free trade policy in any country does not depend upon the adoption of the same policy in other countries." Discuss.**

अन्य देशों द्वारा स्वतन्त्र व्यापार अपनाये जाने का तर्क :—

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) (जो कि स्वतन्त्र व्यापार

के कट्टर समर्थक थे) का यह कहना था कि व्यापार के मामलों में एक देश को 'मुक्त द्वार की नीति (Open door policy) इसलिए भी अपनानी चाहिये, क्योंकि विश्व के अन्य देश भी उस नीति को अपनाये हुए हैं। यदि एक देश शेष विश्व के विरुद्ध प्रतिबन्ध नीति (Restrictionist policy) अपनाता है, तो कुछ समय के बाद उस देश की प्रतिबन्ध-नीति अन्य देशों को भी वैसी ही नीति अपनाने के लिये विवश कर देगी, जिससे धीरे-धीरे सभी देशों में प्रशुल्क बाधाएँ बढ़ जायेंगी। ऐसी परिस्थितियों में विश्व के विभिन्न देशों में प्रसाधनों के अनार्थिक प्रयोग एवं वितरण को बढ़ावा मिलेगा, और फिर 'अधिकतम शोषण' या 'न्यूनतम अपव्यय' के सिद्धान्त का उल्लंघन होने लगेगा।

☞ **Q. 38. Argue the case for free trade in the modern world. How will you answer the objections raised to free trade by the under-developed countries ?**

Or

Do you agree with Keynes in holding that a permanent mass of unemployment alters the case for free trade ? Discuss whether protection suits an economic system, which is "neither in equilibrium nor in the sight of equilibrium."

अर्ध विकसित देश एवं स्वतन्त्र व्यापार

पिछले प्रश्नोत्तर में आधुनिक विश्व के लिए स्वतन्त्र व्यापार की उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। अब हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि क्या स्वतन्त्र व्यापार की नीति अर्ध विकसित देशों के लिये भी उपयोगी है ? इस सम्बन्ध में कीन्स (Keynes) की जनरल थ्योरी एक नये ढंग से प्रकाश डालती है और यही बताती है कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों के लिये स्वतन्त्र व्यापार की अपेक्षा संरक्षण की नीति को अपनाना ही अधिक उचित है।

पूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था के लिये स्वतन्त्र व्यापार लाभदायक है :

जब यह मान लिया जाता है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार का स्तर प्राप्त हो चुका है, केवल तब ही यह कह सकते हैं कि यदि कोई देश विदेशों से सस्ती वस्तुएँ खरीदे जिन्हें वह अपने यहाँ महँगा बनाता है, तो उसे लाभ होगा। पूर्ण रोजगार की (मानी हुई) दशा के अन्तर्गत स्वतन्त्र व्यापार से वास्तविक मजदूरियाँ अधिकतम हो सकेंगी, क्योंकि, आमदनियाँ उत्पादकता के अनुपात में होती हैं और उत्पादकता तब अधिकतम होती है जब कि प्रत्येक देश उन वस्तुओं को ही उत्पन्न करें, जिनमें उन्हें तुलनात्मक लाभ है और इन वस्तुओं के आधिक्य का अन्य देशों की उन वस्तुओं से विनिमय करें, जिनमें उन्हें तुलनात्मक लाभ है। जब पूर्ण

एवं निरन्तर (Full & Continuous) रोजगार उपलब्ध है, तो निस्सन्देह स्वतन्त्र-व्यापार के औचित्य पर सन्देह का कोई कारण नहीं है। पूर्ण रोजगार के अन्तर्गत वास्तविक राष्ट्रीय आय तब ही अधिकतम हो सकती है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम हो जाय। स्पष्टतः यदि ऐसी परिस्थितियों में संरक्षण अपनाया गया तो वह पूरी तरह से उपयोग किये जा रहे प्रसाधनों को अधिक कुशल उत्पादन-शाखाओं से कम कुशल उत्पादन शाखाओं में मोड़ देगा, और इस प्रकार, वास्तविक राष्ट्रीय आय में कमी ला देगा। लेकिन, जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, इस तर्क का सम्पूर्ण महत्वपूर्ण रोजगार सम्बन्धी एक अवास्तविक मान्यता पर निर्भर है।

अपूर्ण रोजगार वाली अर्थव्यवस्था के लिये संरक्षण की नीति उचित है :

यदि किसी देश की अर्थव्यवस्था अभी पूर्ण रोजगार के स्तर तक नहीं पहुंची है, तो क्या होगा ? तब क्या एक अविकसित अथवा अर्ध-विकसित देश द्वारा अपनाई गई प्रतिबन्धात्मक नीति शुद्ध उत्पत्ति को हानि पहुँचावेगी ? इसका स्पष्ट उत्तर है 'नहीं'। स्वतंत्र व्यापार सम्बन्धी प्रतिष्ठित तर्क तब ही सही है जब कि प्रसाधनों का पूर्ण नियोजन हो रहा है लेकिन एक ऐसी अर्थव्यवस्था के बारे में, जिसमें विशाल मात्रा में प्रसाधन निष्क्रिय पड़े हुए हैं, उक्त तर्क कदापि सही नहीं है। क्योंकि, यदि पहले से ही कुछ साधन बेकार (Unemployed) हैं और संरक्षण इन साधनों के लाभप्रद नियोजन (Employment) का मार्ग प्रशस्त कर देता है, तो स्वतन्त्र व्यापार की नीति का परित्याग करने से समाज की कुल शुद्ध उत्पत्ति (Total Net Product) में कोई कमी नहीं आवेगी। जब किसी देश में उत्पादन के साधन बेकार हैं, तो संरक्षण के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय स्वतन्त्र व्यापार की अपेक्षा अधिक होगी, क्योंकि संरक्षण के कारण प्रभावपूर्ण मांग (Effective Demand) का स्तर ऊँचा होने से रोजगार के स्तर में वृद्धि हो जाती है। बेकारी के अपव्यय (Wastes of Unemployment) प्रसाधनों के अपूर्ण विभाजन के अपव्ययों (Wastes of poor allocation of Resources) से अधिक हो सकते हैं। अतः बड़े पैमाने पर फैली हुई बेकारी की अवधियों में संरक्षरण से वास्तविक आय में वृद्धि की जा सकती है। जिस सीमा तक बेकार पड़े हुए साधनों को काम मिलने लगता है उस सीमा तक कुल रोजगार की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

इस प्रकार, स्वतन्त्र व्यापार को उचित बताने वाले तथा संरक्षणात्मक प्रशुल्कों को उचित बताने वाले सिद्धान्तों में कोई असंगति (Inconsistency) नहीं है। दोनों ही रोजगार को बढ़ाकर राष्ट्रीय कल्याण में तथा वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि करते हैं। किन्तु प्रत्येक अपनी-अपनी मान्यताओं के अन्तर्गत ही सत्य होता है, और इन मान्यताओं के बीच असंगति अवश्यक है अर्थात् स्वतन्त्र व्यापार का तर्क पूर्ण रोजगार की उपलब्धता पर आधारित है जब कि संरक्षण का तर्क अपूर्ण रोजगार की उपलब्धता पर।

अर्थव्यवस्था में, जो कि साम्यावस्था में नहीं है और न होने की प्रगति में है :

मैक्समिलन कमेटी रिपोर्ट (1930) के एक परिशिष्ट में लार्ड कीन्स ने यह दिखाया था कि अर्थव्यवस्था में, जो कि साम्यावस्था में नहीं है तथा न साम्यावस्था को प्राप्त करने की प्रगति में है, जिससे उसके विशाल मानवीय एवं भौतिक साधन निष्क्रिय पड़े हुए हैं, संरक्षण (न कि स्वतन्त्र व्यापार) मानवीय एवं भौतिक दोनों ही प्रकार के साधनों को पूर्ण रोजगार दिलाने में सहायक होगा। बड़े पैमाने पर वेकारी की उपस्थिति अर्थव्यवस्था के लिये स्वतन्त्र व्यापार का तर्क उलट देती है। लार्ड कीन्स का यह तर्क, जो उन्होंने ब्रिटिश अर्थ व्यवस्था के लिये मन्दी काल में संरक्षण का समर्थन करते हुए दिया था, अर्ध-विकसित देशों को भी पूर्ण दृढ़ता के साथ लागू होता है।

इस प्रकार, स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष का तर्क एशिया दक्षिणी अमेरिका के अर्ध-विकसित देशों में संरक्षण अपनाने के तर्क के साथ पूर्ण संगति (Consistency) रखता है। यदि पूर्ण रोजगार की अर्थ व्यवस्था वाले देश (जैसे, ग्रेट ब्रिटेन या अमेरिका) स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनालें और यदि कहा जाय कि चूंकि इन देशों ने स्वतन्त्र व्यापार को अपना लिया है, इसलिये अन्य देशों को भी (जैसे-एशियाई देशों को, जहां कि प्रचुर मात्रा में प्रसाधन अशोषित (Unemployed) पड़े हैं, स्वतंत्र व्यापार की नीति अपना लेनी चाहिये, तो ऊपर से बहुत ठोस और विश्वास-वर्धक जंचते हुए भी यह तर्क वैध (Valid) नहीं कहा जा सकता। वास्तव में किसी देश द्वारा स्वतंत्र-व्यापार नीति को अपनाने के तर्क की वैधता अन्य देशों द्वारा सही नीति अपनाये जाने पर निर्भर नहीं होती और स्वतंत्र व्यापार तथा संरक्षण की नीतियों में कोई असंगति या विरोध नहीं है। कारण, ये दोनों भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के लिये उपयुक्त हैं।

☞ **Q. 39. What do you mean by 'Protection' ? Discuss arguments in power of such a policy.**

Or

Discuss how far tarriffs can (a) ensure greater stability within the protected country; (b) neutralise the effects of tariffs in other countries, and (c) create full employment.

Or

"Protection by tariff duties is an outmoded form of encouraging domestic industries." Discuss.

Or

How far can protective duties help (i) to preserve the interval wage level against the pull down influence of imports produced by sweated labour, and (iii) to iniate recovery from depression" ?

संरक्षण' से आशय :

'संरक्षण का तात्पर्य उस सरकारी नीति से है, जिसके अन्तर्गत विदेशी

प्रतिस्पर्धा से गृह-उद्योगों की रक्षा के लिए सरकार टैरिफों (प्रशुल्क) के रूप में विदेशी व्यापार पर रोक लगाती है। इस नीति का प्रतिपादन सर्वप्रथम अमेरिकन राजनीतिज्ञ एवं अर्थशास्त्री एलेक्जेण्डर मिल्टन ने किया था। बाद में कैरे और फ्रेडरिक लिस्ट ने इस पर बहुत बल दिया। १६ वीं शताब्दी में स्वतन्त्र व्यापार का बोलबाला रहा। लेकिन प्रथम महायुद्ध के बाद लगभग प्रत्येक देश ने इसे न्यूनाधिक अवश्य अपनाया है। यहां तक कि स्वतन्त्र व्यापार के प्रबल समर्थक अमेरिका भी इससे अछूता नहीं रह सका है।

यहां एक बात अवश्य समझ लेनी चाहिए। संरक्षण के अन्तर्गत व्यापार के स्वाभाविक प्रवाह पर कृत्रिम प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। ये प्रतिबन्ध आंशिक या पूर्ण हो सकते हैं तथा इसका उद्देश्य भी विशुद्ध आर्थिक या राजनैतिक हो सकता है। प्रत्येक नीति जिसके कारण विदेशी व्यापार की स्वाभाविक गति में बाधा पड़े (चाहे इसका उद्देश्य आर्थिक हो या अनार्थिक) संरक्षण के अन्तर्गत ही मानी जायेगी।

स्वतन्त्र व्यापार का आधार है कि एक निर्विवाद तर्क जब कि संरक्षण का आधार हैं विशेष परिस्थितियाँ :

स्वतन्त्र व्यापार के लिए दिये गये तर्क स्पष्ट हैं। लेकिन संरक्षण या टैरिफ के पक्ष में दिये गये तर्कों के बारे में ऐसी बात नहीं है। एक ओर तो ये तर्क परस्पर असंगति रखने वाले हैं और विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किये गये हैं, दूसरी ओर, यदि इनमें से किसी तर्क को स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर उसे लागू करना कठिन है। जिस प्रकार स्वतन्त्र व्यापार का एक व्यापक सूत्र यह है कि आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिये, उस प्रकार का कोई व्यापक सूत्र टैरिफ के सम्बन्ध में नहीं पाया जाता। "टैरिफ आर्थिक रूप से लाभदायक होते हैं", यह सूत्र सीमित है, व्यापक नहीं, क्योंकि इसके साथ-साथ उल्लेख करना आवश्यक है कि वह किन परिस्थितियों में लाभदायक हो सकता है। अतः संरक्षण के विभिन्न तर्कों के विवेचन की सुविधा के लिए उन्हें उपयुक्त वर्गों में बाँटना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में हमें यह याद रखना चाहिए कि संरक्षण सम्बन्धी कुछ तर्क वैज्ञानिक नहीं हैं और थोड़े से वाक्यों में गलत प्रमाणित किए जा सकते हैं; किन्तु व्यवहार में, पार्लियामेंट में निहित स्वार्थ रखने वाले पक्षों के आपसी विवेचन में तथा प्रेस प्रोपेगेण्डा में उनका सबसे अधिक प्रभाव देखा जाता है। प्रस्तुत अध्ययन में हम अपना विवेचन इन तर्कों के वैज्ञानिक पहलू तक ही सीमित रखेंगे। टैरिफ की वांछनीयता पर आर्थिक अथवा अनार्थिक दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है।

(I) टैरिफ के लिए अनार्थिक तर्क
(Non Economic Arguments)

अनार्थिक दृष्टिकोण से जिनका कोई विशेष महत्व नहीं है, टैरिफ का समर्थन करते हुए निम्न तर्क दिये गये हैं :—

(1) राष्ट्रीय सुरक्षा का तर्क अथवा आत्म-निर्भरता का तर्क :

राष्ट्रीय सुरक्षा के दृष्टिकोण से यह कहा जाता है कि प्रत्येक देश को अन्य देशों पर अत्यधिक आत्म-निर्भरता से बचना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन को पूर्ण रूप से अपनाया गया, तो इससे अत्यधिक विशिष्टीकरण हो जायगा। संकट के समयों में अत्यधिक विशिष्टीकृत देश अल्पकाल के लिए भी उन वस्तुओं के उत्पादन की स्वयं व्यवस्था न कर सकेगा, जो कि वह पहले आयात करता रहा था। अतः विश्व-अर्थव्यवस्था पर अत्यधिक निर्भरता रोकनी चाहिये, चाहे ऐसा करने से आर्थिक हानि ही क्यों न उठानी पड़े। यह तर्क विशेषतः कृषि-सम्बन्धी करों अथवा लौह एवं इस्पात जैसे औद्योगिक उत्पादनों पर (जिनकी लड़ाई में आवश्यकता पड़ती है) करों के पक्ष में दिया जाता है।

(2) राष्ट्र के विशेष गुणों को सुरक्षित रखने का तर्क :

यदि अन्य देशों के साथ अत्यन्त निकट का सम्पर्क रखा गया, तो राष्ट्र के विशेष गुण अथवा आचार-विचार असुरक्षित हो जायेंगे। अतः राष्ट्र के विशेष गुणों को सुरक्षित रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक निर्भर नहीं होना चाहिये।

(3) कुछ व्यवसायों एवं जनवर्गों को सुरक्षित रखने का तर्क :

कभी-कभी टैरिफ का समर्थन कुछ जन-वर्गों (Classes of population) एवं कुछ व्यवसायों (Occupations) को सुरक्षित रखने के आधार पर भी किया जाता है, क्योंकि स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत इनके लुप्त हो जाने का भय है। कुछ जन-वर्गों एवं व्यवसायों की सुरक्षा सामाजिक एवं राजनैतिक आधारों पर आवश्यक समझी जाती है। यह तर्क प्रायः कृषि ड्यूटीज के समर्थन में दिया जाता है। यह कहा जाता है कि कृषक जनसंख्या समाज का एक वफादार एवं परम्परावादी अंग होता है, जो कि जनसंख्या के संतुलन तथा नैतिक एकता के दृष्टिकोण से अनिवार्य है। अतः मूल्य-यंत्र (Price Mechanism) को इतना स्वतंत्र कदापि नहीं छोड़ना चाहिये कि वह इस अंग को हानि पहुंचावे। कृषि वह स्रोत है जहां से मानव जाति शारीरिक एवं मानसिक बल प्राप्त करती है।

(II) टैरिफ के लिये आर्थिक तर्क (Economic Arguments)

टैरिफ के लिये दिये जाने वाले आर्थिक तर्कों का भाव यह है कि टैरिफ सामाजिक उत्पत्ति (Social Product) में वृद्धि कर सकते हैं। यह भाव उस भाव को काटता है जो कि स्वतंत्र व्यापार के पक्ष में दिये गये तर्कों से उदय होता है। अन्य शब्दों में, टैरिफ के पक्ष स्वतन्त्र व्यापार के विपक्ष में तर्क समझने चाहिये। ये तर्क निम्नलिखित हैं :—

(1) रेवेन्यू प्राप्त करने का तर्क :

कुछ विद्वानों ने टैरिफ का समर्थन इस आधार पर किया है कि इनसे

उद्योगों को संरक्षण मिलने के अतिरिक्त सरकार को रेवेन्यू भी प्राप्त होती है। किन्तु इस सम्बन्ध में, जैसा कि हैवरलर ने संकेत किया है यह याद रखना चाहिये कि सरकार को अधिक से अधिक रेवेन्यू दिलाना और स्वदेशी उद्योगों को अधिकतम संरक्षण प्रदान करना, ये दो उद्देश्य बहुत सीमा तक परस्पर असंगत (Inconsistent) हैं। जो ड्यूटी सबसे अधिक संरक्षण प्रदान करती है वह सरकार को कोई रेवेन्यू नहीं दिलाती और जो ड्यूटी सरकार को जितना अधिक रेवेन्यू प्राप्त करती है वह उतना ही कम संरक्षण प्रदान करती है।[1] संरक्षण की दृष्टि से सबसे अधिक ड्यूटी रेवेन्यू की दृष्टि से सबसे कम सफल ड्यूटी होगी।

(2) संरक्षित उद्योगों का उत्पादन बढ़ाना (Expanding the production of Protected Industries) :

कहा जाता है कि टैरिफ के कारण संरक्षित उद्योगों का बहुत विकास हो जाता है। साधारण जनता पर इस तर्क का बहुत प्रभाव पड़ता है। इस तर्क के देने वाले जर्मनी, और आस्ट्रिया का उदाहरण देते हैं जहाँ कृषि-संरक्षण के कारण बहुत थोड़े समय में ही कृषि उत्पादन का इतना काफी विकास हो गया था कि कृषि आयातों में बहुत गिरावट आ गई। इस सम्बन्ध में हंगरी का भी उदाहरण दिया जाता है। इस कृषक देश ने 10 वर्षों के भीतर ही अपने यहाँ सब प्रकार के उद्योग विकसित कर लिये।

किन्तु, तर्क करने वाले भूल जाते हैं कि यह तो चित्र का केवल एक पहलू है। मान भी लें कि उक्त देशों में बढ़ा हुआ उत्पादन केवल संरक्षण के ही कारण था, अन्य घटनाओं का उसमें सहयोग न था, तो भी यह प्रमाणित नहीं होता कि टैरिफ ने सामाजिक उत्पत्ति में वृद्धि कर दी है। वास्तव में, यहाँ उत्पादन की एक शाखा का विकास अन्य शाखाओं के हितों का बलिदान करके हुआ है। जैसे यदि आयातों में कमी आती है, तो निर्यात भी आवश्यक रूप से घटते हैं, और यदि संरक्षित वस्तुओं के उत्पादकों को अधिक मूल्य प्राप्त होते हैं, तो उपभोक्ताओं को हानि होती है क्योंकि उन्हें अधिक मूल्य देने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, जब उत्पादन की एक शाखा विकसित होती है और उत्पादन के अधिक साधन अपनी ओर आकर्षित करती है, तो उत्पादन के ये साधन अन्य शाखाओं के लिये अनुपलब्ध हो जाते हैं। देश के भुगतान-संतुलन के दोनों पक्षों का विश्लेषण करके यह दिखाया जा सकता है कि संरक्षित उद्योग में उत्पादन इतना नहीं बढ़ता, जितना कि अन्य उद्योगों में घट जाता है।

---

1. "The duty which affords the maximum of protection is a prohibitive one which yields no revenue to the state. On the other hand, the revenue yielded by a duty will be the greater the less the import of the goods falls off, that is to say the less the duty fulfills its protective function."

(*Haberler : The Theory of International Trade, p. 239*)

(3) गृह बाजार का विकास करना (Creating and Expanding a home Market) :

कुछ लोगों का कहना है कि टैरिफ की आड़ में गृह-बाजार उत्पन्न और विकसित किया जा सकता है। उपरोक्त तर्क के बारे में जो टिप्पणी हमने दी है वह इस तर्क के बारे में भी लागू होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गृह-बाजार वास्तव में विकसित हो जायेगा, लेकिन साथ ही निर्यात-बाजार भी संकुचित हो जाता है, क्योंकि आयात में कमी होने पर निर्यात भी घट जाते हैं। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि देश में जब काम के लिए बहुत क्षेत्र हो, तो निर्यात-बाजार खोजने की कोई आवश्यकता नहीं है। निस्संदेह यह सच है कि गृह मांग की पूर्ति करने के काम के लिए पर्याप्त से अधिक क्षेत्र उपलब्ध हो जायगा (जबकि आत्मनिर्भरता का मार्ग तय कर लिया गया हो) किन्तु इस कार्य से उत्पत्ति कम होगी। यदि कुछ कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय के लिए उत्पादन करने के हेतु किया जाता तो उत्पत्ति अधिक हो सकती थी। कीन्स ने गृह-बाजार के विकास के तर्क का उत्तर बड़े ही रोचक शब्दों में दिया है—"संरक्षण के अन्तर्गत लोगों को अधिक काम मिल जायगा, लेकिन इसके साथ-साथ कुल मजदूरी घट जायगी।[1] हमारे आयात प्राप्तियाँ हैं, जबकि निर्यात भुगतान हैं। ऐसी दशा में भला कोई राष्ट्र अपनी प्राप्तियों में कमी करके अपनी दशा को सुधारने की आशा कैसे कर सकता है ?"

(4) क्रय-शक्ति का तर्क (Purchasing Power Argument) :

प्रायः कहा जाता है कि यदि कृषि को संरक्षण मिल जाय तो औद्योगिक जनसंख्या के लिए यह बड़ी लाभदायक बात होगी, क्योंकि इससे औद्योगिक वस्तुओं के उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है। वास्तव में यही तर्क उद्योगों की दृष्टि से भी दिया जा सकता है उद्योग को संरक्षण मिलने से कृषि-वस्तुओं के लिए अधिक क्रय-शक्ति उपलब्ध हो जाती है जिससे कृषि-वस्तुओं को अन्त में फायदा पहुंचता है।

फ्रेडरिक बेस्टियट (Frederic Bastiat) ने ऐसे तर्कों का बड़ा मजाक बनाया, जबकि मोमबत्तियाँ बनाने वालों ने पार्लियामेंट से यह प्रार्थना की थी कि उन्हें सूर्य की विनाशकारी प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध संरक्षण दिया जाय।

---

1. "If portectionists merely mean that under their system men will have to sweat and labour more, I grant their case. By cutting off imports we increase the aggregate of work, but should be diminishing the aggregate of wages. The protectionist has to prove not merely that he has made work, but that he has increased the national income. Imports are receipts and exports are payments. How, as a nation can we expect to better ourselves by diminishing our receipts ? Is there anything that a tariff could do, which an earthquake could not do better."

(*Keynes : The Nation and Athenaeum.*)

'यदि आप प्राकृतिक प्रकाश के प्रवेश यथासंभव रोक सकें, तो सम्पूर्ण देश में कौन-सा ऐसा उद्योग है, जो इससे लाभान्वित न होगा।....यदि निर्माताओं को संरक्षण से लाभ होता है, तो इससे उसी समय कृषि को भी लाभ होता है। यदि कृषि को लाभ होता है, तो उसे औद्योगिक वस्तुओं पर व्यय करने के लिये अधिक द्रव्य होता है। यदि हमें प्रकाश की व्यवस्था का एकाधिकार मिल जाय, तो हम तत्काल ही कोयला, तेल, मोम, स्प्रिट, लोह, क्रिस्टल कांच, आदि अपने उद्योग की आवश्यकता पूर्ति के लिये विशाल मात्रा में खरीद लेंगे। हम और हमारे अनगिनती सप्लायर, अधिक क्रय-शक्ति प्राप्त करने पर, अधिक व्यय करेंगे और इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादन की प्रत्येक शाखा की समृद्धि बढ़ाने में सहयोगी बनेंगे........संभवत: यहां आप आपत्ति उठायेंगे कि प्रकाश तो प्रकृति का एक नि:शुल्क उपहार है और उपहारों को छोड़ देने से कल्याण में कमी आ जावेगी......किन्तु, इस सम्बन्ध में आप यह न भूलें कि अब तक आपने सदा ही उक्त आधार पर विदेशी आयातों में कटौती की है, केवल इसलिये कि उपहार के सामान थे और जितना अधिक वे उपहार के सामान थे उतना अधिक आपने उनको कम किया........जब कोई वस्तु जैसे कोयला, लोहा, गेहूँ या कपड़ा विदेश से आता है और हम उन्हें कम श्रम से (यदि हम स्वयं इनका उत्पादन करते, तो अधिक श्रम लगता) प्राप्त कर लेते हैं, तो ऐसा अन्तर एक उपहार ही तो है। अन्तर जितना अधिक या कम हो उपहार भी उतना ही अधिक या कम होगा। उपहार अधिकतम तब हो जाता है जबकि प्रकाश देने वाले सूर्य के समान कोई दाता हमसे बदले में कुछ नहीं मांगता। अत: प्रश्न केवल इतना है कि हमारा देश एक लागत रहित उपभोग का तथाकथित लाभ चाहता है या कार्य उत्पन्न करने वाले उत्पादन का प्रमाणित लाभ चाहता है? इनमें से आप चाहे जिसको चुनिये, लेकिन तर्कपूर्वक चुनिए। यदि आप विदेशों से आने वाले कोयला लोहा, गेहूं आदि पर (जिनका मूल्य कम है) ड्यूटी बढ़ा देते हैं, तो क्या यह कार्य सूर्य के प्रकाश कार्य से असंगत नहीं है।"[1]

(5) चहुंमुखे संरक्षण का तर्क (Protection All-round) :

यदि प्रत्येक ड्यूटी न केवल उस उद्योग को जिसकी वस्तुएं इस प्रकार संरक्षित की गई हैं, वरन् बढ़ी हुई क्रय-शक्ति के द्वारा उत्पादन की प्रत्येक अन्य शाखा को भी लाभ पहुँचाती हैं तो ऐसी दशा में सबसे अच्छा मार्ग यह होगा कि प्रत्येक शाखा को टैरिफ द्वारा संरक्षण दिया जाय।

यह तर्क (यद्यपि इसे तर्क कहना उचित नहीं है) वास्तव में क्रय-शक्ति के तर्क का ही दूसरा रूप है। जर्मनी में यह तर्क बहुत लोक-प्रिय रहा। इस तर्क के बारे में कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिखाई नहीं देता। उत्पादन की सब शाखाओं को संरक्षण प्राप्त होने से टैरिफ प्रणाली कुछ अधिक श्रेष्ठ नहीं हो जाती।

---

1. Quoted from Haberler's Theory of International Trade, p. 247.

सच तो यह है कि टैरिफ प्रणाली जितना अधिक व्यापक होगी उतना ही कम लाभ किसी विशेष टैरिफ से उस उद्योग को मिलेगा जिसके हित में वह लगाया गया था। इसका कारण यह है कि उस उद्योग के सब सदस्यों को अब अन्य सब आयात वस्तुओं के लिए पहले से अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है, जिससे उत्पादकों के रूप में उनको जो लाभ हुआ था उसका कुछ भाग वे उपभोक्ताओं के रूप में खो देते हैं। यही नहीं, टैरिफ-दीवार (Tariff Wall) जितनी अधिक विस्तृत होगी, उतना अधिक वह देश शेष विश्व अर्थ-व्यवस्था से कटा हुआ होगा तथा उतना ही अधिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभों से वह देश वंचित रहेगा।

(6) व्यापार संतुलन के सुधार का तर्क :

टैरिफ के पक्ष में यह कहा जाता है कि इससे व्यापार-संतुलन के सुधार में सहायता मिलती है। सन् 1931 के बाद पूर्व और मध्य योरोप के अनेक देशों ने व्यापार-संतुलन को सुधारने के स्पष्ट-उद्देश्य से ही टैरिफों में वृद्धि की थी। प्रायः मुद्रा-प्रसार मौद्रिक संकटों के समय में इसका अधिक प्रयोग किया जाता है तथा साधारण समय में इसे यदि संरक्षण का प्रधान आधार नहीं तो सहायक आधार अवश्य ही बना लिया जाता है।

वास्तव में यह तर्क मौद्रिक और विदेशी विनिमय-यन्त्र के कार्य को पूरी तरह से न समझने के कारण अनुचित रूप से दिया जाता है क्योंकि यह यन्त्र तो भुगतान-संतुलन में स्वचालित रूप से साम्य ला देता है। ऐसी दशा में टैरिफ लगाने से क्या फायदा? यह समझना बड़ी भूल है कि टैरिफ द्वारा आयात कम होने से आयात-आधिक्य (Import Surplus) में आवश्यक रूप से कमी आवेगी। जब तक अत्यधिक आयात के मूल कारण बने रहेंगे तब तक आयातों में कोई कमी होने से निर्यात में भी उतनी ही गिरावट आवेगी जिससे आयात-आधिक्य ज्यों का त्यों बना रहेगा।

(7) विलास-वस्तुओं के आयात को रोकने का तर्क :

यदि इस तर्क का उद्देश्य यह है कि लोग विलास की वस्तुओं पर कम खर्च करें तो फिर आयातित और स्वदेश में उत्पादित विलास वस्तु के मध्य भेदभाव के लिए कोई स्थान नहीं है अर्थात् दोनों पर ही बराबर-बराबर कर लगना चाहिए। किन्तु जब केवल आयातित विलास वस्तुओं पर ही कर लगाया जाय जिससे कि उनका मूल्य बढ़ जाता है, तो यह बहुत सम्भव है कि उन पर से माँग हट कर स्वदेशी विलास वस्तुओं की ओर मुड़ जाय। ऐसी दशा में टैरिफ का उद्देश्य अपूर्ण रह जायगा।

(8) अन्य देशों में टैरिफों के प्रभाव का दमन करने का तर्क :

अन्य देशों में लगाये गये टैरिफों के हानिप्रद परिणाम से रक्षा करने के इरादे से (या उनके प्रतिकार स्वरूप) स्वदेश द्वारा जो टैरिफ लगाये जाते हैं, उन्हें 'प्रतिकारात्मक प्रशुल्क' (Retaliatory Tariffs) कहते हैं। इनके पक्ष में यह कहा जाता है कि एक देश जो कि चारों ओर से संरक्षित देशों से घिरा हुआ है, अपने महत्वपूर्ण

आर्थिक हितों को चोट पहुँचाये बिना, उदार व्यापार नीति पर कायम नहीं रह सकता। वर्तमान विश्व तो 'इस हाथ दे उस हाथ ले' की मनोवृत्ति पर चल रहा है। एक स्वतन्त्र व्यापार वाले देश के पास संरक्षित देशों को बदले में देने के लिये कुछ नहीं होता, जिससे वह सौदा करने की दुर्बल स्थिति में होता है। वह उनको अपने टैरिफ घटाने के लिये प्रेरित नहीं कर सकता। यही नहीं, एकपक्षीय स्वतन्त्र व्यापार नुकसान-देह बताया जाता है। एक अकेला स्वतन्त्र व्यापारी देश विदेशी प्रतिस्पर्धियों के व्यूह में बुरी तरह फँस जाता है और यदि उनके पास अन्य देशों की टैरिफ कार्यवाहियों का जवाब देने का कोई तरीका नहीं है, तो घोर हानि उठाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहता।

यद्यपि प्रतिकारात्मक टैरिफ के समर्थन में बहुत कुछ कहा जाता है, तथापि इसको विशेष महत्व देना उचित न होगा। केवल इस कारण टैरिफ लगाना, क्योंकि अन्य देशों ने टैरिफ लगाये हुए हैं, उचित एवं पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। यदि अन्य देश हमारे निर्यात व्यापार में बाधा डालता है, तो यह बहुत खेदजनक है; ऐसा करके वह अपने को और हमें दोनों को ही हानि पहुँचाता है, जिससे दोनों ही देशों के व्यापार सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन खाते के दोनों पक्ष ('देन' एवं 'लेन') घट जाते हैं। ऐसी दशा में, यदि हम भी प्रतिकारात्मक टैरिफ लगायें, तो स्वयं अपने लिये तथा अन्य देश के लिये अधिक हानि का कारण बन जायेंगे और प्रतिकार का उद्देश्य (रक्षा) भी पूरा न होगा। सच तो यह है कि, हम पहले स्वतन्त्र व्यापार के पक्ष का अध्ययन करते समय देख चुके हैं कि स्वतन्त्र व्यापार तर्क अपनी वैधता के लिये विदेशी टैरिफों के अभाव पर निर्भर नहीं है। अतः यह प्रचलित विश्वास कि विरोधी टैरिफ दीवारों से घिरा हुआ देश अपने भुगतान संतुलन को कायम नहीं रख सकता, इतना निरर्थक है कि इसे छोड़ देना ही अच्छा है।"[1]

(9) मजदूरियों के स्तर को बनाए रखने का तर्क (Argument that Tariffs Maintain Wages) :

कहा जाता है कि टैरिफ के द्वारा मजदूरियों के सामान्य-स्तर (General level of Wages) को ऊँचा किया जा सकता है, अर्थात्, यह विश्वास किया जाता है कि केवल टैरिफ की ओट में ही अन्य देशों की अपेक्षा ऊँचा मजदूरी स्तर रखा जा सकता है। जब हमारा आशय मजदूरियों के सामान्य स्तर से हो, तो यह तर्क तुलनात्मक लागत सिद्धान्त द्वारा गलत प्रमाणित हो जाता है। फिर भी ऊँची मजदूरी वाले देशों में (जैसे इंगलैंड, अमेरिका आदि) 'कंगाल श्रम तर्क' (Pauper-Labour Argument) बहुत ही लोकप्रिय है। वहाँ साधारण व्यक्ति यह समझते हैं कि यदि

1. "The popular belief that a country surrounded by a ring of hostile tariff walls cannot maintain her balance of payments in equilibrium is so primitive that we can pass it by."

(*Haberler : The Theory of International Trade, p. 250*)

टैरिफ का संरक्षण प्राप्त न होता तो कम मजदूरी वाले एशियाई देशों की प्रतिस्पर्धा के कारण अमेरिकन उद्योग का इतना अधिक विकास सम्भव न था। दूसरे शब्दों में, लोग यह समझते हैं कि देशों के बीच वस्तुओं के व्यापार से साधनों के मूल्यों (Factor Prices) में समानता आती है। लेकिन यह विश्वास गलत है क्योंकि मजदूरियों में समानता तभी आ सकती है जब कि श्रम गतिशील हो और कम मजदूरी वाले जिलों से अधिक मजदूरी वाले जिलों में जा सकता हो। अतः मजदूरियों में अन्तर कायम रखने के लिए एक अच्छा उपाय तो यह होगा कि श्रमिकों के आवास-प्रवास पर रोक लगा दी जाय।

(10) विदेशी देशों की कम लागतों का सामना करने का तर्क (Argument that a Tariff should be to Counteract the Lower Costs) :

प्रायः विदेशों मे कम मजदूरी होने के डर से यह कहा जाता है कि विदेशों की कम लागतों का सामना करने के लिए टैरिफ लगाना चाहिए। तभी गृह-उद्योग विदेशी-उद्योग से उचित आधार पर प्रतियोगिता कर सकेगा। स्पष्ट है कि यदि इस तर्क को लागू किया जाय तो समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही नष्ट हो जायगा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तभी उदय हो सकता है जब कि लागतों में अन्तर हो।

(11) बेकारी की विद्यमानता का तर्क (Tariffs & Unemployment) :

साधारण जनता मात्र यह समझती है कि किसी उद्योग में बेकारी की विद्यमानता टैरिफ लगाने का एक बहुत उचित आधार है। निस्संदेह, जब किसी उद्योग की वस्तु को विदेश से उसी प्रकार की आयातित वस्तु से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा हो और ऐसी वस्तुओं की माँग पूर्ण लोचदार न हो, तो प्रतिस्पर्धा करने वाली आयात वस्तुओं पर टैरिफ लगाकर उस उद्योग में फैली हुई बेकारी को कम किया जा सकता है टैरिफ का संरक्षण मिलने पर उस उद्योग का विकास होता है, जिससे रोजगार की वृद्धि होती है। इस सम्भावना को स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक भी स्वीकार करते हैं। किन्तु, वास्तविक महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि क्या इससे कुल बेकारी (Total Unemployment) में कमी आ सकेगी? ऐसा तो नहीं होगा कि कुछ उद्योगों में बेकारी घटना अन्य उद्योगों में (विशेषतः निर्यात-उद्योगों में) बेकारी बढ़ाने से व्यर्थ तो नहीं हो जायगा?

बेकारी पर अल्पकाल में टैरिफ लगाने के प्रभाव :

यदि किसी उद्योग में बेकारी विद्यमान है, तो टैरिफ लगाने के फलस्वरूप अल्पकाल में, उसकी बेकारी की मात्रा में बहुत कमी आ सकती है; विशेषतः उस दशा में जबकि उस उद्योग की वस्तु का काफी मात्रा में आयात किया जाता हो। इसका कारण यह है कि टैरिफ लगने से यह आयात बन्द हो जाता है, इससे संरक्षित उद्योग का उत्पादन बढ़ता है और उसमें बहुत से बेकार व्यक्तियों को काम मिल जाता है।

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों का मत है कि इससे कुल बेकारी में कमी होने में सहायता नहीं मिलेगी। चूंकि आयात और निर्यात परस्पर संतुलित होने की प्रवृत्ति रखते हैं, इसलिये टैरिफ के कारण आयातों में कमी होने से निर्यात भी घटने लगते हैं। इससे निर्यात उद्योगों में बेकारी फैलती है, जो आयात-उद्योग से अधिक रोजगार मिलने के सुप्रभाव को नष्ट कर देती है।

स्वतन्त्र व्यापार के समर्थकों के उक्त तर्क के विरुद्ध दो आपत्तियां उठाई जाती हैं—**प्रथम**, यह मान लेना अवास्तविक है कि आयातों में कमी होने पर निर्यातों में भी तत्काल ही उतनी ही कमी आ जावेगी। **दूसरे**, यदि मान भी लें कि निर्यात तत्काल ही कम होने लगते हैं, तो इससे यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि निर्यात उद्योगों में बेकारी उत्पन्न हो जायगी ? कारण, अब तक तो क्रय-शक्ति उपभोक्ताओं द्वारा आयातित वस्तुओं पर व्यय की जाती थी (और जिसे प्राप्त करके विदेशी व्यापारी यहां से वस्तुएं मंगवाते थे) वह अब स्वदेश में उत्पादित वस्तुओं पर व्यय की जावेगी ; तथा इसे प्राप्त करने वाले देशवासी उसे निर्यात उद्योगों की वस्तुयें खरीदने पर खर्च करने लगेंगे। इस प्रकार निर्यात उद्योगों की उत्पत्ति के लिये विदेशी मांग का स्थान स्वदेशी मांग ग्रहण कर लेगी। दूसरे शब्दों में, अब निर्यात उद्योग विदेशी बाजारों पर निर्भर रहने के बजाय स्वदेशी संरक्षित उद्योग का पूरक बन जायेंगे।

उपरोक्त आपत्तियां बहुत सीमा तक सही हैं। किन्तु इनमें भी एक दुर्बलता है। यह जरूरी नहीं है कि नये श्रमिकों की मांग उन्हीं वस्तुओं के लिए हो जो कि पहले निर्यात की जाती थीं। यदि नये श्रमिकों की मांग इन वस्तुओं के लिये नहीं है, तो टैरिफ लगाने के फलस्वरूप निर्यात उद्योगों में तत्काल ही कुछ बेकारी उत्पन्न हो जायेगी, जबकि सुरक्षित उद्योग में नया रोजगार उत्पन्न होगा। ऐसी दशा में हम समस्या पर क्या निर्णय दें ? तथ्य यह है कि नई स्वदेशी मांग (जो कि संरक्षित उद्योग में रोजगार बढ़ने से उत्पन्न होती है) किसी न किसी उद्योग की दिशा में तो लगेगी ही। जिस किसी उद्योग की वस्तु के लिये वह प्रगट होगी, उसमें (यदि यह मान लें कि अन्य उद्योगों में भी बेकारी है) उत्पादन बढ़ने से विद्यमान बेकारी कम हो जायेगी। बेकारी में हुई यह कमी निर्यात उद्योगों में बेकारी की वृद्धि को निष्प्रभावित कर देगी। इसके अतिरिक्त संरक्षित उद्योग में जिस सीमा तक नये श्रमिकों को काम मिला है उस सीमा तक कुल बेकारी में कमी आ जायगी।

कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि जिन नये श्रमिकों को संरक्षित उद्योग में काम मिलता है यह जरूरी नहीं कि वे पहले से बेकार बैठे हुए लोगों में से ही हों। अर्थात्, यह भी सम्भव है कि अन्य उद्योगों में काम पर लगे हुए श्रमिक वहां से हट कर संरक्षित उद्योग में काम करने के लिए आ जायेंगे। जिस सीमा तक ऐसा होगा उस सीमा तक रोजगार में वृद्धि या बेकारी नहीं होगी।

सारांश में, यह कहा जा सकता है कि "यदि नई ड्यूटी के कारण (अथवा पुरानी ड्यूटी में वृद्धि के कारण) संरक्षित उद्योग में ऐसे श्रमिकों को काम प्राप्त हो जाता है जो कि पहले बेकार थे, तो इसके परिणामस्वरूप कुल बेकारी में कमी प्रायः सम्भव है। कुल बेकारी में कितनी कमी आयेगी यह दो बातों पर निर्भर है—(i) संरक्षित उद्योग द्वारा प्रदान किए गए रोजगार की मात्रा, एवं (ii) इसकी वस्तु की मूल्य होने वाली वृद्धि की मात्रा।"[1]

बेकारी पर दीर्घकाल में टैरिफ लगने के प्रभाव :

बेकारी पर टैरिफ के दीर्घकालीन प्रभावों का अध्ययन करने के लिये हमें बेकारी के तीन प्रकारों में भेद करना चाहिए, जो निम्न हैं—(i) संघर्ष से उत्पन्न बेरोजगारी (Frictional Unemployment), (ii) व्यापार चक्र से उत्पन्न बेरोजगारी (Cyclical Unemployment) एवं (iii) स्थायी बेकारी (Permanent Unemployment)।

(i) संघर्ष से उत्पन्न बेकारी एवं टैरिफ लगने के प्रभाव—प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में सदा ही अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें थोड़े या बहुत समय के लिये बेकार रहना पड़ता है, क्योंकि एक काम छूटने के बाद दूसरा काम तत्काल नहीं मिल पाता। अच्छे समयों में भी प्रायः देखा जाता है कि कुछ फर्म दुर्भाग्य से या अपने प्रबन्धकों की अकुशलता अथवा माँग में शिफ्ट होने के कारण कारोबार बन्द करने के लिये विवश हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, टैक्नीकल उन्नति के कारण नवीन विधियाँ, नवीन संस्थाएं एवं नये उद्योग विकसित होते रहते हैं, जिससे पुराने उद्योग की प्रतिस्पर्धा दुर्बल पड़ जाती है और श्रमिक बेकार होने लगते हैं। इसे कभी-कभी टैक्नीकलॉजिकल बेकारी' (Technological Unemployment) भी कहते हैं। दूसरा काम प्राप्त करना, विशेषतः जब इसके लिये दूसरे जिले में जाना पड़ता हो, तत्काल ही (अथवा समय-विलम्ब के बिना) मिलना बहुत कठिन होता है। प्रायः श्रमिकों को बहुत हानि उठानी पड़ती है तथा नया काम प्राप्त करने में काफी समय लग जाता है। निस्संदेह यह बेकारी अस्थाई होती है लेकिन प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में और प्रत्येक समय पर ऐसे अस्थाई रूप से बेकार श्रमिक काफी संख्या में होते हैं।

टैरिफ द्वारा टेक्नोलॉजिकल या फिक्शनल बेकारी को दूर करना सम्भव है। जब कोई उद्योग, जिसे आयातों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है तुलनात्मक

1. "Inspite of these considerations it remains quite conceivable that if only a new or increased duty causes workers previously unemployed to be absorbed in the newly protected industries, the result may be a net diminution in total employment. In such a case, the magnitude of the diminution would vary with the extent to which the protected industries employed labour and with the smallness of the resulting rise in the price of the product." (*Haberler : The Theory of International Trade, p. 253.*)

लागतों में (विदेशों में टेक्नोलॉजिकल प्रगति के कारण) परिवर्तन होने से, अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ने लगा है, जिससे उसमें बेकारी उत्पन्न होने का खतरा है, तो टैरिफ लगा कर बेकारी को रोका जा सकता है। किन्तु ऐसे परिवर्तन तो प्रत्येक अर्थ-व्यवस्था में नित्यप्रति होते रहते हैं और यदि हर बार टैरिफ का आश्रय लेकर बेकारी को रोकने का प्रयास किया गया तो, देश को अपार एवं स्थाई हानि सहन करनी पड़ेगी। विश्व के विभिन्न देशों में जो टेक्नोलॉजिकल उन्नति होती है उसका लाभ सब राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के द्वारा प्राप्त होता है। अतः यदि अस्थाई बेकारी को दूर करने के लिये टैरिफ लगाया जाता है, तो इससे अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के माध्यम से मिलने वाले लाभ स्थगित होते रहते हैं।[1] इसके अतिरिक्त, यदि अनेक देश इस नीति को एक साथ अपनाएँ, तो किसी देश को अस्थायी लाभ भी न हो सकेगा।

अतः टैरिफ लगाकर अस्थायी व टेक्नोलॉजिकल बेकारी की नीति का समर्थन तब ही किया जा सकता है, जबकि यह विश्वास किया जाता हो कि किसी वस्तु या वस्तुओं के उत्पादन में विदेशों की श्रेष्ठता केवल अस्थाई प्रकृति है, जिससे ड्यूटी लगाने से, स्वदेश को पहले तो अपना समायोजन इस अस्थाई परिस्थिति के अनुसार करने और फिर कुछ समय बाद पूर्व स्थिति पर लौटने का कष्ट न उठाना पड़ेगा। ड्यूटी लगाने से देश को इतना अवसर मिल जाता है कि वह अपनी टेक्नोकल प्रगति बढ़ाकर विदेशों के समकक्ष हो जाय।

(ii) व्यापार चक्र से उत्पन्न होने वाली बेकारी एवं टैरिफ लगने के प्रभाव—चक्राकार बेकारी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की विशेषता है, क्योंकि कोई भी पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था व्यापार चक्रों से मुक्त नहीं है। **चक्राकार बेकारी को भी टैरिफों द्वारा कम किया जा सकता है किन्तु इसकी सीमायें एवं शर्तें वही हैं जो कि ऊपर बताई गई हैं।** इस स्थिति में कुछ जटिलता इस कारण आ जाती है कि ऐसी बेकारी एक दो उद्योगों में नहीं वरन् अनेक उद्योगों तथा देशों में उपस्थित होती है। यहां भी, एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभों को छोड़ने से उत्पन्न हुई स्थाई हानि और दूसरी ओर एक संदिग्ध तथा अस्थाई लाभ के बीच चुनाव का प्रश्न पैदा होता है। यह चुनाव कठिन नहीं होना चाहिये, क्योंकि अपना अच्छा-बुरा प्रत्येक देश सोच सकता है। लेकिन तथ्य यह है कि प्रत्येक मन्दी अपने साथ प्रशुल्क-वृद्धियों की नई

---

1. If one were to raise the tariff every time unemployment appeared any where one would incur lasting loss for the sake of a doubtful and temporary gain. One would forgo the immense gains of international division of labour and of technical progress for a mass of pottage."

(*Haberler : The Theory of International Trade, p. 266.*)

लहर जाती है। चक्राकार मजदूरी के लिये ड्यूटी लगाना या बढ़ाना भी वही प्रभाव रखता है। प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि किसी देश को विश्व अर्थ-व्यवस्था से पृथक कर देने से वह संकट-प्रूफ हो जाता है। किन्तु यह धारणा गलत है। अनुभव यह बताता है कि जर्मनी, फ्रांस और अमेरिका जैसे अत्यन्त संरिक्षत देश भी इङ्गलैंड सरीखे स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक देशों के समान संकटों से पीड़ित होते रहे हैं। वास्तव में किसी देश के टैरिफ ऊंचे या नीचे होने से उसके संकटों की तीव्रता का कोई सम्बन्ध नहीं है।

(iii) **स्थाई बेकारी एवं टैरिफ लगाने के प्रभाव** — युद्ध के बाद से इंगलैंड, आस्ट्रिया और कुछ सीमा तक जर्मनी में स्थाई बेकारी फैल गई थी। ऐसी बेकारी के दूर करने में टैरिफ कुछ सहायक हो सकते हैं। स्थाई बेकारी सदा मजदूरियों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण उदय होती है, जिससे बहुत ऊँचे टैरिफ लगाकर ही बेकारी को कम करना सम्भव है। लेकिन बहुत ऊँचे टैरिफ लगाने का अर्थ है प्रतिकूल प्रतिक्रिया होना तथा उपभोक्ताओं को बड़ी हानि पहुंचना। हमें यह भी याद रखना चाहिये कि 'स्थाई बेकारी' भी सदा के लिये कायम नहीं रहती। यदि बेकारों की कुल संख्या 'स्थिर' भी रहे, तो भी उस कुल योग की रचना हर समय बदलती रहती है। अतः इस प्रकार की बेकारी को टैरिफों के द्वारा घटाने का प्रयास करने से लगातार पहले 'यहाँ' और फिर 'वहाँ' ड्यूटियाँ लगाने की आवश्यकता पड़ेगी, जिससे बहुत शीघ्र लाभ की अपेक्षा हानि बढ़ जायेगी। इसके अतिरिक्त, ड्यूटियों में प्रत्येक भारी वृद्धि का अनुसरण उस प्रकार के उपायों द्वारा अन्य देशों में भी होता है और ऐसी दशा में एक शुद्ध अनुकूल प्रभाव (Net Favourable Effect) पड़ने की आशा समाप्त हो जाती है।

यदि बेकारी निर्यात उद्योगों में केन्द्रित हो, तो इसे बहुत निराशाजनक दशा कहेंगे। ऐसी दशाओं में बेकारी विशुद्ध राष्ट्रीय कारणों (जैसे, उच्च मजदूरी स्तर) का परिणाम नहीं होती, वह विदेशी प्रतिस्पर्धा से भी उदय नहीं होती, वरन् वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगे हुए प्रतिबन्धों का परिणाम है। निर्यात उद्योगों में फैली हुई बेकारी को आयातों को प्रतिबन्धित करके कदापि नहीं घटाया जा सकता। ऐसी दशा में टैरिफ निर्यातों में और भी अधिक कमी होने के कारण बन जायेंगे तथा बेकारी और भी बढ़ जायगी।

निष्कर्ष :

उपरोक्त विवेचन से निम्न बातें स्पष्ट हो जाती हैं :—(1) यदि बेकारी सामान्य और स्थाई हो, तो इसका उपचार यह होगा कि या तो मजदूरी-स्तरों को गिराया जाय अथवा देश उस समय की प्रतीक्षा करे जबकि वहाँ इतनी टेक्नीकल प्रगति हो जाय कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता बढ़कर प्रचलित मजदूरी-स्तर के बराबर हो सके। इसका भी वही प्रभाव होगा जो कि वास्तविक मजदूरियाँ कम करने का होता है। (2) यदि बेकारी चक्र स्वभाव की है, तो वह पुनर्चेतना (Recovery)

की अवस्था शुरू होने पर स्वतः समाप्त हो जायगी। हाँ, मजदूरी-कटौतियों की नीति के द्वारा इस अवस्था के जल्द आगमन में सहायता मिल सकती है। (3) यदि बेकारी आंशिक (Sectional) है अर्थात् किसी एक उद्योग में विद्यमान है, तो देश को पूर्ण रोजगार की अवस्था स्वाभाविक रूप में पहुँचने की प्रतीक्षा करनी चाहिये। बेकार व्यक्तियों को अर्थ-व्यवस्था के अन्य अंगों में काम प्राप्त करने की सुविधा के लिये ट्रेनिंग देने की व्यवस्था की जा सकती है।

(12) शिशु उद्योग संरक्षण (Infant Industry Tariffs)

लिस्ट व एलेक्जेण्डर हैमिल्टन के विचार—शिशु उद्योग तर्क सर्वप्रथम एलेक्जेण्डर हैमिल्टन द्वारा सन् 1790 में प्रतिपादन किया गया था। उसके विचार अमेरिका में बहुत लोकप्रिय रहे। वहाँ फ्रेडरिक लिस्ट ने इस विचार को ग्रहण किया तथा जर्मनी में उसका प्रचार किया उन्होंने इस तर्क पर विशेष प्रकाश डाला है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

अधिक प्रगतिशील देशों के साथ पूर्ण स्वतन्त्र प्रतियोगिता की दशा में, कम प्रगतिशील देश अपने निज के उद्योग कदापि कायम न कर सकेगा, चाहे निर्माण सम्बन्धी समस्त सुविधायें क्यों न उसके पास हों। इसका कारण भी वही है जिससे कि एक बालक एक पहलवान के साथ कुश्ती में नहीं जीत सकता और न उसका सबल विरोध ही कर सकता है। अन्य राष्ट्रों के नव-विकसित (या अर्द्ध-विकसित) उद्योगों पर इंगलैंड के पुराने उद्योगों को हजारों ही लाभ प्राप्त होते हैं, उदाहरण के लिये—"अधिक संख्या में तथा सबसे कम मजदूरी पर अनुभवी एवं कुशल श्रमिकों की प्राप्ति, सर्वोत्तम टेक्नीकल प्रतिभा, पूर्ण एवं सस्ती मशीनरी, क्रय-विक्रय में सबसे अधिक मितव्ययता, यातायात के सस्ते साधन, कच्चे माल, बैंकों से कम से कम ब्याज पर अधिक से अधिक साख, अच्छे औजार, इमारतें, विस्तृत गृह बाजार आदि.........। किसी स्थापित उद्योग का विकास करना नये उद्योग की स्थापना करने की अपेक्षा अत्यन्त सरल होता है। यही कारण है कि प्राचीन फर्में नई फर्मों की अपेक्षा अधिक लाभ कमाती रहती हैं।"

साथ ही लिस्ट का यह भी कहना है कि "संरक्षण के उपाय केवल उन राष्ट्रों के लिये उचित हैं जो कि अपनी विशाल जनसंख्या, विस्तृत क्षेत्रफल, प्राकृतिक साधन, प्रगतिशील कृषि, उच्च सभ्यता एवं राजनैतिक विकास के कारण विश्व के प्रमुख कृषिक एवं औद्योगिक राष्ट्रों के समकक्ष होने की योग्यता रखते हैं।" मिल ने शिशु उद्योग तर्क को अधिक ठोस रूप दिया है। मिल ने लिखा है कि—"राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर संरक्षणात्मक ड्यूटी का समर्थन केवल उस दशा में ही किया जा सकता है, जबकि वह नव एवं उदीयमान राष्ट्रों द्वारा किसी विदेशी उद्योग को, जोकि देश की परिस्थितियों के पूर्णतः अनुकूल है, स्वदेश में ही विकसित कर लेने की आशा में अस्थाई रूप से लगाई जाय।"

चूंकि मिल ने शिशु उद्योग-तर्क पर अपनी सहमति प्रकट की है, इसलिये अनेक स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक अर्थशास्त्रियों ने इसके सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। किन्तु इसकी कुछ आलोचना भी हुई हैं, जोकि इस प्रकार हैं :—

उक्त तर्क द्वारा सूचित सम्भावनायें वास्तव में विद्यमान हैं या नहीं, इसका निश्चय करने के कुछ साधारण नियम बनाना बहुत ही कठिन है। प्रत्येक मामले की निजी रूप से परीक्षा करके ही यह कहा जा सकता है कि उद्योग लिस्ट एवं मिल के तर्कानुसार टैरिफ या संरक्षण प्राप्त करने के योग्य है अथवा नहीं। इस परीक्षा में कठिनाई निम्न कारण से उत्पन्न होती है :—

(i) शिशु उद्योग तर्क से सम्बन्धित प्रयोग (Experiment) कभी समाप्ति पर नहीं आता। लगभग प्रत्येक औद्योगिक टैरिफ प्रारम्भ में शिशु उद्योग टैरिफ के रूप में इस वचन के साथ लगाया था कि वह कुछ वर्षों में जबकि उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने के योग्य सीमा तक विकसित हो जायेगा, हटा लिया जायेगा। लेकिन वास्तव में ऐसी सीमा कभी नहीं आती। निहित स्वार्थ सदा इन ड्यूटियों को हटाने को अनिच्छुक ही रहते हैं जिससे वे स्थाई बन जाती हैं।

(ii) यदि उद्योग की कुछ फर्में अपने पैरों पर खड़ी होने में समर्थ हो जाती हैं, तो इनके अतिरिक्त अन्य फर्में जो कि कम कुशल हैं तथा संरक्षण की आड़ में ही जन्म ले सकी हैं, ड्यूटी हटा लेने पर तुरन्त ही समाप्त हो जायेंगी।

(iii) वे उद्योगपति भी, जो कि स्वतन्त्र व्यापार के अन्तर्गत भली प्रकार अपना अस्तित्व कायम रख सकते थे, ड्यूटी के हटाने का कड़ा विरोध करते हैं, क्योंकि या तो वे इसके संरक्षण के अन्तर्गत मिलने वाले एकाधिकारिक लाभ को जारी रखना चाहते हैं अथवा यह अनुभव करते हैं कि विदेशी प्रतिस्पर्धा तेज हो गई, तो उन्हें फिर उसकी आवश्यकता पड़ सकती है। अतः यदि कोई शिशु उद्योग-ड्यूटी बाद में हटाई नहीं गई हो (जैसा कि वायदा किया गया था), तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि उसने अपना उद्देश्य पूरा नहीं किया है।

(iv) यदि किसी ड्यूटी के फलस्वरूप एक ऐसा उद्योग विकसित हो जाता है जो कि कुछ समय के बाद इसके बिना भी काम चल सकेगा और यह भी निश्चित रूप से मालूम है कि यह उद्योग उस ड्यूटी के बिना अस्तित्व में नहीं आ सकता था, तो उसके जीवित रहने की क्षमता इस बात का प्रमाण नहीं मानी जा सकती है कि उक्त ड्यूटी उसे लाभदायक रही है।

(v) कुछ लोगों का यह विश्वास है कि शिशु उद्योग-तर्क अनावश्यक हैं क्योंकि प्राइवेट उपक्रम स्वयं उत्पादन के लिये अनुकूल संभावनायें खोज सकता है तथा उनका प्रयोग कर सकता है। अनेक बार संरक्षण के बिना ही नये उद्योग पनप जाते हैं जबकि उत्पादन की दशायें अनुकूल होती हैं। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हमें संयुक्त राज्य से मिलता है। वहाँ मिडिल वैस्ट में अल्प समय में ही एक शक्तिशाली उद्योग-केन्द्र स्थापित हो गया था जबकि उसे एटलांटिक राज्यों के स्थापित उद्योगों की प्रतिस्पर्धा

के विरुद्ध, जिन्हें हैमिल्टन एवं लिस्ट द्वारा गिनाये हुये सब ही लाभ प्राप्त थे, कोई संरक्षण नहीं दिया गया था।

(13) असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के खतरों का तर्क :

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्धांश में जर्मनी अनाज का निर्यातक देश नहीं रहा, वरन् एक अनाज आयातक देश हो गया। यह उसके तेजी से बढ़ते हुए औद्योगीकरण का एवं विदेशों से (विशेषत: अमेरिका से) सस्ते अनाज की सप्लाई आरम्भ होने का परिणाम था। इस प्रकार जर्मनी के सामने यह समस्या उदय हुई कि वह अपनी कृषि को विदेशी प्रतिस्पर्धा से समाप्त हो जाने दे और एक पूर्ण औद्योगिक राष्ट्र बन जाय अथवा इस प्रकार के एकतरफा विकास को कृषि-टैरिफों का ब्रेक लगाकर रोके। अनेक जर्मन विद्वान विदेशों पर कच्चे मालों एवं खाद्य पदार्थों की पूर्ति के लिये अपने देश की बढ़ती हुई निर्भरता से चिन्तित हो उठे और उनमें इस निर्भरता के अन्तिम परिणाम के बारे में गम्भीर वाद-विवाद होने लगा। तब उन्होंने असन्तुलित अर्थ-व्यवस्था के खतरों से बचने के लिये टैरिफ का समर्थन किया। आश्चर्यजनक परिवर्तन हो सकते हैं इसे कोई नहीं बता सकता। किन्तु इतना कहा जा सकता है कि औद्योगिक अर्थ-व्यवस्थाओं के अन्दर से ही जो विस्फोटक परिवर्तन हो रहे हैं, जैसे सामाजिक अशांति, समाजवादी प्रयोग, एकाधिकार का उदय, करैंसी सम्बन्धी प्रयोग आदि। वे कृषि-देशों के औद्योगीकरण से अधिक खतरनाक हैं।

(14) संकटकालीन टैरिफ :

संकटकालीन टैरिफ उद्योग की किसी विशेष शाखा में एक अस्थाई संकट को दूर करने के लिये होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि परिस्थितियों में यकायक कोई परिवर्तन होने से (जैसे किसी वर्ष विश्व-भर में बहुत अच्छी फसल होना जब कि स्वदेश में फसल बिगड़ जाना) आर्थिक संकट उत्पन्न हो सकता है, जिसे टैरिफ द्वारा दूर किया जा सकता है अथवा उसे हल्का किया जा सकता है।

[लेकिन अनुभव यह बताता है कि, संकटकालीन टैरिफ अस्थाई रूप से लगाये जाने पर भी बाद में उन्हें हटाना कठिन हो जाता है। गत आर्थिक मन्दी के समय में जो टैरिफ लगे थे वे मन्दी समाप्त होने के बाद भी बने रहे। अत: संकटकालीन टैरिफ लगाने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, जब कभी संकटकालीन टैरिफ लगाये जाते हैं, तो एक साथ कई वस्तुओं पर लगाये जाते हैं। ऐसी दशा में यह देखा गया है कि एक वस्तु पर ड्यूटी दूसरी वस्तु पर ड्यूटी के प्रभाव को नष्ट कर देती है। यही नहीं, विदेशी देश भी एक देश के संकटकालीन टैरिफ के प्रतिकार स्वरूप अपने यहाँ टैरिफ लगाते हैं। अत: स्पष्ट है कि संकटकालीन टैरिफ लाभ के बजाय अधिक हानि का कारण बन सकते हैं।]

(15) व्यापार की शर्तों में सुधार करने का तर्क :

टैरिफ के समर्थन में कभी-कभी यह तर्क किया जाता है कि यदि ड्यूटी का भुगतान विदेशियों को करना पड़े, तो वह उचित है। [किन्तु वास्तव में ड्यूटी का

संरक्षणात्मक उद्देश्य तथा विदेशियों के व्यय पर रेवेन्यू प्रदान करने का उद्देश्य दोनों ही एक दूसरे से असंगत हैं, क्योंकि जब संरक्षणात्मक उद्देश्य पूरा किया जाता है, तो ड्यूटी से रेवेन्यू नहीं मिल सकती है और विपरीत क्रम से, जब विदेशी लोग सम्पूर्ण ड्यूटी वहन करते हैं, तो गृह-उत्पादन को कोई संरक्षण नहीं मिलता, क्योंकि स्वदेशी मूल्य अपरिवर्तित रहता है।]

(16) राशिपतन से सुरक्षा का तर्क :

कभी-कभी टैरिफ का समर्थन देश को विदेशियों की राशिपतन (Dumping) सम्बन्धी कार्यवाहियों के दुष्प्रभावों से बचाने के हेतु किया जाता है। अनेक देशों ने राशिपतन सम्बन्धी कार्यवाहियों को रोकने के लिये विशेष नियम बनाये हैं। किन्तु राशिपतन विरोधी टैरिफ लगाते समय दो कठिनाइयाँ उदय होती हैं :—प्रथम, राशिपतन के सही अर्थ के बारे में लोग भ्रमित रहते हैं। वास्तव में, 'राशिपतन' का अभिप्राय प्राय: किसी वस्तु को विदेश में ऐसे मूल्य पर बेचने से लिया जाता है जो कि उसी वस्तु को उसी समय पर तथा उन्हीं दशाओं के अन्तर्गत स्वदेश में (यातायात व्यय के लिये मार्जिन छोड़ते हुये) बेचने के मूल्य से कम हो। यदि राशिपतन अस्थाई है, तो यह देश के लिये अत्यन्त खतरनाक हो सकती है, और यदि वह स्थाई है, तो उपभोक्ताओं को स्थायी लाभ की प्राप्ति हो सकती है। अतः राशिपतन के स्वभाव पर विचार करके ही टैरिफ लगाना चाहिये। कनाडा और अमेरिका में राशिपतन विरोधी ड्यूटियाँ बहुत सफल रही हैं।

निष्कर्ष :

संरक्षण के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों और साथ में दी गई आलोचनात्मक व्याख्या से यह स्पष्ट है कि संरक्षण कोई आदर्श आर्थिक नीति नहीं है वरन् विशेष परिस्थितियों में ही अपनाई जाने वाली नीति है। इस नीति के अपनाने से निम्न हानियाँ संभव हैं :—

(i) यह अधिकतम सामाजिक उत्पादन में बाधक है।

(ii) देश में दुर्बल उद्योगों के निर्माण को प्रोत्साहन देती है।

(iii) मूल्य में वृद्धि करके उपभोक्ताओं को हानि पहुंचाती है।

(iv) देश में भ्रष्टाचार पनपता है।

(v) एकाधिकारों की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है।

(vi) निश्चित लाभ सुरक्षित होने से उद्योगों में शिथिलता आने लगती है।

(vii) अदृश्य करों के कारण निर्धन वर्ग पर कर भार बढ़ने से समाज में धन के वितरण की असमानता और ज्यादा हो जाती है।

(viii) राष्ट्रों में पारस्परिक तनातनी बढ़ती है।

(ix) विदेशी व्यापार की मात्रा कम हो जाती है।

☞ Q. 40. **Discuss the various modes of giving protection to national industries.**

Or

Discuss the relative usefulness of the following as methods of protection to industries :—(a) Tariff Quotas, (b) Tariffs, (c) Quantitative restrictions, and (d) Subsidies.

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिबन्धों के स्वरूप

संरक्षण की रीतियाँ (Methods of Protection) :

किसी देश की सरकार अनेक रीतियों से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वाभाविक गति में बाधा डाल सकती है और इसका प्रभाव देश को संरक्षण मिलना है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध अथवा संरक्षण देने की विविध रीतियाँ निम्नलिखित हैं :—

(I) वैधानिक निषेध (Legal Prohibition)—देश की सरकार किसी वस्तु या वस्तुओं के आयात या निर्यात पर कानून बना कर प्रतिबन्ध लगा सकती है। उदाहरणार्थ, जब अर्जेन्टायना में पशुओं में महामारी फैली थी, तो अमेरिका ने वहाँ से माँस मँगाने पर कानूनी निषेध लगा दिया था।

(II) प्रशुल्क कर (Tariffs or Duties)—संरक्षण का सबसे प्रचलित और पुराना तरीका यह है कि सरकार आयात या निर्यात पर कर लगा देती है। आजकल आयात-कर निर्यात-करों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हैं। जब आयात कर आयात की दृष्टि से लगाये जायें, तो इन्हें 'आय सम्बन्धी कर' (Revenue Duties) और जब संरक्षण की दृष्टि से लगाये जाते हैं, तो इन्हें 'संरक्षण कर' (Protective Duties) कहते हैं। प्रशुल्क कर कई प्रकार के होते हैं :—

(i) समान कर प्रणाली (Unilinear or Single Column Tariff System), जिसके अन्तर्गत एक देश सभी देशों की समान वस्तुओं के प्रति समानता का व्यवहार करता है।

(ii) सामान्य या परम्परागत प्रशुल्क प्रणाली (General or Conventional Tariff System), जिसके अन्तर्गत एक देश, विशेष संधियों अथवा परम्पराओं वाले देशों को छोड़ कर अन्य सब देशों के लिए एक समान कर लगाता है।

(iii) अधिकतम एवं न्यूनतम दरों वाली प्रशुल्क प्रणाली (Tariff System with maximum and minimum rates), जिसमें समान वस्तुओं के सम्बन्ध में विशेष संधियों वाले देशों के लिये आयात करों की न्यूनतम तथा अन्य देशों के लिए अधिकतम दरों की व्यवस्था की जाती है।

(iv) विशेषाधिकारी प्रशुल्क प्रणाली (Preferential Tariff System), जिसके अन्तर्गत कोई देश राजनैतिक, जातिगत अथवा सैनिक दृष्टि से घनिष्ट रूप में सम्बन्धित देशों के लिए व्यापार सम्बन्धी विशेष रियायतें देता है।

यही नहीं, करों की गणना भी विभिन्न प्रकार से की जाती है। यदि भौतिक इकाई (जैसे प्रति क्विंटल या प्रति गज) के आधार पर प्रशुल्क-कर लगाये जायें, तो इन्हें 'विशिष्ट प्रशुल्क' (Specific duties) कहते हैं और यदि वस्तुओं के मूल्य के आधार पर लगाये जायें, तो वे 'मूल्यानुसार प्रशुल्क' कहे जायेंगे। यदि चुंगी आयातित माल पर उनका मूल्य बढ़ा कर स्वदेशी उत्पादकों को उस हानि से बचाने के लिये, जो कि कच्चे माल पर लगाये गये करों के कारण उन्हें सहनी पड़ती है, लगाई जाती है, तो वह 'क्षतिपूर्वक प्रशुल्क' (Compensatory Duty) कहलावेगी। जिस वस्तु पर विदेशी सरकार आर्थिक सहायता देती है, उस वस्तु पर इस आर्थिक सहायता के प्रभाव को समाप्त करने के लिए स्वदेशी सरकार ऐसी वस्तु पर जो आयात कर लगाया करती है उसे 'प्रतिरोधी कर' (Countervailing Duty) कहते हैं।

विभिन्न प्रकार के आयात-करों के गुण निम्नलिखित हैं— विदेशी वस्तुओं को मँहगा बना कर उनका आयात घटाने में सहायक होती है। इससे स्वदेशी उद्योगों का विकास तेजी से होने लगता है, रोजगार की वृद्धि होती है, श्रमिकों को मिलने वाली मजदूरी में वृद्धि होती है तथा देश आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ने लगता है। किन्तु दोष यह है कि अन्य देश भी प्रतिकारात्मक आयात-कर लगा सकते हैं जिससे इनका प्रभाव ही समाप्त हो जाता है, राष्ट्रों में अनबन भी होने लगती है तथा विदेशी व्यापार गलत दिशाओं में मुड़ जाता है। प्रायः पक्षपात पूर्ण होने के कारण अन्य देशों द्वारा इनका विरोध किया जाता है।

(III) आर्थिक सहायता (Bounties and Subsidies)—उद्योग विशेष को प्रोत्साहित करने के लिये सरकार उसे अनुदानों, विशेष छूटों, ऋणों आदि के रूप में आर्थिक सहायता दे सकती है। इनके कारण, आयात-निर्यात बढ़ता है। किन्तु कुछ महत्वपूर्ण बातों में ये आयात करों से श्रेष्ठ हैं :—(i) आयात करों से विदेशी माल मँहगा हो जाता है, उसकी प्रतियोगिता शक्ति कम हो जाती है और उसका आयात कम होने लगता है। किन्तु आर्थिक सहायता के कारण स्वदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ जाती है जिससे वह न केवल देश में वरन् विदेशों में भी अपने माल की बिक्री बढ़ाने में समर्थ हो जाते हैं। (ii) करों में उपभोक्ता के हितों का बलिदान होता है, क्योंकि विदेशी वस्तुओं का आयात कम होने से स्वदेशी उत्पादक अपनी वस्तुओं का अधिक मूल्य लेने में सफल हो जाते हैं। लेकिन आर्थिक सहायता के अन्तर्गत उपभोक्ताओं को ऐसी हानि नहीं उठानी पड़ती तथा उत्पादकों व उपभोक्ताओं दोनों को ही लाभ होता है।

(IV) परिमाणात्मक प्रतिबन्ध (Quantitative Restrictions)—एक अन्य महत्वपूर्ण प्रकार के प्रतिबन्ध, जो प्रायः विदेशी व्यापार पर लगाये जाते हैं 'परिमाणात्मक प्रतिबन्ध' कहलाते हैं। इनका प्रत्यक्ष प्रभाव यह है कि एक दी हुई अवधि के

भीतर एक निश्चित परिमाण से अधिक वस्तु आयात नहीं की जा सकती है। परिमाणात्मक प्रतिबन्ध लगाने वाले देश प्रायः निम्न प्रणालियाँ अपनाते हैं :—

(अ) लाइसेंस कोटा प्रणाली—इस प्रणाली के अन्तर्गत सरकार कुछ गिने चुने व्यापारियों को ही वस्तुओं के आयात करने की आज्ञा (लाइसेंस) देती है। ये व्यापारी भी केवल वही वस्तुयें तथा इनकी वही मात्रा मंगा सकते हैं, जिसकी अनुमति सरकार ने दी है। किस वस्तु को तथा कितनी मात्रा में आयात करना चाहिये इसका निर्णय सरकार देश की परिस्थितियों के संदर्भ में करती है।

(ब) एकपक्षीय कोटा प्रणाली— इस प्रणाली (Unilateral Quota System) में देश अपने आयातों पर ही प्रतिबन्ध लगाता है। यह प्रतिबन्ध दो तरह का होता है—(i) **सांसारिक कोटा (Global Quota)**, जिसमें सरकार प्रत्येक आयात वस्तु की अधिकतम मात्रा निश्चित कर देता है और इसे किसी देश से मँगाया जा सकता है है तथा, (ii) **विभाजन कोटा (Allocated Quota)**, जिसमें सरकार द्वारा निश्चित अधिकतम मात्रा को केवल उन्हीं देशों से और उतनी ही मात्राओं में मंगाया जा सकता है, जिसे सरकार ने तय किया है।

(स) द्विपक्षीय कोटा प्रणाली—इस प्रणाली (Bilateral Quota System) में सरकार केवल एक निश्चित मात्रा तक ही किसी देश से आयात करने की आज्ञा देती है और आवश्यकताओं को इस सम्बन्ध में रियायती आयात-कर ही चुकाने पड़ते हैं। परन्तु उक्त मात्रा से अधिक आयात करने पर आयातकर्त्ताओं को दण्डस्वरूप अधिक आयात-कर देना पड़ता है।

द्वितीय महायुद्ध-काल में तथा इसके बाद कोटा-प्रणाली प्रत्येक देश में बहुत लोकप्रिय हो गई है। इसके विभिन्न लाभ निम्नलिखित हैं :— इस प्रणाली के अन्तर्गत अन्य देशों के साथ लाभप्रद व्यापारिक सौदे किये जा सकते हैं। (ii) इस प्रणाली में पर्याप्त लचक होती है तथा आवश्यकतानुसार संशोधन किया जा सकता है। (iii) यह पक्षपात की नीति को अनावश्यक बना देती है तथा आयात कर की भाँति इस प्रणाली का विरोध नहीं होता। (iv) वस्तुओं के आयात की मात्रा निश्चित हो जाने से स्वदेशी उत्पादक अपने उत्पादन का भी सुव्यवस्थित नियोजन कर सकते हैं। **कोटा प्रणाली के निम्न दोष भी हैं**—(i) सरकार की आय कम हो जाती है। यह कमी आयात करों द्वारा लाई जाने वाली कमी की अपेक्षा अधिक होती है। (ii) देश में आयातित वस्तुओं के मूल्य अस्थिर रहते हैं। कारण, जब आयात खुल जाता है, तो वस्तुओं के मूल्य कम और जब आयात बन्द हो जाता है, तो मूल्य अधिक हो जाते हैं। मूल्यों की इस घटा-बढ़ी के कारण व्यापारी तो लाभ उठाते हैं किन्तु सरकार को जिसे कोटा प्रणाली की व्यवस्था पर खर्च करना पड़ता है, कम आय होती है। (iii) कोटा प्रणाली से सम्बन्धित अधिकारियों में भ्रष्टाचार पनपता है, क्योंकि उनके हाथों में अधिक शक्ति आ जाती है। (iv) विदेशों में वस्तुओं के मूल्य कम होने पर

भी देशी उपभोक्ताओं को इससे लाभ नहीं होता है। यह दोष आयात करों में नहीं पाया जाता है।

भारत सरकार ने कोटा प्रणाली को अपनाया है। वह हर छठे महीने अपनी आयात-नीति (Import Policy) घोषित करती है इस नीति-घोषणा में यह बताया जाता है कि अगले छह महीनों में किन-किन वस्तुओं का, कितनी-कितनी मात्रा और किन-किन देशों से आयात किया जा सकेगा। कोटा-प्रणाली का प्रयोग प्रायः विनिमय नियंत्रण की नीति के पूरक के रूप में करने से यह बहुत प्रभावशाली बन जाती है।

(V) **विनिमय नियन्त्रण (Exchange Restrictions)**—विनिमय नियन्त्रण की रीतियों का विकास महान् मन्दी के समय में हुआ। सन् 1930 की महान् मन्दी के काल में अनेक देशों ने विदेशी विनिमय कोषों की नितान्त कमी अनुभव की तथा उन्होंने विदेशी विनिमय के क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण लगाना अति आवश्यक समझा। अब तो विनिमय नियन्त्रण की रीतियां आयातों को प्रतिबन्धित करने की विधि के रूप में भी बहुत प्रभावशाली मानी जाने लगी हैं। न केवल विदेशी मुद्रा कोष ही सुरक्षित रहता है वरन् विदेशी वस्तुओं को भी देश के बाहर रखने में सहायता मिलती है। इन रीतियों का राजनैतिक प्रभाव भी होता है।

यद्यपि विनिमय नियन्त्रण के स्पष्ट लाभ व्यापार को प्रतिबन्धित करने में दृष्टिगोचर होते हैं तथापि यह अनुभव किया जाता है कि इनके कारण उत्पादन एवं व्यापार की रचना का स्वरूप बिगड़ जाता है तथा भ्रष्टाचार व मनमानी नीति को बढ़ावा मिलता है।

☞ Q. 41 State the direct and indirect effects of a particular import duty upon the price and sale of the commodity.

वस्तु के मूल्य एवं विक्रय पर आयात-कर के प्रभाव

(I) मूल्य एवं विक्रय पर प्रत्यक्ष प्रभाव :

किसी आयात-कर का पहला प्रभाव यह है कि विदेशी विक्रेताओं को अपनी वस्तुओं के लिये जो मूल्य प्राप्त होता है वह पूर्व-मूल्य की अपेक्षा ड्यूटी की रकम से कम होगा। आयात कर के निम्न प्रत्यक्ष प्रभाव होते हैं :—

(1) जबकि स्वदेशी माँग इतनी अधिक गिर जाय या स्वदेशी पूर्ति इतनी बढ़ जाय कि सम्बन्धित वस्तु का आयात करने की आवश्यता नहीं रहे, तो जो वस्तु पहले आयात की जाती थी उस पर आयात-कर लगाने से स्वदेश और विदेश के मूल्यों में ठीक ड्यूटी की राशि के बराबर अन्तर होगा। यदि यह अन्तर अधिक हुआ, तो आयात प्रोत्साहित होंगे और यदि कम हुआ, तो आयातकों को हानि होगी, जिससे आयात घटेंगे। मूल्यों में यह अन्तर प्रायः स्वदेशी मूल्य बढ़ने तथा विदेशी मूल्य घटने के कारण उदय होता है।

(2) स्वदेशी पूर्ति जितना अधिक और ज्यादा लोचदार होगी, आयात-कर लगाने वाले देश में (अन्य बातों के समान रहने पर) मूल्य उतना ही कम बढ़ेगा, और इसलिये, विदेश में अधिक गिरेगा। अत: ऐसी वस्तु पर आयात-कर लगाने से जोकि आयात-कर लगाने वाले देश में उत्पन्न नहीं की जा सकती है, मूल्य तब की अपेक्षा अधिक बढ़ेगा जबकि आयात-कर उस वस्तु पर लगाया जाता जिसका उत्पादन देश के अन्दर किया जा सकता है। स्वदेशी पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी उतना ही मूल्य विदेशों में गिरेगा, क्योंकि ड्यूटी लगने से अपना कुछ निर्यात बाजार छिन जाने के कारण विदेशी उत्पादक अपने ही देश के बाजार पर निर्भर हो जायेंगे; फलत: वहाँ मूल्य कम हो जायेगा।

(3) इन्हीं कारणों से, विदेशी पूर्ति जितना थोड़ी और कम लोचदार होगी, आयात करने वाले देश में स्वदेशी मूल्य उतना ही कम बढ़ेगा, तथा, इसलिये, विदेशी मूल्य उतना ही अधिक घटेंगे। यदि विदेशी उत्पादन कम होता है अथवा मूल्य घटने के परिणामस्वरूप, धीरे-धीरे कम होता है (जैसे तब जबकि वह स्थिर पूँजी का प्रयोग करता हो, जिसे अन्य कार्य में स्तैमाल नहीं किया जा सकता), तो विदेशी उत्पादक उस मूल्य की अपेक्षा कहीं कम मूल्य पर ही बेचने के लिये विवश हो जायेंगे, जिस पर वे तब बेचते जबकि उनके लिये दूसरे प्रकार का उत्पादन करना संभव होता। ध्यान रहे कि पूर्ति की लोच दीर्घकाल की अपेक्षा अल्पकाल में सदा कम होती है।

(4) यदि आयात करने वाले देश की माँग बहुत है और अधिक लोचदार है, तो वहाँ मूल्य कम बढ़ेंगे, और, इसलिये, निर्यात करने वाले देश में अधिक बढ़ेंगे। यदि मूल्य में वृद्धि होने के प्रत्युत्तर में आयात करने वाले देश में माँग बहुत गिर जाय, तो स्वदेशी उत्पादन वहाँ इतना अधिक नहीं बढ़ेगा और, इसलिये, उसकी लागतें इतनी अधिक नहीं बढ़ेंगी। किन्तु, दूसरी ओर, विदेशी उत्पादन कम हो जायेगा तथा उसका पूर्ति-मूल्य भी घट जायेगा।

(5) यदि विदेशी देश की माँग अधिक है और ज्यादा लोचदार है, तो आयात करने वाले देश में मूल्य अधिक बढ़ेगा, और, इसलिये, निर्यात करने वाले देश में कम गिरेगा। कारण यह है कि ऐसी दशा में विदेशी पूर्ति का वह भाग जिसे आयात-कर द्वारा रोक दिया गया है स्वयं विदेशी देश में ही अधिक सरलता से खप जायेगा और इससे संरक्षित बाजार पर दबाव कम हो जायेगा।

उक्त प्रभावों से यह नियम बनाया जा सकता है कि निर्यात करने वाले देश के उत्पादन की तुलना में आयात जितना कम होगा और आयात करने वाले देश के उत्पादन की तुलना में आयात जितना अधिक होगा, आयात-कर के फलस्वरूप मूल्य उतना ही अधिक बढ़ेगा।

(II) आयात करों के अप्रत्यक्ष प्रभाव :

आयात-करों के उपरोक्त प्रत्यक्ष प्रभावों के साथ-साथ हमें बहुत महत्त्वपूर्ण अप्रत्यक्ष प्रभावों को भी विचार में लेना चाहिये। ये अप्रत्यक्ष प्रभाव निम्नलिखित हैं—

(1) मांग के प्रवाह का विस्थापन (Displacement of the stream of Demand) :—यदि ड्यूटी से सम्बन्धित वस्तु की मांग की लोच यूनिटी के बराबर है, तो क्रेतागण उस पर उतना ही व्यय करेंगे जितना कि पहले करते थे लेकिन अन्य वस्तुओं के लिये उनकी सापेक्षिक मांगें (Relative demands) बदल सकती हैं। यदि मांग की लोच यूनिटी से कम है, तो ड्यूटी के कारण वस्तु पर अब पहले की अपेक्षा अधिक रकम व्यय की जायेगी, जिससे अन्य वस्तुओं पर व्यय के लिये कम धन बचेगा। यदि मांग की लोच यूनिटी से अधिक है, तो अन्य वस्तुओं के क्रय के लिये मुद्रा मुक्त हो जायेगी।

(2) टैरिफ के प्रभावों का पूर्ण विश्लेषण करने के लिये यह भी आवश्यक है कि उस ढंग को विचार में लिया जाय, जिसमें सरकार ड्यूटी से प्राप्त धन का प्रयोग करती है। आयात-कर के गुण-दोषों पर विचार करते समय इन प्राप्तियों (Receipts) को क्रेडिट पक्ष में ही गिनना चाहिये।

(3) चूंकि आयात-कर निर्यातों को घटाते हैं इसलिये अर्थव्यवस्था की रचना पर उनका गहरा प्रभाव पड़ता है, अर्थात् अर्थव्यवस्था नये साम्य (New Equilibrium) की ओर बढ़ती है।

प्रत्येक आयात-कर के कारण उत्पादन निर्यात-उद्योगों से शिफ्ट होकर उन उद्योगों में बढ़ता है जोकि स्वदेशी बाजार के लिये उत्पादन कर रहे हैं। उत्पादन के साधन भी निर्यात-उद्योगों से हटने लगते हैं। वे या तो उद्योग की उन शाखाओं में लग जायेंगे जोकि आयात करों द्वारा संरक्षित हैं या, यदि ऐसी शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं (जैसे तब, जबकि, ड्यूटी रेवेन्यू बढ़ाने के उद्देश्य से लगाई गई हों) तो वह उन उद्योगों में लग जायेंगे जिनसे उपभोक्ताओं की हटी हुई मांग या सरकार का बढ़ा हुआ व्यय मुड़ता है। यदि अन्य वस्तुओं से मुक्त हुई क्रयशक्ति या ड्यूटी से सरकार को प्राप्त हुई आय अन्य आयातित वस्तुओं की ओर मुड़ जाय, तो कुल आयातों को (एवं इसलिये कुल निर्यातों को भी) घटाने में आयात-करों के प्रभाव निर्बल पड़ सकते हैं तथा असाधारण दशाओं में तो बिल्कुल ही प्रतिकारित (Contracted) हो सकते हैं। इस प्रकार, उक्त असाधारण दशाओं को छोड़कर, प्रत्येक आयात-कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन की सीमा में कमी लाता है तथा

उन बंधनों को कमजोर करता है जोकि विश्व-अर्थव्यवस्था को परस्पर संयुक्त रखे हुये हैं।

जहाँ तक उस मार्ग का सम्बन्ध है जिससे चलकर अर्थव्यवस्था नवीन साम्य की ओर बढ़ती है, वह मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन से प्रभावित होता है। आयात-कर लगाने का भुगतान-संतुलन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। कारण, विदेश से आयात घट जाते हैं, जिससे विदेशी मुद्रा की मांग कम हो जाती है, जबकि उस समय पर उसकी पूर्ति पूर्ववत् रहती है। अतः मौद्रिक एवं विदेशी विनिमय सम्बन्धी यंत्र (Monetary and Foreign Exchange Mechanism) क्रियाशील हो उठता है— करैन्सी का विनिमय मूल्य स्वर्ण-आयात-बिन्दु से नीचे गिर जाता है और स्वर्ण आने लगता है, तथा बढ़ी हुई बैंक साख के रूप में देश में मुद्रा की मात्रा बढ़ने लगती है। संक्षेप में, हल्का मुद्रा प्रसार शुरू हो जाता है, जिसे ड्यूटियों के लगाने से प्रारम्भ हुये पूंजी के आयात के कारण अधिक बल मिलता है। यह उल्लेखनीय है कि उक्त प्रभाव तब ही प्रकट होते हैं जबकि नई ड्यूटी लगाई जाय या पुरानी ड्यूटी को बढ़ाया जाय। विद्यमान ड्यूटी को बनाये रखने मात्र से ये प्रभाव उत्पन्न नहीं होगा। किन्तु आयात-कर हटाने का प्रभाव उल्टा होता है। भुगतान-संतुलन की अनुकूलता कम हो जाती है और मौद्रिक यंत्र (Monetary Mechanism) अब मुद्रा संकुचन के द्वारा नवीन साम्य की स्थापना करने लगता है।

किन्तु, दूसरे देश में (यदि हम केवल दो देशों को विचार में लें) अथवा शेष विश्व में, उपरोक्त क्रियाएँ विपरीत दिशा में होती हैं। यदि यह दूसरा देश स्वयं भी आयात-कर लगाकर प्रथम देश के आयात-कर को संतुलित करदे, तो मुद्रा प्रसार एवं मुद्रा संकुचन एक दूसरे को काट देंगे और इससे उपरोक्त मध्यान्तर प्रभाव (Transitional effects) उदय नहीं हो पायेंगे।

☞ Q. 42. How does import duty affect means of production? Explain clearly.

उत्पादन के साधनों पर आयात-करों का प्रभाव

उत्पादन के साधनों की विशेषताएँ :

उत्पादन के साधनों में हम मूल (Original) एवं उत्पादित (Produced) उच्च एवं निम्न दोनों ही श्रेणियों (Higher and lower grades both) के साधनों को, कच्चे माल व मशीनों आदि को सम्मिलित करते हैं। उत्पादन के प्रत्येक साधन का एक विशेष गुण उसकी पूरकता (Complementarity) है अर्थात् उत्पत्ति का एक साधन सदा ही दूसरे के साथ स्तैमाल किया जाता है और संयुक्त रूप में सब साधनों का एक 'उत्पादक संयोग' (Productive combination) होता है। जब किसी आयात-कर के द्वारा उत्पादन के कम साधन का मूल्य बढ़ाया जाता है, तो

खतरा यह है कि अन्य साधनों की मांग में भी कमी आ सकती है (क्योंकि आयात कर लगने से पूर्व उत्पादक संयोग टूट जाता है)। उत्पादन के साधनों की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी मांग प्रायः बहुत लोचदार होती है, विशेषतः उस दशा में जबकि उनके प्रयोग करने वाले उद्योगों को कटु विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा हो।

आयात-करों का प्रभाव :

उत्पादन के साधन पर प्रत्येक टैरिफ (जो उसके मूल्य को बढ़ा देता है) उत्पादन-क्रिया (जिसमें कि उसका प्रयोग किया जाय) की लागत में वृद्धि कर देता है। इस प्रकार से नुकसान उठाने वाले उद्योग के निर्यातों में कमी आ जाती है। यह संभव है कि उक्त कमी आयातों में हुई कमी के बराबर हो। यदि ऐसा हुआ, तो टैरिफ 'भुगतान संतुलन' पर प्रभाव नहीं डाल सकेगा।

किन्तु यह हो सकता है कि भुगतान-संतुलन में मौद्रिक एवं विनिमय यंत्र की सहायता के बिना ही (अर्थात् निर्यात कम हुए बिना) किन्तु अन्य वस्तुओं के बढ़े हुए आयात द्वारा साम्य बना रहे। उदाहरण के लिये, कपास के सूत पर टैरिफ लगाने से उसका मूल्य इतना अधिक बढ़ सकता है कि वस्त्र-निर्माता विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने में समर्थ न रहें। ऐसी दशा में सूत का आयात तो अवश्य घट जायगा किन्तु संभवतः कपड़े का आयात बढ़ जायगा। इस प्रकार, टैरिफ का मूल उद्देश्य अर्थात् सूत का उत्पादन बढ़ाना पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकेगा।

जिस वस्तु पर ड्यूटी लगाई गई है वह यदि उद्योगों की लागतों का एक महत्वपूर्ण अंग है, तो उत्पादकों द्वारा उसका विरोध किया जा सकता है। ऐसी दशा में उनको कुछ हर्जाना देकर शान्त किया जा सकता है। किन्तु उन्हें क्या हर्जाना दिया जाय, यह इस बात पर निर्भर है कि वे निर्यात के लिये उत्पत्ति कर रहे हैं या स्वदेशी बाजार के लिये। यदि वे निर्यात के लिये उत्पादन कर रहे हैं, तो उन्हें ड्यूटी की रकम लौटा दी जाती है। इसे 'ड्रावैक' (Drawback) कहते हैं। अथवा, यह भी संभव है कि उनसे यह ड्यूटी चार्ज ही न की जाय बशर्ते वे ड्यूटी लगे कच्चे माल का आयात करते समय यह घोषित कर दें कि उसका निर्यात के लिये उत्पादन करने में ही प्रयोग किया जायेगा। यदि उत्पादन स्वदेशी बाजार के लिये किया जा रहा है, तो उन्हें उस वस्तु के आयात पर जोकि वे उत्पन्न करते हैं, समानीकरण ड्यूटी (Equalising Duty) लगाकर हर्जाना दिया जा सकता है। उदाहरण के लिये यदि अनाज पर ड्यूटी बढ़ाई जाय, तो उतनी ही ड्यूटी आटे पर भी बढ़ाई जा सकती है, जिससे कि आटा पीसने (Flour milling) को हानि न उठानी पड़े। इस प्रकार उत्पादन की अगली अवस्थाओं पर ड्यूटी का प्रभाव पड़ने से रोका जा सकता है।

Q. 43. What is dumping ? What are its various forms ? Mention the difficulties in the framing of anti-dumping legislation.

राशिपतन का अर्थ, इसके स्वरूप एवं राशिपतन विरोधी कानून बनाने में कठिनाइयाँ

राशिपतन का अर्थ व स्वभाव :

हैबरलर (Haberler) के शब्दों में "राशिपतन का अभिप्राय प्रायः किसी वस्तु को विदेश में ऐसे मूल्य पर बेचने से लिया जाता है, जो कि उसी वस्तु को उसी समय पर तथा उन्हीं दशाओं के अन्तर्गत स्वदेश में (यातायात-व्यय को विचार में रखते हुए) बेचने के मूल्य से कम हो।"[1] **आर्थिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से, वाइनर (Viner) द्वारा प्रस्तावित निम्न परिभाषा अधिक उचित है** :—"राशिपतन का आशय दो बाजारों में भेद-भाव करने से है।"[2] इस परिभाषा की श्रेष्ठता के तीन कारण हैं:— **प्रथम**, राशिपतन सम्बन्धी नियम सर्वत्र समान ही हैं चाहे यह दो स्वतन्त्र देशों के बीच में हों अथवा एक ही देश के दो क्षेत्रों के मध्य हों। **दूसरे**, इस परिभाषा में 'सुरक्षित राशिपतन' (Reserve Dumping) भी सम्मिलित है, जिसमें विदेशी मूल्य स्वदेशी मूल्य की अपेक्षा ऊँचा रहता है; एवं **तीसरे** मूल्य-विभेद स्वदेश और विदेश के ही मध्य नहीं, वरन् दो विदेशी बाजारों के बीच में भी किया जा सकता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राशिपतन के दो अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग हैं—स्वदेशी मूल्य (Home Price) एवं विदेशी मूल्य (Foreign Price)। इन दोनों मूल्यों की तुलना करके ही राशिपतन का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु, जब स्वदेशी मूल्य से विदेशी मूल्य की तुलना की जाय, तो निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये :—

(1) मूल्य-तुलना का सम्बन्ध उस समय-क्षण से होना चाहिये, जब कि बिक्री का अनुबन्धन किया जाय। यदि मूल्य-तुलना का सम्बन्ध उस समय-क्षण से हो जबकि वस्तुएँ निर्यात करने वाले देश की सीमाओं को वास्तव में पार करती हैं, तो इस बीच स्वदेश का मूल्य बढ़ जाने से राशिपतन-विरोध-नियम उचित रूप से लागू नहीं किये जा सकेंगे।

---

1. The term 'dumping' is now almost universally taken to mean the sale of a good abroad at a price which is lower than the selling price of the same goods at the same time and in the same circumstances (that is under the same conditions of payment and so on) at home, taking account of differences in transport costs.'
(*Haberler : The theory of International Trade, p. 296.*)

2. "Dumping is price discrimination between two countries."
(*Viner : Dumping, A Problem in International Trade.*)

(2) यातायात सम्बन्धी व्ययों को भी विचार में लेना आवश्यक है। यदि निर्यात के लिये बनाया गया 'लागत-बीमा-भाड़ा मूल्य' (C. I. F. Price) स्वदेशी-मूल्य की अपेक्षा यातायात-व्यय की पूर्ण राशि से अधिक नहीं है, तो यह राशिपतन की ही एक दशा कहलायेगी।

(3) सही मूल्य-तुलना के लिये अन्य परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिये जैसे :— निर्यात के लिये विशेष पैकिंग की लागत, भुगतान की शर्तें, अधिक मात्रा में बिक्री के लिये छूट, आदि।

राशिपतन विरोधी संनियम :

राशिपतन का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है जैसे :—विदेशी प्रतिस्पर्धा को समाप्त करना, उत्पादकों का कार्टेल बनाना, आदि। इस प्रकार के अनैतिक एवं समाज-विरोधी उद्देश्यों से राशिपतन करना राशिपतन-विरोधी-संनियम बनाने का उपयुक्त आधार है। किन्तु, यहाँ निम्न कठिनाइयाँ हैं :—

(1) ऐसे विचारों में प्रायः लचक (Flexibility) का अभाव होता है, जिससे विभिन्न प्रकार के राशिपतनों में भेद करना कठिन हो जाता है जबकि एक स्वस्थ राशिपतन-विरोधी-संनियम बनाने के लिये राशिपतन के विभिन्न प्रकारों में भेद करना जरूरी है।

(2) कुछ प्रकार के राशिपतन (जैसे, विनिमय राशिपतन या सामाजिक राशिपतन) निश्चित रूप से हानिकारक होते है जबकि अन्य प्रकार के राशिपतन हानिकारक नहीं होते। समाचार पत्रों में, राजनैतिक भाषणों में तथा स्वार्थी पार्टियों के प्रतिवेदनों में राशिपतन के विरुद्ध बहुत कुछ कहा सुना जाता है किन्तु राशिपतन के नाम पर वास्तव में कुछ ऐसी बातों का विरोध किया जाता है (जैसे तीव्र प्रतिस्पर्धा, दोषपूर्ण ट्रेड मार्कों का प्रयोग, माल का दोषपूर्ण वर्णन देना, कस्टम अफसरों को गलत मूल्य बताना, आदि) जिनके लिये राशिपतन विरोधी कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार, राशिपतन विरोधी कानून बनाने के पूर्व राशिपतन के स्वरूप को भली प्रकार समझ लेना चाहिये और यह निर्णय करना चाहिये कि क्या वास्तव में उसकी रोकथाम के लिये कानून बनाने की आवश्यकता है। इस हेतु राशिपतन के वर्गीकरण पर ध्यान देना अधिक जरूरी है।

राशिपतन के विभिन्न रूप :

राशिपतन के प्रमुख रूप तीन हैं :—(1) आकस्मिक राशिपतन (Sporadic or Occasional Dumping); (2) अल्पकालीन राशिपतन (Short-period or intermittent Dumping); एवं (3) दीर्घकालीन या लगातार राशिपतन (Long period or continuous Dumping)।

(1) आकस्मिक राशिपतन—इस प्रकार का राशिपतन प्रायः बिक्री-मौसम के अन्त में बचे-खुचे माल को निकालने के लिये, (जो कि स्वदेश के बाजारों में बिकने के लगभग अयोग्य है) किया जाता है। यह राशिपतन इतना अस्थाई होता है कि इसके

विरुद्ध कोई कानून बनाना न तो बहुत आवश्यक है और न वांछनीय। जिस देश में इस प्रकार का राशिपतन किया जाय, उसे प्रायः इससे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह औद्योगिक विकास पर बुरा प्रभाव नहीं डालता और साथ ही उपभोक्ताओं के लिये लाभदायक है।

(2) अल्पकालीन राशिपतन—अल्पकालीन राशिपतन तब कहा जाता है जब कि समय-समय पर विदेशों में स्वदेशी मूल्य की अपेक्षा कम मूल्य पर बिक्री की जाय तथा हानि उठाकर की जाय। इस प्रकार का राशिपतन निम्न उद्देश्यों से किया जाता है :—(i) किसी विदेशी बाजार में पैर जमाने के लिये अथवा उसे छिनने से बचाने के लिये; (ii) किसी प्रतिस्पर्धी को नष्ट करने के लिये या उसे अपनी इच्छा के अनुसार चलने के हेतु विवश करने के लिये; (iii) प्रतियोगी संस्थाओं की स्थापना को रोकने के लिये; एवं (iv) दूसरे देशों द्वारा किये जाने वाले राशिपतन से अपनी रक्षा करने के लिये।

अतः अल्पकालीन राशिपतन को रोकने के लिये उस उद्देश्य के अनुसार ही, जिससे कि राशिपतन किया जा रहा है, पीड़ित देश को राशिपतन विरोधी कानून बनाना चाहिये। उदाहरण के लिये, जब राशिपतन प्रतिस्पर्धा को नष्ट करने के लिये किया जाता है तब इसे रोकने के लिये जो कानून बनाया जायगा वह उस कानून से भिन्न होगा जो कि विदेशी बाजार को अधिकार में लाने के हेतु किये जाने वाले राशि-पतन को रोकने के लिये बनाया जाता है।

(3) दीर्घकालीन राशिपतन—यह राशिपतन स्थाई होता है और सम्बन्धित देश द्वारा अपने व्यापार व उद्योग का दीर्घकालीन नियोजन करने के कारण सम्भव होता है। इस प्रकार का राशिपतन प्रायः तब किया जाता है जबकि राशिपतन सम्बन्धी वस्तु उत्पादन वृद्धि नियम के अन्तर्गत उत्पन्न की जा रही हो। इस श्रेणी के अन्तर्गत जर्मन और अमेरिकन लोह एवं स्पात उत्पत्तियों का राशिपतन सम्मिलित कर सकते हैं जो कि विशाल ट्रस्टों और कार्टेलों द्वारा किया गया था। दीर्घकालीन राशिपतन तब भी सम्भव हो सकता है जबकि सरकार राशिपतित वस्तु पर निर्यात-सहायता (Export Bounty) देती हो, क्योंकि ऐसी दिशा में वस्तुओं को विदेश में हानि पर भी बेचा जा सकता है। राशिपतन का यह तीसरा रूप सबसे महत्वपूर्ण है।

दीर्घकालीन राशिपतन को रोकने के लिये पीड़ित देश ऐसी वस्तुओं पर, जिनका राशिपतन किया जा रहा है, ऊँचे आयात-कर लगा सकता है। यदि अत्यधिक (Excessive) राशिपतन किया जाय, तो राशिपतित (Dumped) वस्तुओं के प्रवेश पर रोक लगाई जा सकती है।

स्पष्ट है कि राशिपतन के रूप एवं उद्देश्य को ध्यान में रख कर ही कोई राशिपतन विरोधी नीति निश्चित की जा सकती है और एक ही नीति सब दशाओं में अपनाना अनुचित होगा।

राशिपतन के लिये आवश्यक दशाएं :

राशिपतन की सफलता के लिये दो शर्तें पूरी होना आवश्यक हैं :—

(1) वस्तुओं को स्वदेश में लौटने से रोका जाय—यदि ऐसा न किया गया, तो स्वदेशी उपभोक्ता उन्हें विदेशी बाजार से सस्ता खरीद लेंगे। वस्तुओं को लौटने से रोकने के लिये प्रायः ड्यूटी लगाई जाती है और विदेशी क्रेताओं से यह ठहराव भी किया जा सकता है कि वे उसे पुनः निर्यात करने वाले देश के बाजार को पुनः नहीं बेचेंगे। (दीर्घकालीन राशिपतन की दशा में तो ड्यूटी लगा कर स्वदेशी बाजार की रक्षा की जाती है, किन्तु, आकस्मिक राशिपतन की दशा में स्वदेशी बाजार में क्रेता मिलने की अनिश्चितता ही स्वयं एक प्रभावशील रोक का कार्य करती है)।

(2) स्वदेशी बाजार पर एकाधिकार रहे—इस एकाधिकार के कई रूप हो सकते हैं, जैसे—कोई एक संस्था बाजार को देखते हुए स्वयं ही इतनी बड़ी हो सकती है कि अन्य संस्थाओं को उस बाजार में लाभ सहित प्रवेश का अवसर नहीं रहता, अथवा, उस संस्था के पास उत्पादन-क्रिया से सम्बन्धित कोई गुप्त भेद, पेटेन्ट या अन्य कानूनी अधिकार हो, अथवा जब कई उत्पादक हों, तो यह सम्भव है कि उन्होंने उत्पादित मात्रा को सीमित करने के लिये आपस में कोई ठहराव कर लिया हो या कार्टेल बना लिया हो।

☞ Q. 44. Discuss the nature and forms of dumping and explain the effect of dumping both on exporting and importing countries.

राशिपतन के प्रभाव

राशिपतन का स्वभाव व स्वरूप :

इसके लिये कृपया पिछला प्रश्नोत्तर पढ़िये।

राशिपतन के आर्थिक प्रभाव :

उन देशों द्वारा राशिपतन का कड़ा विरोध किया जाता है, जिनमें वस्तुएं राशिपतित (Dump) की जाती हैं। उदार व्यापार नीति अपनाने वाले देशों को प्रायः इसकी बड़ी शिकायत होती है। कारण यह है कि उन देशों में स्वदेशी उत्पादकों को अपनी उत्पत्ति के लिये संरक्षण प्राप्त करने का अवसर कम होता है तथा वे यह अनुभव करते हैं कि, ड्यूटी के अभाव में, वे स्वयं किसी बड़े पैमाने पर राशिपतन नहीं कर सकते।

(I) आयात करने वाले देश के दृष्टिकोण से विचार :

(1) साधारणतः राशिपतित आयातों (Dumped Imports) के विरुद्ध आवश्यकता से अधिक उत्तेजना प्रकट की जाती है। यदि मान भी लें कि आयात ऐसे मूल्य पर आ रहे हैं जो कि निर्यात करने वाले देश में चार्ज किये गये मूल्य से कम हैं

अथवा उत्पादन लागत से कम हैं, तो इससे आयात करने वाले देश को कुछ हानि नहीं पहुँचेगी, बशर्ते ये सस्ते आयात जारी रहें। जब विदेशी देश की जलवायु सम्बन्धी या अन्य कोई प्राकृतिक लाभ होने के कारण उसके लिये सस्ता निर्यात करना सम्भव होता है, तो सस्ते आयात अनिश्चित समय तक जारी रह सकते हैं किन्तु जब कम मूल्य विदेशी एकाधिकारी की राशिपतन-नीति के कारण हों, तो सस्ते आयात कभी भी बन्द हो सकते हैं, क्योंकि उसकी नीति चाहे जब परिवर्तित हो सकती है।

(2) **राशिपतन तब हानिकारक होता है जबकि वह 'दौरों' (Spasms) के रूप में हो और प्रत्येक 'दौरे' की अवधि इतनी पर्याप्त हो कि आयातक देश में 'उत्पादन का बदलाव' (Shifting of Production) संभव है।** एक दौरा समाप्त होने पर जब सस्ते आयात रुक जाते है तो उत्पादन व्यवस्था फिर पलटनी पड़ती है। अतः रुक-रुक कर किया गया ऐसा राशिपतन आयातक देश के लिये बहुत ही हानिकार होता है, चाहे देश में कोई प्रतिस्पर्धी उद्योग हो या न हो क्योंकि, इसके कारण पहले तो एक ऐसे उद्योग की स्थापना हो जाती है जो कि सस्ती आयातित वस्तुएँ प्रयोग करता है तथा फिर आयात रुकने पर वह उद्योग समाप्त हो जाता है। यदि राशिपतन की वस्तुएँ 'उपभोक्ता माल' (Consumers' Goods) हैं तो राशिपतन के कारण 'मांग में बदलाव' (Shifting of Demand) होगा, जिसे बाद में फिर 'उल्टा' (Reverse) करना पड़ेगा। अतः यह भी हानि पहुंचाने वाली बात है।

(3) **'गला-काट राशिपतन' (Cut Throat Dumping) भी हानिकारक होता है,** क्योंकि इसका उद्देश्य प्रतिस्पर्धियों को समाप्त करके उच्च एकाधिकारी मूल्य चार्ज करना है। उदाहरण के लिये, 'मैच ट्रस्ट लिमिटेड' ने बहुत ही कम मूल्यों पर माल बेचना प्रारम्भ कर दिया था, जिससे वह अपने प्रतिस्पर्धियों को समाप्त करके आयातक देश को अपने एकाधिकार क्षेत्र में सम्मिलित करले। लेकिन, व्यवहार में, ऐसा राशिपतन कभी-कभी किया जाता है, क्योंकि ऐसा मूल्य-युद्ध बहुत खर्चीला होता है और साथ ही इस बात की आशंका भी रहती है कि कानूनी हस्तक्षेप द्वारा एकाधिकारी को अपनी मँहगी विजय के सुफल का आनन्द उठाने से वंचित कर दिया जाय।

(II) निर्यात करने वाले देश के दृष्टिकोण से विचार :

अब हम निर्यात करने वाले देश के दृष्टिकोण से राशिपतन के प्रभावों की चर्चा करेंगे :

प्रायः राशिपतन करने वाली संस्थाएँ अपनी कार्यवाही को इस व्यापारवादी तर्क के आधार पर उचित ठहराने का प्रयास करती हैं कि राशिपतन देश के लिये लाभदायक है, क्योंकि इससे निर्यात बढ़ने से देश में द्रव्य (Money) आता है। किन्तु वर्तमान युग में इस तर्क में कोई सार नहीं है।

(2) यदि स्वदेशी बाजार पर एकाधिकार होने के कारण, राशिपतन करना संभव हुआ है, तो **राशिपतन तब लाभदायक कहा जा सकता है जबकि इससे स्वदेशी**

उपभोक्ताओं के लिये वस्तुओं के मूल्य घट जाएँ, और, ऐसा तब संभव है जबकि सीमान्त लागतें (Marginal Costs) गिर रही हों।

(3) प्रत्येक निर्यात-वस्तु का स्वदेशी मूल्य बढ़ने लगता है अतः चाहे राशिपतन किया जाय या नहीं किसी ठोस निर्णय पर पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि हम उपभोक्ताओं को बढ़े हुए मूल्य की तुलना उत्पादकों के बढ़े हुये लाभ से करें। वाइनर का विश्वास है कि उक्त पहली राशि दूसरी राशि मे सदा अधिक ही होती है जब ऐसा हो, तो, स्वदेशी मूल्य बढ़ने पर, राशिपतन को हानिकारक समझना चाहिये।

(4) **निर्यात करने वाले देश के दृष्टिकोण से 'उत्पादक वस्तुओं' का राशिपतन विशेष महत्वपूर्ण है।** उदाहरण के लिये, जब जर्मनी ने स्वदेशी मूल्य से 50% कम मूल्य पर हालैंड व इङ्गलैंड में लोहा व स्पात का राशिपतन किया, तो आयात करने वाले देशों में लोहा एवं स्पात प्रयोग करने वाले उद्योगों को बहुत लाभ हुआ। 'डच शिप बिल्डिंग इन्डस्ट्री' तो प्रत्यक्ष रूप से जर्मनी के राशिपतित स्टील पर ही जीवित थी।

किन्तु स्वयं जर्मनी में लोहे व स्पात का प्रयोग करने वाले सब उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्धियों को इन पदार्थों की सस्ती बिक्री के कारण बहुत नुकसान उठाने के लिये बाध्य हुए। इस हानि को पूरा करने के लिए दो उपाय किये जा सकते हैं :—(i) स्वदेशी एकाधिकारिक मूल्य उन वस्तुओं के सम्बन्ध में कम कर दिया जाय, जिनको एक अधिक तैयार माल (Finished Goods) में बदलना है। तथा (ii) तैयार माल के उद्योगों के लिये समान ड्यूटी (Equalising Duty) के द्वारा स्वदेशी बाजार सुरक्षित कर दिया जाय।

जहाँ तक निर्यात की सहायता के लिये एकाधिकारी मूल्य को कम करने का प्रश्न है, उसका तो स्वागत है। लेकिन जब निर्यात-सहायता (Export Bounty) दी जाती है, तो यह स्वागत योग्य है या नहीं, इसके सम्बन्ध में निर्णय देने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिए कि क्या स्वदेश में अत्यधिक ऊँचा एकाधिकारी मूल्य होना अनिवार्य है। यदि ऐसा है, तो अधिक विवेकसंगत यह होगा कि ड्यूटी लगा कर स्वदेशी तैयार माल के उद्योगों का विकास करने के बजाय विदेशों से सस्ता तैयार माल खरीदा जाय।[1] साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि एकाधिकारी के लिए इतना ऊँचा मूल्य चार्ज करना लाभदायक न होगा जो कि उसके ग्राहकों (तैयार माल के उद्योगों) को लड़खड़ा दे।

निष्कर्ष :—निष्कर्ष के रूप में, हम मेयर (Mayer) के इस कथन से सहमत हैं कि "राशिपतन (अर्थात् विदेश में सस्ती बिक्री) इतना हानिकारक नहीं है जितना कि स्वदेशी बाजार पर एकाधिपत्य होना, क्योंकि एकाधिकार के अन्तर्गत स्वदेश में मूल्य ऊँचे हो जाते हैं। अतः यदि किसी स्वदेशी बाजार में एकाधिकार पहले से ही विद्यमान है, तो फिर राशिपतन का आगमन होना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह हानिकारक भी हो सकता है तथा लाभदायक भी।

☞ Q. 45. What is 'Exchange Dumping'? How far has it been desirable? In this connection outline the steps taken by the I. M. F. to control it.

विनिमय-राशिपतन (Exchange Dumping)

'विनिमय' राशिपतन से आशय :

जब कोई देश अन्य देशों में विदेशी विनिमय का राशिपतन करता है तो इसे विनिमय-राशिपतन' कहते हैं। यह वास्तविक 'राशिपतन' नहीं है, क्योंकि इसके अन्तर्गत मूल्य विभेद नहीं होता। 'वस्तुओं के राशिपतन' से इसका भेद करने के लिये इसे 'छिपा राशिपतन' (Disguised Dumping) या 'अप्रत्यक्ष राशिपतन' (Indirect Dumping) कहना उचित होगा। 'विनिमय राशिपतन' के अन्तर्गत एक देश अपनी गृह-करैन्सी (Home currency) का विनिमय मूल्य जान-बूझ कर घटा देता है, जिससे विदेशी मुद्रा में गृह-मुद्रा बहुत सस्ती हो जाती है। फल यह होता है कि विदेशियों के लिये उस देश का माल सस्ता पड़ने लगता है, जिससे उसके निर्यात प्रोत्साहित होते हैं।

विनिमय राशिपतन का ऐतिहासिक विवेचन :

विनिमय-राशिपतन की टेक्नीक सर्वप्रथम जर्मनी, आस्ट्रिया एवं मध्य यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों द्वारा प्रयोग की गई थी। उनका उद्देश्य निर्यात बढ़ा कर और आयातों को सीमित रखकर अपने भुगतान संतुलन की विषमता का सुधार करना था। इनके बाद अन्य देशों ने भी इस टेक्नीक का प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ कि विश्व में विनिमय राशिपतन एवं बहुमुखी विनिमय-दर-प्रथाओं की एक बाढ़-सी आ गई। प्रत्येक देश दूसरे देशों की विनिमय-राशिपतन कार्यवाहियों का सामना करने के लिए अनेक विनिमय-प्रतिबन्ध लगाता था। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक देश स्वार्थपूर्ण नीति (Beggar my neighbour Policy) अपना रहा था।

विनिमय-राशिपतन की प्रथा सम्पूर्ण अन्तर-युद्धकालीन अवधि में निर्बाध चलती रही। वास्तव में एक बार प्रारम्भ हो जाने पर इसका अन्त होना कठिन हो गया था। किन्तु, द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते ही, इस प्रथा पर एकाएक रोक लग गई, क्योंकि तब सब देशों का ध्यान आयात-निर्यातों की चिन्ता से हटकर अपनी सैनिक हलचलों पर लग गया।

---

2. "Dumping (that is cheap foreign sales) is nothing like so harmful as the monopolisation of the home market and the consequently higher home price which is bound up with it. Given the existence of a monopoly in the home market, the advent of dumping is of relatively minor significance and may equally well be either beneficial or harmful." (Mayer, Quoted by Haberler in The Theory of International Trade, p. 317)

युद्धोत्तरकाल में सहयोग की भावना का विकास :

युद्ध की समाप्ति के वर्षों में यह सोचा जाने लगा था कि युद्धपूर्व मंदी की अवधि में जो समाज विरोधी एवं संकुचित आर्थिक नीतियाँ प्रचलित हो गई थीं वे कहीं फिर (अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किसी संगठित प्रयास के अभाव में) प्रकट होकर विश्व को उस पुरानी मुसीबत में न डाल दें, जिसकी याद उसे अभी तक ताजी है। इसके अति-रिक्त, कुछ नई घटनाएं भी आ गई थीं, जिन पर ध्यान देना जरूरी था। पुराने लेन-दार देश देनदार और पुराने देनदार देश लेनदार बन गये थे। इटली, नाजी जर्मनी तथा अन्य देशों पर युद्ध-हर्जाने के भुगतान का भार आ गया था, युद्ध-जर्जरित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण की भी आवश्यकता थी, इङ्गलैंड की आर्थिक शक्ति दुर्बल पड़ गई थी तथा एक सर्व-शक्तिशाली आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति के रूप में अमेरिका विश्व के चित्रपट पर आया।

प्रायः सभी देश (विशेषतः युद्ध की ज्वाला से पीड़ित देश) शान्ति के इच्छुक थे। किन्तु राजनैतिक शान्ति के स्थाई हल के लिये पहली शर्त यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के लिये यह जरूरी था कि विनिमय-राशिपतन जैसे अहितकर कार्य कलापों पर रोक लगाई जाय। अतः इङ्गलैंड, अमेरिका आदि देशों के प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्रियों द्वारा इस बात की अपील की गई कि विश्व के नेता मिलकर कोई ऐसी व्यवस्था बनायें, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़े। फलस्वरूप कई अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए, जिनके कारण अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व-बैंक की स्थापना हुई।

विनिमय राशिपतन पर अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का नियन्त्रण :

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का एक सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक उद्देश्य 'विनिमय-राशि पतन' पर रोक लगाना है। कोष के सदस्य देशों के लिये यह नियम बना दिया गया है कि वे ऐसी कार्यवाहियाँ न करें जिनसे विश्व की आर्थिक समृद्धि को तथा स्वतन्त्र विश्व-व्यापार के हितों को चोट पहुँचे। जब कोई देश अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करना चाहे तो उसे कोष की अनुमति लेनी पड़ती है। कोष पहले उसकी नीति का सावधानी से अध्ययन करता है। यदि कोई देश अपने भुगतान संतुलन की अस्थाई असाम्यता को दूर करने के लिये विनिमय-राशिपतन करना चाहता है, तो कोष उसे अस्थाई कठिनाइयों पर विजय पाने के लिये वित्तीय सहायता देता है। इससे उस देश को राहत मिलती है। वह अन्य सामान्य तथा सरल ढङ्गों से निर्यात बढ़ा कर तथा आयात घटा कर अपने भुगतान-संतुलन को सुधारने का प्रयास करता है और राशिपतन की नीति, जिसे अन्य देशों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, अनावश्यक रूप से नहीं अपनाता।

यदि कोई देश भुगतान-संतुलन की विषमता को सुधारने के लिये नहीं, वरन् अन्य देशों के आर्थिक अधिकारों और व्यापारों का अतिक्रमण करने के इरादे से 'विनिमय-राशिपतन' करता है, तो कोष पहले तो उस देश को चेतावनी देता है तथा फिर अपनी सदस्यता से एवं अन्य लाभों से भी वंचित कर देता है। किसी अकेले देश के लिये चाहे वह कितना ही बड़ा हो शेष विश्व के बहिष्कार का दीर्घकाल तक मुका-

बला करना संभव नहीं है। अतः वह कोष के आदेशों का यथाशक्ति पालन करता है। इस प्रकार, विनिमय-राशिपतन को रोकने का एकमात्र प्रभावशाली उपाय इस विश्व-संस्था को मजबूत बनाना है।

☞ **Q. 46. "The tariff is the Mother of Trusts". Discuss. How far can the International Monopolies of Raw Materials be a success ?**

टैरिफों से ट्रस्टों का जन्म ; कच्चे माल के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकार

टैरिफों से ट्रस्टों का जन्म :

अमेरिका के चीनी उद्योगपति हेवनमेयर (**Havenmeyer**) ने सन् 1900 के औद्योगिक कमीशन के सामने साक्षी देते हुए यह कहा था कि "टैरिफ ही ट्रस्टों की जननी है" प्रत्येक कार्टेल और प्रत्येक ट्रस्ट का जन्म टैरिफ से बताना तो संभवतः एक अतिशयोक्ति है परन्तु यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि अनेक कार्टेल्स टैरिफ के संरक्षण के कारण ही जीवित हैं। यदि समस्त टैरिफ हटा लिये जायें, तो अनेक कार्टेल टूट जायेंगे अथवा उनकी शक्ति समाप्त हो जायगी, क्योंकि टैरिफ के अभाव में प्रत्येक उत्पादक को केवल यातायात-व्ययों का ही प्राकृतिक संरक्षण रहेगा। जैसे ही उसका मूल्य उस स्तर से अधिक हो जाता है, जिस पर विदेशी उत्पादक उसके देश में लाभ सहित बिक्री कर सकते हैं, वैसे ही वे ऐसा करना आरम्भ कर देते हैं। इससे स्वदेशी उत्पादक की शक्ति घट जाती है। अनुभवों से भी उक्त मत की ही पुष्टि होती है।

उदाहरण के लिये, यूरोपीय देशों की अपेक्षा इङ्गलैंड में कार्टेलों का विकास कम हुआ। इसके दो प्रधान कारण थे :—प्रथम तो यह कि अंग्रेज साहसी प्रायः व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के होते हैं, और दूसरे, वहां संरक्षणात्मक टैरिफों का भी अभाव था। किन्तु, इसके विपरीत, जर्मनी ने सन् 1879 में संरक्षण को अपनाया, और, तब से वहां कार्टेलों की असामान्य वृद्धि हो गई।

उस सामान्य नियम (कि एकाधिकारी संघों का उदय टैरिफों के कारण होता है) के दो प्रकार के अपवाद हैं :—प्रथम, स्थानीय एकाधिकारी संघ (Local Monopolies), जिनकी रक्षा यातायात-व्ययों द्वारा होती है, और दूसरे, अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघ (International Monopolies)। अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघों में कुछ बहुत बड़े और कुछ छोटे होते हैं। एक बड़े अन्तर्राष्ट्रीय संघ के हाथ में किसी वस्तु की कुल विश्व-पूर्ति का नियन्त्रण होता है जबकि एक छोटे अन्तर्राष्ट्रीय संघ के हाथ में कम से कम इतनी पूर्ति का नियन्त्रण तो होता ही है कि वह बाजार-मूल्य पर अपना प्रभाव डाल सके।

अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघों के दो वर्ग ऐसे हैं, जिनमें भेद करना जरूरी है, क्योंकि प्रत्येक वर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघों की पृथक्-पृथक् समस्यायें हैं । ये वर्ग निम्न हैं :—(I) कच्चे माल के एकाधिकारी संघ (International Monopolies of Raw Materials) एवं (II) अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल्स (International Cartels) ।

कच्चे माल के एकाधिकारी संघ :

कच्चे माल के अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघ प्रायः सदा ही कच्चे मालों के नियन्त्रण पर आधारित होते है किन्तु केवल यह बात कि एक विशेष प्रकार के कच्चे माल की पूर्ति के स्रोत पूर्णतः या अधिकांशतः एक ही सरकार के क्षेत्र में केन्द्रित हैं, सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय एकाधिकारी संघ को शेष विश्व (अर्थात् अन्य देशों के उपभोक्ताओं) का शोषण करने की सामर्थ्य प्रदान नहीं करती । ऐसा शोषण तो तब ही सम्भव है जबकि उत्पादक गण किसी प्रकार से उत्पादन और पूर्ति को सीमित रखने के उद्देश्य से संगठित हो जायें । पहली शर्त की पूर्ति प्रायः कृषि-उपज या खनिजों के सम्बन्ध में देखी जाती है । किन्तु, इनका उत्पादन इनी-गिनी बड़ी फर्मों द्वारा न होकर अनेक छोटी-छोटी फर्मों द्वारा किया जाता है, जिससे एक संगठित एकाधिकार को जन्म देने व पूर्ति को सीमित रखने के लिये प्रायः सदा ही सरकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है । आधुनिक वर्षों में जिन बीस प्रकार के कच्चे मालों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण अस्थाई रूप से सफल हुआ, उनमें से केवल दो की दशा में ही सरकार का कोई हस्तक्षेप न था ।

सरकारी हस्तक्षेप निम्न किसी भी कारण से हो सकता है—(i) सरकारी आय बढ़ाने के लिये; (ii) मूल्यों में स्थायित्व रखने के लिये; (iii) कच्चे माल का प्रयोग करने वाले उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के लिये; (iv) विदेशी उपभोक्ताओं के साथ पक्षपात करने के लिये; एवं (v) उत्पादन की अत्यधिक तेज रफ्तार को रोक कर कच्चे माल के प्रसाधनों का मितव्ययता से प्रयोग करने करने के लिये ।

साधारणतः **कच्चे मालों पर एकाधिकार स्थापित करने के प्रयास अधिक सफल नहीं हुए हैं** । कुछ समय के लिये तो वे उत्पादकों को लाभप्रद होते हैं लेकिन दीर्घकाल में इनसे उत्पादकों को प्रायः हानि अधिक होती है । सम्पूर्ण विश्व-अर्थव्यवस्था (World Economy) के दृष्टिकोण से भी कच्चे माल के एकाधिकारी संघों का अधिक महत्व नहीं है, क्योंकि वे अधिक समय तक कायम नहीं रह सकते । या तो कुल पूर्ति को, बाहरी देशों में उत्पत्ति का विकास होने से, स्थाई रूप से प्रतिबन्धित रखना असम्भव हो जाता है या टेक्नीकल प्रगति के फलस्वरूप स्थानापन्नों का प्रचलन हो जाता है, जिससे एकाधिकृत वस्तु से प्रतिस्पर्द्धा बढ़ जाती है ।

Q. 47. Define an international cartel. To what extent do the international cartels hamper the free flow of international Trade ?

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल की परिभाषा तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर इनका प्रभाव

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल से आशय :

कार्टेल्स सर्व प्रथम जर्मनी और अमेरिका में जन्मे एवं तत्पश्चात् विश्व के अन्य देशों में भी प्रकट हुए। किन्तु ये कार्टेल हैं क्या ? 'कार्टेल' (Cartel) शब्द की अनेक परिभाषायें दी गई हैं। **प्रो० हैबरलर ने अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों की परिभाषा निम्न प्रकार से की है**—किसी उद्योग विशेष में अधिक से अधिक देशों के उत्पादकों के एक ऐसे संगठन को अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल कहते हैं, जिनका उद्देश्य उत्पादन एवं मूल्य पर एकसूत्रीय नियन्त्रण रखना तथा बाजारों को विभिन्न उत्पादक देशों के मध्य बाँटना हो।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के बारे में विशेषतः प्रथम महायुद्ध के बाद अपने आर्थिक सम्मेलनों में बड़ी चर्चा हुई है और विभिन्न देशों के अर्थशास्त्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये गये हैं। किसी निष्कर्ष पर पहुंचने के लिये यह आवश्यक है कि पहले अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के क्षेत्र एवं महत्व की जानकारी कर ली जाय।

इस सम्बन्ध में सर्व प्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि कार्टेलों की स्थापना करना कोई सहज बात नहीं है क्योंकि विभिन्न उत्पादकों का किसी सर्वसम्मत निष्कर्ष पर पहुंचना और उस पर कायम रहना प्रायः कठिन ही है। जब भाग लेने वाले देशों की संख्या बहुत अधिक हो तब तो यह कठिनाई ज्यामितिक अनुपात में बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल भी जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों को आधार प्रदान करते हैं, विभिन्न देशों में समान रूप से विकसित नहीं हो सके हैं। वास्तव में एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल की शक्ति इस बात पर निर्भर होती है कि उसमें शामिल होने वाले किसी देश का कार्टेल निर्बल तो नहीं है। चूंकि इंगलैंड में कार्टेल अन्य देशों की अपेक्षा कम विकसित हुए, इसलिये वह अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों का सदस्य नहीं बना, जिससे इन अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों की शक्ति कम रह गई।

मूल्य को किसी पर्याप्त अवधि तक ऊंचा रखने में कार्टेल तभी सफल हो सकते हैं जब कि उनका उत्पादन पर कुछ-कुछ नियन्त्रण अवश्य हो और उत्पादन पर

---

1. "International cartels refers to uniting the producers in a given branch of industry, of as many countries as possible into an organisation to exercise a single planned control over production and price and possibly to divide markets between the different producing countries." (Haberler : The Theory of International Trade, P. 328.)

नियन्त्रण तब ही सम्भव है जब कि उत्पत्ति बहुत अधिक विभिन्न उत्पादकों द्वारा न की जाती हो। इस दृष्टि से कृषि कार्टेल तो असम्भव ही हैं।

इसी प्रकार, ऐसा प्रत्येक उद्योग भी कार्टेलों की स्थापना के लिये एक उपयुक्त क्षेत्र नहीं है, जिसमें अधिकांश उत्पत्ति लघु या मध्यम आकार की फर्मों द्वारा की जाती हो। इस दृष्टि से व्यक्तिगत दस्तकारी, डिजायन, रुचि व फैशन से सम्बन्धित समस्त उद्योग कार्टेलों के लिये अनुपयुक्त है।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर कार्टेलों की स्थापना के लिये उद्योगों के निम्न वर्ग बहुत उपयुक्त हैं :—

(1) वे उद्योग जो कच्चे मालों पर बहुत निर्भर हैं तथा कच्चे माल की पूर्तियों के कड़े नियन्त्रण द्वारा बाहरी लोगों के प्रवेश को रोकने में समर्थ हैं।

(2) पेटेन्टों का लाभ उठाने वाले उद्योग।

(3) वे उद्योग जिनमें महानुभाव संस्थाओं के लाभ सबसे अधिक हैं जिससे उत्पादन-क्रिया सबसे अधिक केन्द्रित रूप में की जाती है। जैसे कि लोह एवं स्पात उद्योग में। अनुकूलतम आकार की संस्था स्थापित करने लायक पूंजी जुटाने की कठिनाई के कारण नये प्रवेशक हिच-किचाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों का प्रभाव :

फ्रान्स के अर्थशास्त्रियों का मत था कि उद्योग की अधिक से अधिक शाखाओं में (उत्पादन पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण रखने अर्थात् स्वतंत्र प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिये) कार्टेलों के बन जाने पर ही टैरिफों में सामान्य कमी आ सकती है। संक्षेप में, उनका यह तर्क था कि कार्टेल सब देशों के टैरिफ में कमी कराने में सफल होंगे।[1] वास्तव में उनकी यह आशा बहुत क्षीण है, क्योंकि (i) अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल विश्व-व्यापार के बहुत से भाग को प्रभावित नहीं करते। (ii) अधिकांश कार्टेलों का जन्म ही टैरिफ की विद्यमानता के कारण हुआ है, अतः वे टैरिफों को नष्ट करने के अनुपयुक्त हैं। (iii) यदि सम्बन्धित उद्योग प्रत्येक भाग लेने वाले देश में समान रूप

1. "The only way to solve the European economic problem seemed to be to organise the European industries upon the horizontal method, that is, by branches of industry. Only in this way can we begin to make the important adaptations which are necessary, and......the international cartels will......also in part solve the question of reducing tariffs."—(Loucheur in a speech before the World Economic Conference at Geneva in 1927.)

से शक्तिशाली नहीं है, तो कमजोर राष्ट्र समूह टैरिफ-संरक्षण हटाना पसन्द नहीं करेंगे। (iv) तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के सदस्यों के बीच स्थायी समझौता नहीं होता। समझौते की शर्तों को बार-बार बदला जाता है। शर्तों से सम्बन्धित बातचीत में प्रत्येक देश दबाव डालकर अन्य देशों से अपने लिये अधिक अनुकूल शर्तें प्राप्त करने की चेष्टा करता है। दबाव डालने का सबसे शक्तिशाली साधन उनके पास यह होता है कि वे जब-तब कार्टेल को टैरिफ बढ़ाने की धमकी देते रहते हैं। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के दुर्बल सदस्य इच्छापूर्वक टैरिफ संरक्षण का परित्याग करने को तैयार न होते, क्योंकि, उन्हें राष्ट्रीय उद्योग (जोकि अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल के अधीन है) की सुरक्षा के खतरे में पड़ने का डर रहता है।

अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक कार्टेल टैरिफों को कम कराने में तब ही सहायक हो सकते हैं जबकि वे स्वयं टैरिफ के स्थानापन्न (Substitute) का कार्य करें। अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल अपने दुर्बल सदस्यों को इस बात की गारन्टी दें कि वे टैरिफ हटने पर भी उस सापेक्षिक स्थिति के ही अधिकारी रहेंगे जोकि उन्हें टैरिफ के अन्तर्गत प्राप्त है।

किन्तु, टैरिफ को हटाने तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के लाभों का पीड़ारहित ढंग से (Painlessly) आनन्द उठाने में समर्थ बनाने के साधन के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेल अनुपयुक्त हैं। राष्ट्रीय हितों का संघर्ष इतना प्रबल होता है कि विभिन्न पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के माध्यम से टैरिफ संरक्षण का त्याग करने तथा स्वतः ही ऐसे सब समायोजन करने के लिये, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को प्रभावशाली बनाने के हेतु आवश्यक हों, तत्पर हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त, यह बात भी है कि यदि किसी प्रकार टैरिफ कम कराने में कार्टेल सफल भी हो जाएँ, तो इसके फलस्वरूप जो समायोजन (Adjustments) उदय होने लगेंगे उन्हें सरकारें आर्थिक सहायता आदि देकर व्यर्थ बना सकती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों से हानि :

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में जो कार्टेल अन्तरयुद्धकालीन अवधि में उदय हो गये थे उन्होंने स्वतंत्र विश्वव्यापार के विकास को बहुत हानि पहुँचाई। प्राइवेट समझौतों द्वारा बने कार्टेल ही नहीं, वरन् विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा किये गये समझौते भी प्रतिबन्धात्मक ही प्रमाणित हुए। वे मूल्य ऊँचा रखने के समझौते मात्र थे तथा इनके प्रभावस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा काफी घट गई। मन्दी युग के वस्तु नियंत्रण समझौते (Commodity Control Agreements) विशेष रूप से प्रतिबन्धात्मक थे तथा उन्होंने कुशल उत्पादकों और उपभोक्ता समाज के हितों की उपेक्षा करके अकुशल उत्पादकों का पोषण किया। औसत दीर्घकालीन उत्पादन-लागत उच्च स्तर पर बनी रही तथा संभावित उपभोग (Potential Consumption) को वास्तविक रूप (Real form) ग्रहण करने से रोका गया। कार्टेल-समझौतों तथा

प्रतिबन्धात्मक नीतियों के फेर में पड़कर उन सिद्धान्तों को भी भुला दिया गया जोकि विश्वव्यापार के संतुलित विकास के लिये नितान्त आवश्यक थे।

अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के समाज-विरोधी तथा प्रतिबन्धात्मक कार्यकलापों के लिये आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उनकी कटु आलोचना की है। कहा जाता है कि वे 'सामान्य व्यापार' (Normal Trade) में रुकावट डालते हैं और विश्व-व्यापार के परिमाण (Volume) को कम करते हैं। प्रो० रोबिन्स के शब्दों में :—"अन्तर्राष्ट्रीय मार्केटिंग कार्टेल उत्पत्ति को कम कर देते हैं। यह स्थिति एक तरह से अनिवार्य ही है, क्योंकि या तो कोटे वही रखे जाते हैं जोकि प्रतिबन्ध होने पर रहते (ऐसी दशा में वे अनावश्यक होते है) अथवा उनसे भिन्न रखे जाते हैं (ऐसी दशा में वे हानिप्रद होते हैं)। तीसरा कोई विकल्प नहीं बचता। यह एक ऐसी बुराई है जिसे सामान्यतः सभी स्वीकार करेंगे। प्रतिबन्धवाद (Restrictionalism) से प्रतिबन्ध लगता है—यह एक ऐसा तथ्य है जिसके बारे में वाद-विवाद की संभावना नहीं है। प्रतिबन्ध सम्बन्धी योजना का केवल यही अर्थ नहीं होता कि किसी विशेष समय के लिये उत्पादन की मात्रा सीमित की जाती है वरन् उसका यह अर्थ भी होता है कि समय-समय पर अधिक कुशल उत्पादकों को कम कुशल उत्पादकों का स्थान ग्रहण न करने दिया जायगा।"

सचमुच ही, अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के (जो कि उत्पत्ति को सीमित करने व मूल्यों को ऊँचा रखने के लिये स्थापित किये जाते हैं) पक्ष का समर्थन करना कठिन है। यहां तक कि परम्परावादी अमेरिकन मत भी कार्टेलों तथा उनकी प्रतिबन्धात्मक नीतियों के विरुद्ध है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्रियों जैसे शुम्पीटर (Schumpeter) ने हाल ही में विपरीत मत प्रकट किया है। वे अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों के पक्ष में राय प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'एक व्यूह रचना जो व्यक्तिगत देश और समय विशेष की दृष्टि से इतनी प्रतिबन्धात्मक प्रतीत होती है, आजकल प्रगति का तथा विशेषतः कुल उत्पत्ति के दीर्घकालीन विकास का सबसे शक्तिशाली इंजन बन गया है। कार्टेल नमूने के व्यापारिक प्रतिबन्ध तथा ऐसे समझौते भी जो कि मूल्य प्रतिस्पर्धा को रोकने से सम्बन्धित हैं, मन्दी की परिस्थितियों के अन्तर्गत एक प्रभावशाली उपचार हैं। अन्त में, वे न केवल कुल उत्पत्ति को उस स्तर पर कायम रखने में ही नहीं, वरन् उससे भी अधिक बढ़ा देने में समर्थ होंगे जो कि सम्पूर्णतः निर्बाध व्यापार के अन्तर्गत संभव है।"

निष्कर्ष :

किन्तु शुम्पीटर के उपर्युक्त समर्थन के बावजूद, विश्व-जनमत कुछ पर कार्टेलों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा को घटाने वाला ही मानता है। भविष्य में उत्पादन एवं विदेशी व्यापार के संतुलित विकास के लिये यह आवश्यक समझा जाता है कि यदि सब नहीं तो अधिकांश कार्टेलों को समाप्त कर दिया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास के व्यापक दृष्टिकोण से यह वांछनीय तथा आवश्यक दोनों ही है कि विभिन्न देशों की सरकारें इन कार्टेलों के कार्यकलापों पर बारीक दृष्टि रखें और यह देखती रहें कि इनके कोई कार्य-कलाप ऐसे न हों जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वतंत्र विश्व-व्यापार के ठोस सिद्धान्तों से असंगत हों।

☞ **Q. 48. Which do you prefer multilateral trade or bilateral trade agreements and why ?**

Or

Indicate the advantages and disavantages of bilateral trade agreements as a method of international economic adjustments.

Or

Does 'Bilateralism' have peculiarly restrictive effects on international trade ? Examine in this connection the thesis that 'bilateralism' means economic agression.

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों के गुण-दोष; तथा बहुपक्षीय व्यापार से तुलना

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों से आशय :

यों तो द्विपक्षीय व्यापार-समझौता के अनेक रूप प्रचलित हैं किन्तु निम्न दो रूप सर्वाधिक अपनाये गये हैं :—(1) निकासी समझौते (Clearing Agreements) और (2) क्षतिपूर्ति या अदला-बदली के समझौते (Compensation or Barter Agreements)। दूसरे प्रकार के समझौते दो देशों अथवा व्यक्तियों अथवा फर्मों के बीच हो सकते हैं। इसमें वस्तुओं का सीधा विनिमय होता है। इस तरह भुगतान करने की आवश्यकता पैदा ही नहीं होती। निकासी समझौतों में विनिमय की जाने वाली वस्तुएँ निर्दिष्ट (Specified) नहीं होती। इनका मुख्य लक्ष्य विदेशी विनिमय के नियमन के लिये व्यापार की इस तरह व्यवस्था करना है कि आयात और निर्यात के बीच संतुलन स्थापित हो जाय।

द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार प्रणालियों की तुलना (गुण-दोष) :

निम्न तालिका में इन दोनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इससे इनके सापेक्षिक गुण दोषों पर भी प्रकाश पड़ता है—

बहुपक्षीय व्यापार प्रथा	द्विपक्षीय व्यापार प्रथा
(1) बहुपक्षीय व्यापार विश्व बाजार की व्यवस्था (System of world trade) को जन्म देता है जिसमें विभिन्न राष्ट्रों की अर्थ-व्यवस्थाएं एक दूसरे से सम्बन्धित होती हैं।	(1) द्विपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत विश्व बाजार का उदय नहीं हो सकता और जिस सीमा तक व्यापार द्विपक्षीय आधार पर किया जाता है वहां तक आर्थिक एवं वित्तीय लेन-देनों में कुसमायोजन हो जाता है।
(2) इस प्रथा के अन्तर्गत सभी विश्व-वस्तुओं (World Commodities) का एक-सा मूल्यांकन (uniform valuation) होता है तथा सभी देशों की करैन्सियों का भी एक ही आधार पर मूल्यांकन किया जाता है जो कि एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली की आधारभूत आवश्यकता है।	(2) द्विपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत ये विशेषताएं नहीं पाई जाती हैं। विनिमय दरें भी उन दरों से भिन्न होती हैं, जो कि एक स्वतन्त्र विश्व-विनिमय-बाजार में प्रचलित हो सकती हैं।
(3) बहुपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत प्रत्येक देश को यह स्वतन्त्रता होती है कि वह सबसे महंगे बाजार में अपनी वस्तुएं बेचे और सबसे सस्ते बाजार में वस्तुएं खरीदे।	(3) द्विपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत देशों को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं होती है।
(4) इस प्रथा के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली देशों को आर्थिक रूप से निर्बल देशों का शोषण करने का अवसर नहीं मिलता।	(4) यह प्रथा इस प्रकार के शोषण को बढ़ावा देती है। एक समृद्धिशाली राष्ट्र अपनी क्रय एवं विक्रय दोनों ही प्रकार की शक्तियां अपने स्वार्थ के लिए एक निर्धन राष्ट्र का शोषण करने में प्रयोग कर सकता है। उदाहरण के लिये दो महायुद्धों के

	बीच की अवधि में जर्मनी ने अपनी क्रय एवं विक्रय शक्तियों का प्रयोग लेटिन अमेरिका के देशों का शोषण करने के लिये किया था ।
(5) जब तक कोई देश किसी वस्तु का अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य चुकाने की स्थिति में है तब तक उसे प्रत्येक वस्तु स्वतः स्वतन्त्रतापूर्वक उपलब्ध हो सकती है । इस प्रकार बहुपक्षीय व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत सभी देशों के पास सभी वस्तुएँ होने की सम्भावना है ।	(5) द्विपक्षीय व्यापार-प्रथा में ऐसी बात नहीं है । चूंकि इसके अन्तर्गत एक स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का अभाव होता है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय प्रसाधनों तक सब देशों की स्वतन्त्र पहुंच नहीं होती । कुछ देशों में कुछ वस्तुओं का बाहुल्य रहता है जबकि अन्य देश इनके अभाव से पीड़ित रहते हैं ।
(6) बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के अन्तर्गत कोई देश किसी देश के विरुद्ध मूल्य, किस्म अथवा मात्रा सम्बन्धी भेदात्मक नीति नहीं अपना सकता है ।	(6) इस प्रथा के अन्तर्गत एक देश को यह मौका मिल जाता है कि वह कुछ देशों के पक्ष या विपक्ष में भेदात्मक नीति का अनुसरण करे ।
(7) इस प्रथा के अन्तर्गत अदृश्य एवं दृश्य दोनों प्रकार की वस्तुओं का समान महत्व होता है ।	(7) द्विपक्षीय व्यापार के अन्तर्गत अदृश्य मदों को कम और दृश्य मदों (Visible Items) को अधिक महत्व दिया जाता है । द्विपक्षीय व्यापार समझौते में प्रवेश करने वाले देशों का उद्देश्य एक विशेष अवधि के अन्दर केवल चालू व्यवहारों के सम्बन्ध में खाता संतुलित रखना होता है, लेकिन अदृश्य मदों की चिन्ता नहीं की जाती । ऐसे समझौतों में 'यातायात व्यापार' (Transit Trade) को भी सम्मिलित नहीं किया जाता है । चूंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत यातायात व्यापार की

उपेक्षा की जाती है, इसलिये द्विपक्षीय व्यापार विश्व-व्यापार के लिये प्रतिबन्ध स्वरूप है।

(8) बहुपक्षीय व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत व्यापार की मात्रा पर दो देशों में विद्यमान लागत-मूल्य परिस्थितियों (Cost-price Situations) का प्रभाव पड़ता है। समय-समय पर व्यापार के स्वरूप में भी लागत-मूल्य सम्बन्धी परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन होता रहता है।

(8) इस प्रथा के अन्तर्गत लागत-मूल्य सम्बन्धी परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर व्यापार के स्वरूप (Pattern of Trade) में उचित सुधार होना बहुत कठिन होता है।

(9) बहुपक्षीय व्यापार-प्रथा सारे विश्व में उपभोक्ता के हितों की रक्षा करती है। चूंकि इस प्रथा के अन्तर्गत एक विश्व-बाजार विद्यमान होता है और इसमें स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा होती है, इसलिये मूल्य लागतों के बहुत समीप होते हैं तथा उत्पादकगण उपभोक्ताओं का शोषण नहीं कर सकते।

(9) द्विपक्षीय व्यापार-प्रथा के अन्तर्गत एकाधिकारों एवं कार्टेलों की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है, जो फिर ऊंचे मूल्य चार्ज करते हैं। इस प्रकार उपभोक्ताओं का शोषण होता है।

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों का औचित्य :

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों के समर्थकों का यह दावा है कि इन समझौतों से देश को विशेष लाभ होते हैं, जैसे—(1) द्विपक्षीय व्यापार कुछ आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होता है। उदाहरण के लिये, जब किसी देश की विनिमय दर में बहुत अस्थिरता हो और वह उसे स्थिर करना चाहता है अथवा जब भुगतानों के संतुलन में अत्यधिक विषमता हो और वह इसे सुधारने की इच्छा रखता है, तो द्विपक्षीय व्यापार समझौते उसके लिये बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। लेकिन, गम्भीरता से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उक्त तर्क द्विपक्षीय व्यापार समझौतों के लिये एक पर्याप्त आधार नहीं है, क्योंकि यदि किसी देश के भुगतान संतुलन में गम्भीर विषमता है, तो इसके सुधार का एक तरीका विनिमय-नियन्त्रण भी हो सकता है, जो कि द्विपक्षीय व्यापार की अपेक्षा बहुत सरल है। (2) द्विपक्षीय व्यापार समझौते पूंजी के आवागमन को रोकने में सहायक होते

हैं। जब कोई देश पूंजी के अवांछनीय एवं अचानक आगमन को, जो कि देश के भुगतान संतुलन पर एक भारी बोझ है, रोकना चाहता है, तो इसके लिये वह द्विपक्षीय व्यापार समझौतों की प्रणाली अपनाता है, किन्तु यह तर्क भी उचित नहीं जँचता, क्योंकि पूंजी के आवागमन को आयात अभ्यंशों (Import Quotas) और विनिमय नियन्त्रण की सरल रीतियों द्वारा भी रोका जा सकता है।

सच तो यह है कि द्विपक्षीय व्यापार समझौतों का वास्तविक उद्देश्य उपरोक्त से भिन्न है। जब कोई देश अपनी एकाधिकारिक शक्ति का प्रयोग एवं शोषण अपने ही लाभार्थ करना चाहता है, तो उक्त समझौते करता है। अन्य शब्दों में द्विपक्षीय व्यापार प्रणाली का लक्ष्य विभेदात्मक एकाधिकार है। इस मत के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि आर्थिक रूप से निर्बल देशों को अपने उद्योगों का विकास करने के लिये द्विपक्षीय व्यापार का आश्रय लेना यह बात उचित नहीं जँचती, क्योंकि (i) यदि आर्थिक दृष्टि से निर्बल देशों को इस भयंकर अस्त्र का प्रयोग करने की अनुमति दी गई, तो ऐसी सीमा निर्धारित करना कठिन हो जायगा, जहाँ पर विभिन्न राष्ट्र इसका प्रयोग नहीं कर सकेंगे। अर्थात्, एक बार अनुमति देने पर यह प्रथा अधिकाधिक देशों द्वारा अपनाई जाने लगेगी, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं विश्व-व्यापार को अकथनीय हानि पहुँचेगी, (ii) जब कोई देश एक बार यह प्रणाली अपना लेता है, तो फिर उसके लिये इसे छोड़ना कठिन हो जाता है, क्योंकि किसी भी अवस्था पर उसे यह विश्वास नहीं होता कि स्वतन्त्र बहुपक्षीय व्यापार को अपना कर वह अपनी आयात सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त विदेशी विनिमय अर्जित कर सकता है। अतः समस्या का समाधान द्विपक्षीय समझौतों की नीति के बहिष्कार में निहित है।

निष्कर्ष :

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विपक्षीय व्यापार समझौतों का उद्देश्य अपनी एकाधिकारिक शक्ति का प्रयोग और शोषण अपने ही लाभार्थ करना है। ये समझौते देश के बाह्य बाजार (External Market) को कई पृथक् पृथक् भागों में बाँट देते हैं। विदेशी बाजार के कई भागों में बँट जाने को निर्मित माल का विक्रय तथा कच्चे माल का क्रय करने में, किसी अन्य दुर्बल देश की अपेक्षा अपनी एकाधिकारिक शक्तियों का अधिक से अधिक प्रयोग करने का अवसर मिलता है। उदाहरण के लिये सन् 1930 के लगभग जर्मनी (जो कि यूरोप का औद्योगिक वर्कशाप बना हुआ था) ने मध्य योरोपीय राज्यों एवं लेटिन अमेरिका राज्यों के प्रति इसी युक्ति के द्वारा अपनी एकाधिकारिक शक्तियों का प्रयोग और शोषण किया था।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और आर्थिक समृद्धि की रक्षा के लिए, जो कि द्विपक्षीय व्यापार समझौते करने वाले देशों को राष्ट्रीय आर्थिक समृद्धि के विरुद्ध

नहीं है, द्विपक्षीय व्यापार समझौते की अपेक्षा बहुपक्षीय व्यापार को प्राथमिकता देना उचित है।

☞ Q. 49. "Imperial Preference results not only in a reduction in the volume of world trade but also diminishes the gain from international trade. Do you agree ? Give reasons for your answer.

Or

What is 'Imperial Preference ? What effect does it have on the volume, composition and direction of inter-empire trade and of world trade ?

इम्पीरियल प्रिफरेन्स से आशय एवं साम्राज्यान्तर्गत तथा विश्व व्यापार पर इसके प्रभाव

इम्पीरियल प्रिफरेन्स से आशय :

इम्पीरियल प्रिफरेन्स या साम्राज्य अधिमान (Imperial Preference) शब्द से आशय प्रिफरेन्स (या विशेष सुविधा अथवा अधिमान) का है जो कि एक उपनिवेश या आधीन राज्य द्वारा साम्राज्य या मातृदेश के प्रति विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में दिया जाय, चाहे मातृदेश उसे भी बदले में प्रिफरेन्स दें या न दें। प्रिफरेन्स केवल आयात या केवल निर्यात अथवा दोनों के बारे में दिया जा सकता है। अतः साम्राज्य अधिमान योजना के अन्तर्गत उपनिवेश या आधीन राज्य अपने ऊपर यह दायित्व लेता है कि वह विदेशी देशों से कम मूल्य पर माल का आयात करने की अपेक्षा मातृदेश से अधिक मूल्य पर भी उस माल का आयात करेगा अथवा वह मातृदेश से अपने निर्यातों के लिये कम मूल्य लेगा।

इम्पीरियल प्रिफरेन्स निर्यातों के लिये कम मूल्य लेने तथा आयातों के अधिक मूल्य देने के सम्बन्ध में ही नहीं, होता वरन्, यदि अधीन राज्य या उपनिवेश मातृदेश में आने वाले माल पर एक आयात-कर तथा अन्य देशों के माल पर अधिक आयात-कर लगाता है, तो यह भी प्रिफरेन्स का ही एक रूप है। इम्पीरियल प्रिफरेन्स का एक रूप यह भी हो सकता है कि इम्पीरियल देश की कुछ वस्तुओं के लिये गृह-बाजार को सुरक्षित रखा जाय। यही नहीं, एक उपनिवेश द्वारा अपने मातृदेश को ड्रा-बैक (Draw-Backs) की सुविधा भी दी जा सकती है। किसी विशेष समय पर तथा विशेष वस्तुओं के लिये इम्पीरियल प्रिफरेन्स के अनेक रूप प्रचलित हो सकते हैं।

इम्पीरियल प्रिफरेन्स की मुख्य तीन अनिवार्य बातें हैं :—(i) 'इम्पीरियल' देश एवं 'सबजेक्ट' देश के मध्य व्यापार की सम्भावना विद्यमान होनी चाहिये ; (ii) 'सबजेक्ट' देश इम्पीरियल देश के प्रिफरेन्स सम्बन्धी दावों को स्वीकार करने के लिये तैयार

हो एवं (iii) ये प्रिफरेन्स देशों को या तो अन्य बिल्कुल ही न दिये जायें या इम्पीरियल देश से पूछ कर दिये जायें। **यह अन्तिम शर्त सबसे अधिक आवश्यक है, क्योंकि इम्पीरियल देश को दिये गये प्रिफरेन्सों को अन्य देशों को न देना ही इम्पीरियल प्रिफरेन्स के आर्थिक महत्व का आधार है।**

विश्व व्यापार पर प्रभाव :

इम्पीरियल प्रिफरेन्स विश्व-व्यापार की वृद्धि में बाधक होता है, क्योंकि वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा और उद्योग लाभ दोनों को ही घटाता है। यह परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार के सिद्धांत के विरुद्ध है जो कि व्यापारिक मामलों में विभेदात्मक प्रथाएँ हटवा कर विश्व-व्यापार की वृद्धि करता है तथा उसमें स्थायित्व लाता है।

(1) यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं विशिष्टीकरण के विकास को सीमित करके भी विश्व-व्यापार की मात्रा कम करता है। विश्व-व्यापार की स्वस्थ नीति की यह सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता है कि एक देश सस्ते से सस्ते बाजार में खरीदे और महँगे से महँगे बाजार में बेचे। इसमें धर्म, राजनीति एवं संस्कृति का कोई विचार नहीं होना चाहिये। लेकिन इम्पीरियल प्रिफरेन्स की योजना के अन्तर्गत ऐसा नहीं होने पाता है। अधीन देशों को राजनैतिक दबाव के कारण अनुचित आर्थिक सन्धियाँ करनी पड़ती हैं, जिससे विश्वव्यापार की मात्रा तथा लाभ कम हो जाता है

(2) अधीन देश सस्ते बाजार में खरीदने और मँहगे बाजार में बेचने के लिये स्वतन्त्र नहीं होता है। परिणामतः उत्पादन के कुशल साधनों को कम कुशल साधनों के कारण हानि उठानी पड़ती है। उदाहरण के लिये, भारत में अंग्रेजी सूती वस्त्रों की अपेक्षा जापानी सूती वस्त्र अधिक सस्ते थे लेकिन इम्पीरियल प्रिफरेन्स की नीति के कारण भारतीय बाजार जापानी वस्तुओं के लिये लगभग बन्द-सा कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जापान ने प्रतिकार स्वरूप भारत से कच्ची कपास लेनी बन्द कर दी, जिससे भारत को अपनी कपास के सर्वोत्तम बाजार से हाथ धोना पड़ा। इंगलैंड के आर्थिक हितों की सिद्धि के लिए वह न तो सर्वोत्तम विश्व-बाजार में खरीद सका और न सर्वोत्तम विश्व-बाजार में बेच सका।

(3) इम्पीरियल प्रिफरेन्स से **प्रतिकारात्मक कार्यवाहियों को बढ़ावा मिलता है,** जिससे विश्व-देश विभिन्न गुटों में बँट जाते हैं और इस सीमा तक विश्व-व्यापार एक दलबन्दी एवं राष्ट्रीयता की नीति बन जाता है।

(4) विश्व-व्यापार की मात्रा में कमी होने का एक कारण यह भी है कि **इम्पीरियल प्रिफरेन्स योजना एक आधीन देश को स्वस्थ एवं संतुलित आधार पर अपनी अर्थ-व्यवस्था का विकास करने से रोकती है।** आधीन देश के आर्थिक हित इम्पीरियल देश के आर्थिक हितों के लिये बलिदान कर दिये जाते हैं। वहाँ औद्योगीकरण की प्रगति नहीं होने पाती, लोगों की क्रय-शक्ति बहुत कम होती है तथा इम्पीरियल देश

व आधीन देशों में आय सम्बन्धी गम्भीर असमानतायें पाई जाती हैं। एक ओर इम्पीरियल देश के लोग ऐश करते हैं जब कि आधीन देश के लोग अपनी आवश्यक आवश्यकतायें भी पूरी नहीं कर पाते। आधीन देश विश्व के अन्य देशों से इम्पीरियल प्रिफरेन्स की मोटी दीवार द्वारा पृथक हो जाते हैं।

(5) लार्ड कीन्स ने बताया है कि किस प्रकार आधीन देशों में 'प्रचुरता के मध्य अभाव' की समस्या उत्पन्न हो जाती है। इम्पीरियल प्रिफरेन्स की नीति आय-असमानतायें उत्पन्न करके उपभोग वृत्ति (Propensity to consume) को बढ़ने नहीं देती जिससे उपभोग जान-बूझकर कम करना पड़ता है। दूसरी ओर, लोग भूखे-नंगे एवं असभ्यता का जीवन व्यतीत करने को विवश हो जाते हैं जबकि प्राकृतिक साधन इस प्रतीक्षा में रहते हैं कि उनका सदुपयोग किया जाय। यह सब विश्व-व्यापार के लिये खेदजनक परिस्थिति है। इसमें सन्देह है कि केवल इम्पीरियल प्रिफरेन्स की नीति ही अकेली इसके लिये उत्तरदायी है तथापि उसका उसमें एक प्रभावशाली हाथ अवश्य है।

इम्पीरियल प्रिफरेन्स एवं साम्राज्यान्तर्गत व्यापार :

इम्पीरियल प्रिफरेन्स की नीति साम्राज्यान्तर्गत व्यापार को एक विशिष्टता प्रदान कर देती है। इम्पीरियल प्रिफरेन्स की योजना के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं है कि इम्पीरियल देश भी आधीन देशों को विशेष सुविधाएँ दें। यह बात दूसरी है कि वह कुछ राजनैतिक दायित्व (जैसे विदेशी हमलों से रक्षा) अपने ऊपर ले लें। इम्पीरियल प्रिफरेन्स की नीति का आर्थिक महत्व तो इस बात में है कि साम्राज्यान्तर्गत देशों की अर्थ व्यवस्थायें इम्पीरियल देश के आर्थिक हितों से बलात् सम्बन्धित हो जाती हैं। आधीन देशों की अर्थव्यवस्था को मातृदेश की अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक अंग अथवा विस्तार मात्र माना जाता है। इस विचारधारा के फलस्वरूप मातृदेश और आधीन देशों के मध्य व्यापार का स्वभाव बाकि विश्व व्यापार से पृथक हो जाता है। मातृदेश की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये आधीन देशों के आर्थिक प्रसाधनों का शोषण किया जाता है। साम्राज्यान्तर्गत व्यापार में वस्तुओं का आवागमन लागत एवं मूल्य के दृष्टिकोण से प्रभावित नहीं होता। व्यापार को जानबूझ कर एक पूरक रूप (Complimentary character) प्रदान किया जाता है।

गत शताब्दी का अनुभव यह स्पष्ट दिखाता है कि इम्पीरियल प्रिफरेन्स की नीति के कारण आधीन देशों के आर्थिक विकास का रूप कृषिप्रधान बन गया तथा मातृदेश का आर्थिक विकास औद्योगीकरण की दिशा में हुआ। साम्राज्यान्तर्गत व्यापार की दिशा भी यह रही कि उपनिवेशों से मातृदेशों को कच्चे माल व खनिज पदार्थ निर्यात किये जाते थे जबकि मातृदेश से उपनिवेशों को निर्मित माल का निर्यात हुआ। जहाँ तक साम्राज्यान्तर्गत व्यापार की मात्रा का सम्बन्ध है, इम्पीरियल

प्रिफरेन्स की नीति इसे अल्प-काल में अवश्य बढ़ा देती है लेकिन दीर्घकाल में इसके प्रभाव अनिश्चित होते हैं।

☞ Q. 50. Discuss the problems, advantages and disadvantages that may arise in a capitalistic country from the participation of its government in foreign trade.

Or

Give the advantages and disadvantages of state Trading as a means of protecting domestic industries.

राजकीय व्यापार के गुण दोष

राजकीय व्यापार से आशय :

यदि व्यापार के स्वामित्व एवं संचालन का कार्य जनता पर छोड़ दिया जाय और जनता के कुछ व्यक्ति अकेले या अन्य लोगों की सहायता से कोई व्यापार करें, तो ऐसे व्यापार को 'व्यक्तिगत व्यापार' (Private Trading) कहते हैं। लेकिन, जब व्यापार का संचालन राजकीय कर्मचारियों द्वारा हो, तो ऐसे व्यापार को 'राजकीय व्यापार' (State Trading) कहेंगे। यह उल्लेखनीय है कि राजकीय व्यापार से यह भाव नहीं होता कि प्राइवेट संगठनों का नितान्त अभाव है। प्राइवेट संगठन भी राजकीय संगठनों के साथ व्यापार में संलग्न रह सकते हैं किन्तु उन पर राज्य का नियंत्रण होता है। **इस प्रकार, राजकीय व्यापार का अर्थ व्यापार के राजकीय व्यापार के राजकीय स्वामित्व होने के अतिरिक्त व्यापार का नियमन करना भी है। स्वतंत्र प्राइवेट उपक्रमी व्यापार में मुख्य अन्तर यह है कि द्वितीय दशा में प्रथम दशा की भाँति लाभ** भावना प्रधान नहीं होती। विभिन्न देशों द्वारा राजकीय व्यापार-प्रणाली मुख्य रूप से अपने विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में अपनाई गई है।

अनेक विश्व-देशों में राजकीय व्यापार के अन्तर्गत प्राइवेट व्यापारिक संगठनों का नियमन मात्र ही किया जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि कुछ दशाओं में यद्यपि सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से व्यापार का नियंत्रण नहीं किया तथापि उसके समर्थन से आयात व निर्यात व्यापार के क्षेत्र में विशाल कार्टेल-संगठन स्थापित हो गये हैं।

राजकीय व्यापार के लाभ :

कुछ अर्थशास्त्रियों ने राजकीय व्यापार से बहुत लाभ बताये हैं। प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं :

(1) नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लिये अनिवार्य :—जब किसी देश का योजनाबद्ध विकास किया जा रहा हो, तब राजकीय व्यापार होना बड़ा आवश्यक है। नियोजन का सार यह है कि नियोजित लक्ष्य परिमाणात्मक शब्दों में वर्णित किये जायें। यदि नियोजित अर्थ-व्यवस्था में विदेशी व्यापार प्राइवेट व्यक्तियों के हाथ में छोड़ दिया जाय, तो नियोजित अर्थ-व्यवस्था के परिमाणात्मक लक्ष्य (Quan-

titative Targets) पूरे नहीं हो सकेंगे। फलतः परिमाणात्मक नियोजित अर्थ-व्यवस्था के तर्कानुसार विदेशी व्यापार पर सरकार का स्वामित्व होना (जिस प्रकार कि रूस में है) या सरकार द्वारा इस तरह नियमित होना आवश्यक है कि नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य पूरे हो जायें। इसी आधार पर उन देशों में भी, जहाँ युद्ध-पूर्व के मंदीकाल में कुछ नियोजन चल रहा था, राजकीय व्यापार अस्तित्व में आ गया।

(2) साम्यवादी देशों से व्यापार में सुविधा :—रूस, जैकोस्लावेकिया आदि कुछ देश ऐसे हैं जिनके साथ व्यापारिक व्यवहार राजकीय व्यापार की किसी युक्ति द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि इन देशों में व्यापार पर सरकार का नियंत्रण होने से अन्य देशों के प्राइवेट व्यक्तियों को वहाँ से साधारण ढंग में माल प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ पर नीति 'सरकार से सरकार को' है। अतः यदि ऐसे देशों से व्यापार बढ़ाना है, तो स्वतंत्र देशों (Free Trade Countries) में भी राजकीय व्यापार की व्यवस्था करना अनिवार्य हो जाता है।

(3) क्रेता एवं विक्रेता के रूप में लाभ :—राजकीय व्यापार के माध्यम से देश के लिये यह संभव हो जाता है कि वह वस्तुओं के क्रेता और विक्रेता दोनों ही रूप से अधिकतम संभव लाभ उठाये। पिछले 20 वर्षों में जो भी संरक्षणात्मक नीतियाँ अपनाई गई थीं उनका भी यही उद्देश्य था। किन्तु राजकीय व्यापार द्वारा यह उद्देश्य अधिक मितव्ययिता एवं सरलता से पूर्ण हो जाता है।

(4) देनदार देशों के लिये विशेष लाभदायक :—एक देनदार देश के लिये यह संभव है कि वह राजकीय व्यापार की टैक्नीक के द्वारा अपने देनदार होने की स्थिति को अपने लाभ की स्थिति में बदल ले। मन्दी-काल में एवं द्वितीय महायुद्ध के तत्काल पहले तक जर्मनी एक देनदार देश था। उसने इसी टैक्नीक के द्वारा अपनी देनदार स्थिति को लाभदायक बना लिया तथा सैनिक शक्ति बढ़ाने में भी सफल हुआ।

(5) स्वदेशी उत्पादकों के लिये संरक्षण का सर्वोत्तम साधन :—राजकीय व्यापार के पक्ष में एक प्रबल तर्क यह दिया जाता है कि स्वदेशी उत्पादकों को, जो कि व्यक्तिगत रूप से दुर्बल होते हैं और जो एक न एक कारण से अपने को विदेशी प्रतिस्पर्धा से बचाने के लिये मजबूत संगठन में शामिल नहीं हो सकते, राजकीय व्यापार सुरक्षा का एक उत्तम साधन है। मन्दी-युग में अनेक कृषक-देशों ने राजकीय व्यापार को अपना कर अपने स्वदेशी उत्पादकों की मूल्यों के उतार-चढ़ाव से रक्षा की थी। उदाहरण के लिये न्यूजीलैण्ड की सरकार ने सन् 1936 के प्राइमरी प्रोडक्टस मार्केटिंग एक्ट के अन्तर्गत डेरी वस्तुओं के निर्यात व्यापार को स्वयं संभाल लिया। वह एक निर्धारित मूल्य पर बाजार में सम्पूर्ण अतिरिक्त मक्खन व पनीर को खरीद लेती थी। यह निर्धारित मूल्य इतना काफी था कि न्यूजीलैंडवासी अपना सम्पूर्ण आधिक्य सरकार को बेच दिया करते थे। इस योजना का मुख्य उद्देश्य किसानों को उनकी वस्तुओं के गिरते हुए मूल्यों के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करना था।

जिन वस्तुओं के राजकीय व्यापार से सरकार को लाभ होता है उसे वह एक विशेष कोष में जमा कर लेती है और फिर इस कोष का प्रयोग अन्य वस्तुओं की हानि को पूरा करने में किया जाता है। इस प्रकार सरकार वस्तुओं के मूल्य में स्थायित्व लाने में सफल होती है।

(6) संकटकाल के लिये स्टॉक बनाना :—राजकीय व्यापार के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि इसके द्वारा एक देश व्यापार चक्रों के हानिकारक प्रभावों से लड़ने के हेतु 'बॉफर स्टाक' (Buffer Stock) स्थापित कर सकता है और इस सीमा तक मन्दी के चक्कर से मुक्त रह सकता है।

(7) विदेशी विनिमय की कठिनाई के बिना आवश्यक वस्तुओं का आयात :—राजकीय व्यापार देश को 'थोक क्रय समझौतों' (Bulk Purchase Agreements) के द्वारा, जो कि वास्तव में वस्तु विनिमय व्यापार समझौते हैं, विदेशी विनिमय की अनावश्यक चिन्ता किये बिना ही आवश्यक वस्तुओं का आयात करने में समर्थ बनाता है।

(8) द्विपक्षीय व्यापार के लिए आवश्यक :—यह भी कहा जाता है वर्तमान युग में करेन्सियों की स्वतन्त्र बहुमुखी परिवर्तनशीलता एवं बहुपक्षीय व्यापार को संभव बनाने वाली परिस्थितियाँ विद्यमान नहीं हैं। ऐसी दशा में द्विपक्षीय व्यापार ही अपनाना पड़ता है। किन्तु द्विपक्षीय व्यापार राजकीय व्यापार के बिना संभव नहीं अतः दशाएँ सुधरने तक राजकीय व्यापार को आर्थिक नीति के रूप में अपनाना चाहिये।

(9) अन्य लाभ :—राजकीय व्यापार से अन्य लाभ यह हैं :— (i) व्यापार का सारा लाभ सरकार को मिलता है, जिसे वह जन-उपयोगी सेवा में उपयोग करती है; (ii) व्यापारियों की सट्टेबाजी की आदत के कारण मूल्यों में जो परिवर्तन हो जाते थे, वे अब नहीं होने पाते; (iii) प्रजा के सभी लोगों को बड़ी सुविधा से उचित मूल्य पर, शुद्ध (मिलावट रहित) वस्तुएँ मिलने लगती हैं; (iv) राष्ट्रीय उत्पादन भी बढ़ता है, क्योंकि उत्पादकों को इस बात का विश्वास हो जाता है कि व्यापार में सरकार का हाथ होने से उनके परिश्रम से पैदा की हुई फसल अनुचित मूल्यों पर नहीं बिकेगी; (v) समस्त देश में एक ही मूल्य पर वस्तुएँ मिलने लगती हैं; एवं (vi) सदैव यही आशा की जाती है कि देश का व्यापारिक संतुलन राष्ट्र के पक्ष में रहेगा।

राजकीय व्यापार के दोष :—

(1) वास्तविक उद्देश्य-निहित स्वार्थों की पूर्ति :—गृह-उद्योगों के संरक्षण देने का जो तर्क राजकीय व्यापार के पक्ष में दिया जाता है वह विश्वासोत्पादक नहीं कहा जा सकता। जिन देशों ने राजकीय व्यापार को गृह-उत्पादकों को संरक्षण देने के उद्देश्य से अपनाया है उनका अध्ययन करने से प्रकट होता है कि विभिन्न योजनाएँ कृषकों के हित में न होकर योजना चलाने वालों के स्वार्थों की पूर्ति के लिये थीं। उदाहरण के लिये, अर्जेन्टायना में ग्रेन रेग्यूलेटिंग बोर्ड (जिसका उद्देश्य अनाज की खरीद उस समय करना था जबकि मूल्य निर्धारित सीमा से नीचे गिरें) को चाहिये था कि जब

स्वतन्त्र बाजार में मूल्य गारन्टीड न्यूनतम सीमा से ऊँचे हो गये, तो अपने कार्य-कलाप बन्द कर देता लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। जब सन् 1939 में विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया, तो अनाज के मूल्य बहुत ऊँचे चढ़ गये तथा गारन्टीड न्यूनतम मूल्य से कहीं अधिक हो गये थे। लेकिन ग्रेन रेग्यूलेटिंग बोर्ड ने कार्य समाप्त नहीं किया। तब उसने अपने पक्ष में यह तर्क दिया कि बोर्ड को अब लाभ कमाने चाहिए जिससे वह इन लाभों को युद्धोत्तर-काल में, जबकि मूल्यों की प्रवृत्ति घटने की होती है, प्रयोग कर सके। इस प्रकार, एक बार राजकीय व्यापार अस्तित्व में आ जाने पर सरकारी मशीनरी में उच्च स्तरीय निहित स्वार्थ अपना ही लाभ देखने लगते हैं। वास्तव में राजकीय व्यापार मूल्यों को कृत्रिम रूप से एक उच्च सीमा पर बनाये रखने की युक्ति बन गई है।

(2) बड़े पैमाने के उत्पादन पर रोक :—चूँकि मूल्यों को कृत्रिम रूप से ऊँचे स्तर पर रखा जाता है, इसलिये बहुत-सा संभावित उपभोग (Potential Consumption) जानबूझ कर वास्तविक उपभोग में परिणत होने से रोका जाता है। इससे उत्पादन का पैमाना बढ़ने पर रोक लगती है और फलतः विश्व-समाज को आर्थिक हानि उठानी पड़ती है, क्योंकि बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं को क्रियाशील नहीं होने दिया जाता। ऊँचे मूल्यों के कारण दीर्घकाल में उत्पादन के विस्तार पर प्रतिबन्ध लगता है, जिसे विश्वशान्ति एवं आर्थिक समृद्धि के हित में नहीं कहा जा सकता।

(3) स्वतन्त्र एवं बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली के विरुद्ध :—राजकीय व्यापार के कारण एक ऐसा व्यापारिक ढांचा बन जाता है जो कि स्वतंत्र एवं बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली के विरुद्ध एवं प्रतिकूल है।

(4) अकुशलता को बढ़ावा :—स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत आर्थिक सौदे अत्यन्त कुशलतापूर्वक सम्पन्न किये जाते हैं। आयात को ही लीजिये। सस्ते से सस्ते देश से वस्तुओं का आयात किया जाता है और निर्यात उन देशों को किया जाता है जहाँ अधिक से अधिक मूल्य मिल सके। किन्तु राजकीय व्यापार-प्रणाली के अन्तर्गत ऐसा नहीं होने दिया जाता। इसमें प्रतिस्पर्धा जोकि समस्त आर्थिक प्रगति की प्रेरक है, अनुपस्थित होती है, जिससे कार्यकलापों का कुशलता से संचालन नहीं होने पाता।

(5) विश्व-बाजार का विभाजन :—राजकीय व्यापार शनैः शनैः द्विपक्षीय व्यापार को प्रोत्साहन देता है और इस प्रकार के व्यापार से विश्व-अर्थव्यवस्था कई विभिन्न टुकड़ों में बँट जाती है और प्रत्येक टुकड़ा शेष टुकड़ों से पृथक होता है। विश्व-बाजारों का इस प्रकार विभाजन करके राजकीय व्यापार आर्थिक रूप से शक्तिशाली राष्ट्रों (जैसे, अमेरिका व रूस) को अपने लाभार्थ दुर्बल राष्ट्रों का शोषण करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

(6) कूटनीति के साथ मिश्रित होना :—समय व्यतीत होने के साथ-साथ राजकीय व्यापार (जिसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में एक आर्थिक नीति के रूप

में जन्म लिया था) राजनैतिक कूटनीति से आश्रित हो जाता है और ऐसा होने पर स्वतन्त्र उपक्रम अर्थ-व्यवस्थाओं के सामने गम्भीर समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

(7) समाज के हितों की रक्षा करने में असमर्थता :— राजकीय व्यापार जिसका श्रीगणेश समाज के हितों की रक्षा के लिए हुआ था, वास्तव में इनकी रक्षा करने में सफल नहीं हुआ है। समाज के व्यापक हितों की सेवा करने के वजाय, यह आर्थिक उत्पीड़न का एक साधन मात्र बन गया है।

(8) अन्य दोष :— (i) राजकीय व्यापार की दशा में उपभोक्ता राज्य से ही वस्तुएं क्रय करने के लिये विवश हो जाते हैं और ऐसी परिस्थिति में राज्य सरकार मनमाने दाम लगाती है; (ii) दुर्भाग्य से जब कभी व्यापार में हानि हो जाय, तो सरकार का बजट गड़बड़ हो जाता है और फिर इस कमी को पूरा करने के लिए जनता पर कर लगाये जाते हैं; (iii) राजकीय कर्मचारियों को व्यापार के हानि-लाभ से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अत: वे उस पर इतना ध्यान नहीं देते, जितना कि व्यक्तिगत कर्मचारी देते हैं। स्थाई होने के बाद तो वे अधिकतर वेगार टालने लगते हैं; (iv) राजकीय व्यापार से समानता की आशा करना भूल है, क्योंकि सरकार प्राय: उसी वर्ग को लाभ पहुंचाती है, जिससे अधिक वोट मिलते हैं।

निष्कर्ष :

राजकीय व्यापार के लाभ-हानियों के उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यह युक्ति एक अमिश्रित वरदान नहीं है। गुणों के साथ इसमें कुछ दोष भी हैं। यही कारण है कि अर्थशास्त्रियों द्वारा इसके प्रयोग में सावधानी से काम लेने का सुझाव दिया जाता है।

☞ Q. 51. Write short notes on :—

(a) Preferencial Duties.

(b) Custom Unions.

प्रीफरेन्शियल ड्यूटीज

प्रिफरेन्सियल ड्यूटी वह औजार है जिससे टैरिफ दीवार में छेद किया जाता है अथवा जिसके कारण टैरिफ स्तर में एक कमी आती है जो अन्य साधनों से संभव न थी।

प्रिफरेन्शियल ड्यूटी के द्वारा टैरिफों (Tariffs) में इस आंशिक कमी पर हमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन के विस्तार तथा सामाजिक उत्पत्ति की वृद्धि के दृष्टिकोण से ही विचार करना होगा। दूसरे शब्दों में स्वतंत्र व्यापार सिद्धान्त के आधार पर ही प्रिफरेन्शियल ड्यूटीज को उचित ठहराया जा सकता है। तर्क यह है कि कुछ देशों से आयातों पर कम प्रिफरेन्शियल ड्यूटी लगाने तथा टैरिफ में सामान्य कमी करने में डिग्री का ही अन्तर है। यद्यपि आर्थिक दृष्टिकोण से सामान्य कमी ही अधिक लाभदायक है तथापि कुछ भी न करने की अपेक्षा टैरिफ में थोड़ी कमी करना ही उत्तम है।

विपरीत क्रम से टैरिफों में वृद्धि (प्रिफरेन्शियल अपवादों सहित) सामान्य वृद्धि की अपेक्षा अच्छी है। लेकिन प्रिफरेन्शियल ड्यूटीज तब उचित नहीं होगी जबकि वे बाहरी देशों के विरुद्ध ड्यूटी बढ़ाने का बहाना मात्र हों और रेसीप्रोकल प्रिफरेन्सेज उपभोग करने वाले देशों के बीच व्यापार की अड़चनों को कम न किया जाय। इस प्रकार यह उल्लेखनीय है कि प्रिफरेन्शियल ड्यूटीज स्वतंत्र व्यापार तर्क द्वारा ही आर्थिक दृष्टिकोण को उचित ठहराया जा सकता है।

उपरोक्त दृष्टिकोण की निम्न आलोचनायें भी हुई हैं :—

(1) यह सोचना गलत है कि सभी परिस्थितियों में टैरिफों में प्रिफरेन्शियल घटौती कोई घटौती न होने की अपेक्षा अच्छी होती है। यह संभावना कि देशों के बीच नये भेदभाव लगाये जा सकते या पुराने भेदभाव हटाये जा सकते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अनिश्चितता एवं जोखिम को बढ़ा देती है।

(2) टैरिफ सम्बन्धी भेदात्मक नीति व्यापार को उचित मार्ग से तब की अपेक्षा अधिक भटका देती है जबकि 'समान' भले ही 'अधिक' ड्यूटियाँ होतीं। यह आलोचना सम्पूर्ण विश्व-अर्थ-व्यवस्था के दृष्टिकोण से सही है, लेकिन एक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण से नहीं।

(3) टाजिग (Taussig) का तर्क है कि जब A देश B देश को ड्यूटियों में प्रिफरेन्शियल कमी करता है और B ऐसी स्थिति में नहीं है कि A की समस्त आयात-आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके तो ड्यूटियों में कमी करना वास्तव में B के उत्पादकों के लिये A के खजाने से आर्थिक सहायता (Subsidy) मात्र है, क्योंकि, यदि A को B से आयातों की कमी को पूरा करने के लिये विश्व-बाजार की सहायता लेनी पड़ती है, तो A में स्वदेशी मूल्य परिवर्तित नहीं होगा; B को प्रिफरेन्शियल ड्यूटी स्वीकृत करने के बाद भी वह पहले की भाँति ही विश्व-मूल्य (+मूल ड्यूटी) के स्तर पर ही रहेगा और A देश में उपभोक्ताओं पर से भार कम न होगा।

इस प्रकार की प्रिफरेन्शियल ड्यूटियाँ जोकि गृह मूल्य को अपरिवर्तित रहने देती हैं, न तो स्वीकार करने वाले देश के व्यापार की मात्रा को बढ़ाती हैं और न अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन को बढ़ाती हैं। कुल आयातों में तनिक भी वृद्धि नहीं होती; B से अधिक किन्तु अन्य सप्लाई देशों से कम आयात किया जाता है। ऐसी प्रिफरेन्शियल ड्यूटियाँ व्यापारिक नीति के रूप में बेकार हैं और उन्हें टैरिफों में सामान्य कमी के वर्ग में नहीं रखा जाना चाहिये। इनकी लोकप्रियता केवल इस कारण है कि इनके द्वारा व्यापार नीति के उदार विचारों के प्रति झूठी रिआयतें दी जा सकती हैं।[1]

1. "Its (Preferential duties) popularity is due simply to the fact that preferential duties have become a means of making sham concessions to liberal ideas of trade policy. (*Haberler*)

लेकिन अधिक निर्यात कर सकने की संभावना निस्संदेह उस देश के लिये लाभदायक है, जिसके पक्ष में प्रिफरेन्शियल ड्यूटी लगाई गई है, क्योंकि उसके व्यापार की मात्रा बढ़ जाती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन भी अधिक तीव्र हो जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि दो देश एक दूसरे को टैरिफ प्रिफरेन्स स्वीकार करें, तो अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन कुछ बढ़ता है। व्यापार की मात्रा एवं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन पर यही प्रभाव तब भी देखने में आता है जबकि ड्यूटियों में अल्प कमी सामान्य रूप से की जाय और ऐसी सामान्य कमी प्रिफरेन्शियल कमी की तुलना में श्रेष्ठ होगी। प्रिफरेन्शियल ड्यूटीज के प्रति लोगों में आकर्षण की अधिकता का कारण उन्हें यह गलत विश्वास होना है कि उनकी सहायता से आयात बढ़ाये बिना अथवा स्वदेशी मूल्य घटाये बिना ही निर्यात बढ़ाये जा सकते हैं।

जब किसी प्रिफरेन्शियल ड्यूटी की इकतरफा स्वीकृति के कारण मूल्य में कोई कमी नहीं होती है, तो वह पूर्णतः या लगभग पूर्णतः बेकार है, जब स्वतंत्र व्यापार के अन्तर्गत भी वस्तु केवल उस देश से ही आयात की जावेगी जिसे प्रिफरेन्स दिया गया है, ड्यूटी के हटाने को प्रिफरेन्स की संज्ञा देना अतिशयोक्ति है।

इन दोनों छोरों की दशाओं के बीच ऐसी दशा हैं जिनमें प्रिफरेन्शियल ड्यूटीज लाभदायक होती है। इन दशाओं की विशेषता यह है कि प्रिफरेन्शियल ड्यूटी की स्वीकृति से मूल्यों में कमी आती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में वृद्धि होती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन का विस्तार होता है, यद्यपि ऐसी ड्यूटियों में उतनी ही कमी सामान्य रूप से कमी करने की दशा में अधिक होता।

प्रिफरेन्शियल ड्यूटी के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि दो देशों की भौगोलिक समीपता, सांस्कृतिक एकता एवं आर्थिक तथा राजनैतिक मित्रता प्रिफरेन्शियल प्रणाली को उन दोनों के लिये विशेष रूप से लाभदायक बना देती हैं और शेष विश्व को इसमें कोई आपत्ति नहीं उठानी चाहिये। इस सम्बन्ध में वाइनर का कहना है कि ऐसे ही आर्थिक लाभ (संभवतः इससे अधिक लाभ) ड्यूटियों में सामान्य घटौती के द्वारा प्राप्त किये जा सकते थे। यही नहीं, जब दो देश वास्तव में ही इतने घनिष्ट हैं, तो उनके द्वारा शेष विश्व को रेसीप्रोकल टैरिफ घटौती देने का कोई महत्व न होगा, क्योंकि तीसरे देश उनमें से एक के बाजार में दूसरे की प्रतिस्पर्धा का सामना नहीं कर सकेंगे।

कस्टम यूनियनें

'कस्टम यूनियन' प्रणाली प्रिफरेन्शियल ड्यूटी की प्रणाली पर आधारित है। जब दो या अधिक प्रभुसत्ता सम्पन्न देश एक दूसरे के माल को एक क्षेत्र में ड्यूटी बिना या घटी हुई ड्यूटी देकर, आने-जाने की अनुमति देने का सम्मिलित निर्णय करते हैं, तो कहा जायगा कि उन्होंने एक कस्टम क्षेत्र या कस्टम यूनियन (Custom area or Custom Union) बना ली है। स्वतंत्र व्यापार तर्क पर आधारित आर्थिक

दृष्टिकोण से पूर्ण कस्टम यूनियनें (अर्थात् वे क्षेत्र जिनमें ड्यूटी पूर्णतः हटा ली गई हो) और कम ड्यूटी वाली कस्टम यूनियनें (अर्थात् वे क्षेत्र जिनमें सम्बन्धित पक्षों का माल घटी हुई ड्यूटी देकर आ जा सकता है) दोनों ही शुभ हैं।

एक कस्टम यूनियन के आर्थिक लाभ अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन एवं तुलनात्मक लागत सिद्धान्त विषयक स्वतन्त्र व्यापार तर्क पर आधारित हैं, जातीय, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं अन्य सम्बन्धों पर नहीं, विशुद्ध आर्थिक दृष्टिकोण से किसी कस्टम यूनियन में सम्मिलित देशों द्वारा ड्यूटियों को सामान्य रूप से हटाना आपस में ही ड्यूटियों के हटाने की अपेक्षा (जब कि अन्य देशों के विरुद्ध ये ड्यूटियाँ बनी रहें) अधिक अच्छा है।

यद्यपि कस्टम यूनियनों के निर्माण से अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों को बढ़ावा मिलता है तथापि इनकी कुछ कठिनाइयाँ भी हैं :—

(i) दो देशों के बीच टैरिफ हटा लेने पर सामान्य प्रतिबन्धात्मक मुकाबले को प्रेरित करता है।

(ii) अन्य बहुत कठिन, राजनैतिक एवं प्रसाशनिक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं। प्रो० हेबरलर के शब्दों में—"दो देश, दो संसदें (अथवा एक टैरिफ संसद जिसमें दोनों राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों), निहित स्वार्थ वाले व्यक्तियों के दो समूह एवं संगठन एक टैरिफ शिडयूल पर सहमत होने चाहिये। जब हम यह विचार करते हैं कि एक ही स्टेट में विभिन्न सम्बन्धित पार्टियों के स्वार्थों के विरोध तथा इच्छाओं के संघर्ष के कारण एक टैरिफ निर्धारित करना कितना कठिन होता है तथा जब हम यह याद करते हैं कि पुराने आस्ट्रिया-हंगरी के दो भागों के बीच, जिनका एक राजा और एक सेना थी, ठहराव करने की क्रिया कितनी दुःखजनक हुई थी, तो हम निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इन समस्याओं को हल करना लगभग असम्भव है। यही नहीं, कस्टम रेवेन्यू के बँटवारे तथा उसके प्रशासन के सम्बन्ध में भी ठहराव होना चाहिये।"

इस प्रकार, कस्टम यूनियन बनाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं और उन पर विजय प्राप्त करना सरल नहीं है। यही कारण है कि ऐसी यूनियन लाभदायक होते हुए भी इनकी संख्या नगण्य है। सर्व प्रथम जर्मन राज्यों ने सन् 1834 में एक सफल कस्टम यूनियन बनाई। उन्हें द्वितीय महायुद्ध के समय में दक्षिणी अमेरिका में चिली और अर्जेन्टायना ने भी एक कस्टम यूनियन बनाने का सफल प्रयत्न किया। युद्धोत्तरकाल में यूरोप के छह देशों—पं० जर्मनी, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड एवं लक्समबर्ग—ने अपना एक आर्थिक समुदाय बनाया है, जिसे 'यूरोपीय साझा बाजार योजना' कहते हैं।

प्रो० हेबरलर का मत है कि कस्टम यूनियनों का एक दोष यह है कि उनका जो उद्देश्य है, जिसे वे एक आदर्श के रूप में लेकर चलती हैं, बहुत सीमित है तथा

साथ ही अन्तिम उद्देश्य की अपेक्षा, जिसके अधीन ये छोटे-छोटे उद्देश्य हैं, अधिक कष्टसाध्य हैं ।[1] उदाहरण के लिये, कोई कारण नहीं है कि त्रुटियों में घटौती का प्रयास यूरोप की सीमाओं तक ही केन्द्रित रहे । समाजशास्त्र, राजनीति एवं इतिहास यहां तक कि अर्थशास्त्र सभी के दृष्टिकोण से भौगोलिक प्रदेशों के संदर्भ में विचार करना अनुचित है । जैसे—प० यूरोप अनेक ओवरसीज देशों से आध्यात्मिक एवं आर्थिक रूप से पूर्वी यूरोप के देशों की अपेक्षा अधिक घनिष्ट है, जब कि समुद्र वस्तुओं एवं विचारों के प्रवाह में विस्तृत भू-खण्डों की अपेक्षा अधिक बाधक हुआ करता है ।

☞ Q. 52. Explain the significance of the European Common Market. What are its effects on Trade and Foreign Exchange ? (Agra, M. A., 1963)

यूरोपियन साझा बाजार योजना

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग की दिशा में सबसे महत्वपूर्ण युद्धोत्तरकालीन कदम यूरोप में उठाया गया । सन् 1951 में, छह यूरोपीय राष्ट्र—बेल्जियम, फ्रांस, इटली, लक्सम्बर्ग, नीदरलैण्ड एवं प० जर्मनी—राजनैतिक एवं आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता की परम्परागत भावना को तिलांजलि देकर यूरोपियन कोल एण्ड स्टील कम्यूनिटी (European Coal and Steel Community) में सम्मिलित हुए । इस ठहराव का उद्देश्य सभी छह देशों में कोयला एवं स्पात-उत्पादन की कुशलता में सुधार एवं विवेकीकरण करना था । इस योजना की सफलता के बाद सन् 1957 में इन्हीं देशों ने एक यूरोपियन ऐटमिक इनर्जी कम्यूनिटी (European Atomic Energy Community or Euratom) बनाई । जब वे इसमें भी सफल हुए तो उन्होंने आर्थिक क्षेत्र में एक अन्य योजना का श्रीगणेश सन् 1958 में किया, जिसे 'यूरोपियन आर्थिक समुदाय' (European Economic Community) या 'यूरोपियन साझा बाजार योजना' (European Common Market Scheme) कहते हैं ।

साझा बाजार योजना की प्रगति :

1 जनवरी, 1958 को इन छह राष्ट्रों ने उक्त योजना के अन्तर्गत अपनी आर्थिक प्रवृत्तियों को संयुक्त रूप से चलाने का निश्चय किया । इसका उद्देश्य शनैःशनैः 12 वर्षों में तटकरों को समाप्त करके एक ऐसा साझा बाजार बना देना था, जिनमें बिना किसी प्रतिबन्ध के सब देश परस्पर व्यापार कर सकें । विदेशों के साथ भी एक-सी तटकर नीति अपना लेने का निश्चय किया गया । कार्य की सुविधा और प्रगति के लिये विचार किया गया कि चार-चार वर्ष बाद तटकरों में अधिकाधिक कमी की जाती रहे और 12 वर्ष बाद सब देश व्यवहारतः एक देशीय बाजार में परिणत हो जायें । इसका प्रथम चरण 1 जनवरी, 1962 को पूरा हो गया ।

चार वर्षों के प्रथम चरण में समझौते की दिशा में काफी प्रगति हुई है—औद्योगिक पदार्थों के तटकरों में 30% और कृषि पदार्थों के तटकर में 25%

कमी की गई । अब 1 जनवरी, 1962 से 10% कमी और की जा रही है। इन देशों में पारस्परिक व्यापार 70-75% बढ़ा है। कॉमन मार्केट के इन सदस्य देशों का औद्योगिक उत्पादन भी पिछले 4 वर्षों में 21·1% बढ़ा है। कॉमन मार्केट की इस सफलता को देख कर ब्रिटेन ने भी इसके सदस्य होने के लिये प्रार्थनापत्र दे दिया है। डेनमार्क और आयरलैण्ड भी इसके पूर्ण सदस्य बनना चाहते हैं। स्वीडन, आस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड और तुर्की ने भी सम्बद्ध सदस्य होने की इच्छा प्रकट की है। इसके कारण कॉमन मार्केट का पारस्परिक व्यापार बहुत बढ़ने की सम्भावना है। पश्चिमी जर्मनी तो इस व्यवस्था से बहुत अधिक प्रसन्न है, क्योंकि उसकी औद्योगिक समृद्धि निरन्तर बढ़ रही है। सन् 1960 की तुलना में उसका औद्योगिक उत्पादन सन् 1961 में 10% बढ़ा है। मजदूरों और वेतनों में भी 10% वृद्धि हुई है।

योजना के दूसरे चरण में छहों देशों की कृषि-नीति समान होनी थी। यह कमी पहली जनवरी 1962 से शुरू हो जानी चाहिये थी। लेकिन समान कृषि-नीति का प्रश्न उतना आसान नहीं था, क्योंकि इसमें छहों देशों के स्वार्थ एक दूसरे से टकरा रहे थे। इस टकराव में जर्मनी और फ्रांस का सबसे अधिक सामना था। नीदरलैंड इसमें फ्रांस के साथ था। जर्मनी का कृषि-उत्पादन महँगा पड़ता है, इसलिये उसने कृषि जिन्सों के आयात पर कड़े प्रतिबन्ध लगा रक्खे थे, ताकि उसके किसानों के हितों को विदेशी माल से धक्का न पहुँच सके। इसके विपरीत, फ्रांस और नीदरलैंड में कृषि-उत्पादन काफी अधिक होता है। वे अपने कृषि-उत्पादन को खपाने के चक्कर में थे। जर्मनी को भय था कि यदि उसने प्रतिबन्धों को ढीला किया, फ्रांस का कृषि-उत्पादन जर्मनी पहुँच कर वहाँ अनाज और अन्य कृषि पदार्थों के मूल्य कम कर देगा। फ्रांस का कहना था कि एक ओर जर्मनी औद्योगिक उत्पादन में लाभ उठाता है और दूसरी ओर वह कृषि पदार्थों के सम्बन्ध में फ्रांस को लाभ नहीं उठाने देता। "मीठा-मीठा गप और कड़वा-कड़वा थू" वाली बात ठीक नहीं है।

इस पेचीदा प्रश्न को सुलझाने का प्रयास दो बार स्थगित करना पड़ा। आखिरकार एक समझौता हुआ। इस समझौते में कृषि पदार्थों के अतिरिक्त मांस, शराब, अण्डे, मुर्गी, और सब्जी आदि के न्यूनतम मूल्य निर्धारित करने का निश्चय किया गया, जिससे जर्मन किसानों को बहुत हानि न उठानी पड़े। पश्चिमी जर्मनी के प्रधानमंत्री डा० आडेनावर ने इस समझौते पर काफी संतोष प्रकट किया है। संयुक्त राज्य अमरीकी क्षेत्रों में इस समझौते को समस्त पश्चिमी संसार की विजय बताया गया है। डच वाइस प्रेसीडेन्ट ने कहा है कि अब नई सफलताओं के लिये दरवाजा खुल गया है।

कॉमन मार्केट की इस सफलता के बाद ब्रिटेन का कॉमन मार्केट में प्रवेश और भी अधिक वांछनीय समझा जाने लगा है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी कॉमन मार्केट देशों के साथ तटकरों सम्बन्धी समझौता कर लिया है। इनके अनुसार अमरीका औद्योगिक पदार्थों पर तटकरों में 20% कमी कर देगा। कॉमन मार्केट के सदस्य-

देश भी अमरीकी माल पर तटकरों में कमी करेंगे। कॉमन मार्केट के देशों में अमरीकी माल के निर्यात में कमी होने का भय इस समझौते से दूर हो गया है। फ्रांस के आग्रह पर अनेक अफ्रीकी देशों को भी इसका सम्बद्ध सदस्य माना गया है। जो भी हो, कॉमन मार्केट का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। अब यह प्रश्न उठने लगा है कि क्या भारत को कॉमन मार्केट के देशों से अमेरिका की भाँति समझौता नहीं कर लेना चाहिये ?

कॉमन मार्केट की आलोचना :

समुदाय की आलोचनास्वरूप यह कहने वालों, कि ई० ई० सी० विश्व के पुराने व्यापार ढांचे को अव्यवस्थित कर देगा, को समुदाय के ब्रुसेल्ज स्थित मुख्य कार्यालय से कई आश्वासन दिये गये हैं :—

(1) दीर्घकाल में, यूरोपीय सामान्य बाजार के विकास से सभी को लाभ होगा ;

(2) इससे कच्चा माल पैदा और निर्यात करने वाले देशों को फायदा रहेगा, क्योंकि समुदाय के क्षेत्र में अधिक औद्योगिक उत्पादन और अधिक ऊंचे जीवन-स्तर के फलस्वरूप कच्चे माल की मांग में वृद्धि होगी ;

(3) इससे नव-विकासशील राष्ट्र भी लाभान्वित होंगे, क्योंकि समुदाय सुधरी हुई तकनीक और क्षमता, वृहद मात्रा में उत्पादन, आदि के फलस्वरूप उन राष्ट्रों को बेहतर और सस्ते दाम पर पूंजीगत माल का निर्यात कर सकेगा ; और

(4) समुदाय-सदस्य देशों की वित्तीय समृद्धि होने पर उनके लिये अर्ध-विकसित देशों को अधिक वित्तीय सहायता देना सम्भव होगा।

अपनी स्वच्छ नीतियों के प्रमाणस्वरूप इन देशों ने यह स्वीकार किया था कि वे सन् 1961 में गैर-सदस्यों को, बशर्ते कि वे जी० ए० टी० टी० के सदस्य हों, आयात-निर्यात के कोटे और टैरिफ सम्बन्धी वही सहूलियतें देंगे जो कि वे आपस में व्यवहृत करते हैं।

लेकिन इस सारे मामले पर कॉमन मार्केट के देशों और अफ्रीका में उनके 'सम्बद्ध क्षेत्रों' के बीच गहरे गठबन्धन के कारण एशियाई और अरब देशों को यह भय है कि उनके द्वारा निर्यात होने वाली वस्तुओं का न केवल समुदाय-देश स्वयं उत्पादन प्रारम्भ कर देंगे बल्कि अपने अफ्रीकी 'सम्बद्ध क्षेत्रों' के नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों को सहायता देकर उनसे पटसन, सीसल, तिलहन, वनस्पति तेल, कच्चे कृषि पदार्थ, खाद्य पदार्थ और खनिज प्राप्त कर लिया करेंगे, जो कि अब तक वे गैर-सम्बद्ध देशों से प्राप्त करते रहे हैं। उक्त शंकाओं का आधार न्याय संगत है जैसा कि निम्न तथ्यों से प्रकट है :—

(i) कॉमन मार्केट की स्थापना के फलस्वरूप उसके बाहर के देशों को

सम्भवत: ऊँचे तट कर (टैरिफ) देने पड़ेंगे और उनके व्यापार पर अधिक रोक लगेगी ।

(ii) कॉमन मार्केट को जो देश अभी तक निम्न स्तर के टैरिफ के आधार पर निर्यात करते हैं उन पर बाजार का हानिकारक प्रभाव पड़ेगा ।

(iii) यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community or E. E. C.) के बीच अन्तरक्षेत्रीय व्यापार में वृद्धि करने के हेतु परस्पर तटकर में कमी और अन्ततः उसके कोटों में पूर्णतः उन्मूलन के फलस्वरूप एशिया के देशों पर (विशेषतः वे देश जो पूर्णतः निर्मित एवं अर्ध-निर्मित मशीनी वस्तुएँ निर्यात करते हैं) हानिकारक प्रभाव पड़ेगा । आयात-कर संघ (कस्टम्स यूनियन) की स्थापना के फलस्वरूप भी एशियाई देशों से सामान्य बाजार के देशों को सूती-वस्त्र और पटसन की वस्तुओं के निर्यात में अलाभकर प्रभावों की सम्भावना है ।

(iv) कॉमन मार्केट के देशों के समुद्र-पार उपनिवेशों को बाजार से सम्बद्ध करने का अर्थ यह होगा कि उपनिवेशों द्वारा उनके शासक देशों से आयात को तरजीह दी जायगी । इससे एशिया के निर्यातक देश प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से, सम्बद्ध क्षेत्रों के मुकाबले में, कमजोर रहेंगे । इसी प्रकार यह भय भी व्याप्त है कि शासक देशों से उपनिवेशों को निर्यात में प्राप्त सुविधाओं में वृद्धि के फलस्वरूप कॉमन मार्केट के क्षेत्रों को निर्यात में अधिक सुविधाएं मिलने के कारण एशिया से सूती वस्त्र, पटसन की वस्तुओं, जूतों और इंजीनियरी वस्तुओं के औपनिवेशिक देशों के निर्यात-व्यापार को धक्का पहुँचेगा ।

(v) सामान्य व्यापार के देशों में कृषि-सम्बन्धी विशेष अनुबन्धों (उदाहरणतः कृषि वस्तुओं के लिए दीर्घकालीन समझौते और निम्न-मूल्यों की व्यवस्था) से कॉमन मार्केट में कृषि वस्तुओं को संरक्षण की सुविधाएँ प्राप्त होंगी जिनका गैर-सदस्य देशों के कृषि-व्यापार पर रोक और सीमाकारक प्रभाव पड़ेगा ।

(vi) कॉमन मार्केट की स्थापना से एकाधिकारक प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा मिलेगा और उससे पूंजीगत वस्तुओं और मशीनों के निर्यातक देशों के बीच मूल्य सम्बन्धी समझौते होना भी सम्भावित है ।

(vii) कॉमन मार्केट वाले देशों से एशियाई क्षेत्र के देशों को उपलब्ध होने वाले पूंजी-विनियोजन में से भी काफी अंश औपनिवेशिक सम्बन्ध वाले क्षेत्रों को दिया जाने लगेगा ।

एशियाई देशों की अर्थ-व्यवस्था और विदेश व्यापार पर इन व्यापार संगठनों के प्रभावों को कम करने के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं :—

(1) इनमें से एक यह है कि जी० ए० टी० टी० (व्यापार और तटकर पर

सामान्य समझौते) द्वारा कॉमन मार्केट के साथ 'सम्बद्ध उपनिवेश क्षेत्रों के सम्बन्धों का पुनर्विवेचन किया जाय। इसमें तर्क यह है कि यदि उपनिवेशों द्वारा शासक देशों को, जो कि कॉमन मार्केट के सदस्य हैं, दी जाने वाली सुविधाएँ सामान्य बाजार के सभी देशों को समान रूप से प्राप्त होती हैं तो इससे सामान्य बाजार और एशियाई देशों के बीच व्याप्त टैरिफ की दरों में बहुत व्यापक अन्तर पैदा हो जायगा और इससे उपरोक्त को बहुत हानि रहेगी। इसलिए सम्बद्ध क्षेत्रों द्वारा लगाए जाने वाले टैरिफ की दर औसतों के हिसाब से निर्धारित की जानी चाहिये, अथवा एशियाई देशों की वस्तुओं पर तटकर में पर्याप्त कमी करनी चाहिए।

(2) अध्ययन में यह भी सुझाव दिया गया है, कि तट-कर और व्यापार समझौते के एशियाई देशों को इस पर भी बल देना चाहिये कि यूरोपीय आर्थिक समुदाय द्वारा निर्धारित किए जाने वाले सामान्य टैरिफ को समुदाय के निम्नतम टैरिफ वाले देशों के टैरिफ की दर के यथासम्भव आस-पास होना चाहिये और किसी भी स्थिति में, समुदाय के सभी देशों की टैरिफ दर के भारित औसत से अधिक नहीं होनी चाहिए। चाय-पर 35 प्रतिशत टैरिफ को कम करना चाहिये और उसे कहवे पर लगाये गये टैरिफ से अधिक नहीं होना चाहिये क्योंकि ये पेय एक-दूसरे का स्थान ले सकते हैं।

(3) कॉमन मार्केट को यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेना चाहिये कि यदि किसी गैर-सदस्य क्षेत्र से उनके संघीय क्षेत्रों में पूर्व की अपेक्षा किसी वस्तु-विशेष के निर्यात में लगातार कमी की स्थिति पैदा होती है तो वे उस वस्तु पर लागू टैरिफ में जरूरी कमी करेंगे।

☞ Q. 53. Describe the main features of International Trade Charter.

इंटरनेशनल ट्रेड चार्टर की विशेषतायें :

सन् 1945 में द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के साथ-साथ विश्व-भर के अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे थे कि यदि बड़े देशों ने कोई सम्मिलित कदम नहीं उठाया तो, विश्व पुनः प्रतिस्पर्धात्मक नियन्त्रणों व प्रतिबन्धों के खौलते हुए पानी के कढ़ाव में गिर जायगा। युद्ध के पूर्व स्वतन्त्र विश्व-बाजार लोप से हो गये थे। उन दिनों राष्ट्रीय आधार पर अर्थ-व्यवस्थाओं का विकास किया जा रहा था तथा सब देशों ने संरक्षण की एवं प्रतिबन्धित प्रशुल्क-स्वशासन की नीति अपना रक्खी थी, जिनसे व्यापारिक कठिनाइयों में वृद्धि हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों में

सरकारें हस्तक्षेप करती थीं और भेद-भाव बरता जाता था। एक देश से दूसरे देश को पूँजी के स्वतन्त्रतापूर्वक आने-जाने पर भी रोकें लगा दी थीं। अतः इस सामान्य भय के कारण तथा इसका सामना करने के लिये विश्व के देशों में सम्मिलित रूप से प्रभावशाली उपाय करने के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता उदय हुई। इस हेतु विभिन्न देशों का सम्मेलन बुलाया गया। हवाना सम्मेलन में 58 राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे तथा उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के लिये चार्टर बनाया जो कि 'हवाना ट्रेड चार्टर' या 'इण्टरनेशनल ट्रेड चार्टर' के नाम से विख्यात हुआ। इण्टरनेशनल ट्रेड चार्टर के निर्देश इसके प्रमुख उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए बनाये गये थे और निम्नलिखित हैं :—

(1) **परिमाणिक प्रतिबन्धों एवं विनिमय नियन्त्रणों की समाप्ति** :—इण्टरनेशनल ट्रेड चार्टर का सबसे प्रमुख निर्देश यह है कि संघ का कोई सदस्य देश ड्यूटी, कर व अन्य चार्जेज के अतिरिक्त सदस्य देशों के आयात-निर्यात पर किसी प्रकार का कोई निषेध या प्रतिबन्ध नहीं लगायेगा। किन्तु निम्न के सम्बन्ध में अपवाद रखा गया था :—(i) अल्प-पूर्ति वाली वस्तुओं के वितरण में समानता लाने के हेतु लगाये गये अन्तर्कालीन निषेध (ii) खाद्य पदार्थों एवं अन्य आवश्यक कच्चे मालों के अभाव का सामना करने के लिये लगाये गये अस्थाई प्रतिबन्ध; (iii) सरकारों के मध्य हुए वस्तु-समझौतों (Commodity Agreements) के अन्तर्गत लगाये गये कन्ट्रोल एवं (iv) भुगतान संतुलन को नियन्त्रित रखने के हेतु लगाये गये आयात-नियंत्रण।

(2) **टैरिफ एवं प्रिफरेन्सेज** :—सदस्य-देशों को चाहिये कि वे टैरिफों (Tariffs) में कमी करें तथा विशेषाधिकारों (Preferences) को समाप्त करें। सामान्यतः संघ-सदस्यों को एक दूसरे के प्रति शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र का व्यवहार (Unconditional Most Favoured nation Treatment) रखना होगा। इस प्रकार, टैरिफों में सभी घटोतरियाँ बहुमुखी आधार (Multilateral Basis) पर की जायेंगी तथा रिआयतें भी प्रत्येक सदस्य-देश को बिना भेदभाव दी जायेंगी।

(3) **पूर्ण रोजगार एवं प्रभावशाली माँग का उच्च स्तर** :—यह भी निर्णय किया गया था कि इण्टरनेशनल ट्रेड आर्गनाइजेशन का प्रत्येक सदस्य अपने क्षेत्र में पूर्ण एवं उत्पादक रोजगार तथा प्रभावशाली माँग के ऊँचे व स्थाई स्तर प्राप्त करने तथा बनाये रखने के लिये ऐसे उपायों द्वारा उचित कार्यवाही करेगा जो कि उसके राजनैतिक स्वरूप के अनुरूप हों तथा संगठन के अन्य उद्देश्यों से भी संगति रखते हों।

(4) **युद्ध-जर्जरित अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्वास के लिये सुविधा** :—चार्टर में युद्ध-जर्जरित राष्ट्रों को यह अनुमति है कि वे व्यापार में परिमाणात्मक नियंत्रणों की सहायता से अपना पुनर्वास करें। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों को भी यह अनुमति है कि वे विदेशी व्यवहारों का नियमन करके अपने औद्योगीकरण को बढ़ायें।

(5) प्रतिबन्धपूर्ण ;व्यापार प्रथाओं पर रोक :—चार्टर में कहा गया था कि प्रत्येक सदस्य अपने क्षेत्र में उपक्रमों (Enterprises) को ऐसी व्यापार-प्रथाएं अपनाने से रोकेगा जो कि प्रतियोगिता को सीमित करें, बाजारों तक पहुँच को प्रतिबन्धित करें या एकाधिकारिक नियन्त्रण को बढ़ावा दें।

(6) वस्तु समझौते :—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के चार्टर में उन सब परिस्थितियों को स्पष्ट कर दिया था, जिनमें सरकारें आपस में प्राथमिक वस्तुओं (Primary Commodities) की उत्पत्ति, आयात, निर्यात व मूल्य के सम्बन्ध में समझौता कर सकती हैं। ये समझौते अस्थाई हो सकते थे तथा इन पर समय-समय पर पुर्नविचार किया जाता था।

(7) प्राकृतिक साधनों का विकास :—संघ ऐसे उपाय करेगा, जिनसे विश्व के प्राकृतिक साधनों का विकास हो तथा अनावश्यक शोषण से उनकी सुरक्षा हो।

(8) प्राइमरी वस्तु के उत्पादन का विस्तार :—यदि कोई प्राइमरी वस्तु इतनी अल्प मात्रा में उत्पन्न की जाती है कि उपभोक्ताओं के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है, तो संघ उसके उत्पादन को बढ़वाने का प्रयास करेगा।

यह बिना संदेह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उक्त चार्टर अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एक महान् कार्य था, क्योंकि यह 50 से अधिक देशों के लिये समझौते का एक सामान्य आधार (Common Basis) प्रस्तुत करता है। विभिन्न उद्देश्यों से ओत-प्रोत अनेक राष्ट्रों को किन्हीं सामान्य सिद्धान्तों पर राजी करना कोई मामूली कार्य नहीं है। इस चार्टर के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दीर्घकालीन विकास की योजना बनाई गई है। इसमें प्रत्येक राष्ट्र को व्यापारिक क्षेत्र में आर्थिक समानता का आश्वासन दिया गया है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि स्वस्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये युद्ध-जर्जरित राष्ट्रों, का पुनर्निर्माण होना तथा पिछड़े हुए देशों की आर्थिक प्रगति होना आवश्यक है। चार्टर प्रत्येक देश को प्रत्येक देश द्वारा परमानुग्रहित राष्ट्र-व्यवहार का लाभ प्रदान कराता है। इससे सम्पूर्ण विश्व में वस्तुओं का निरन्तर प्रवाह होता रहेगा।

• भारत को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चार्टर में सम्मिलित होना चाहिये या नहीं, इस विषय पर प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission) ने बहुत गम्भीरता से विचार किया था और सब बातों की परीक्षा करके यह निर्णय दिया था कि भारत को इस चार्टर की पुष्टि कर देनी चाहिये। भारत को ऐसा करने से कोई हानि भी नहीं थी, क्योंकि संघ की सदस्यता भारत को परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार का अधिकारी बनाती है तथा उसे अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को पूरा करने के हेतु उचित प्रतिबन्धक कदम उठाने से भी नहीं रोकती।

☞ Q. 54. **What do you understand by Most Favoured Nation Clause ? Explain the extent to which the inclusion of this clause in the treaties during 1934-39 served to level down trade barriers.**

परमानुगृहित-राष्ट्र व्यवहार प्रणाली से आशय एवं सन् 1934-1939 में इससे हुये लाभ

प्रारम्भिक :

स्वतन्त्र व्यापार वाले देशों के लिये 'परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार' सबसे उपयुक्त व्यापारिक नीति है। स्वतन्त्र व्यापारी देश टैरिफ संधियाँ नहीं कर सकते, क्योंकि उनके पास कोई क्षतिपूरक रियायत देने को नहीं है—वे केवल स्वतन्त्र व्यापार छोड़ने की धमकी मात्र ही दे सकते हैं। अतः उन्हें चाहिये कि किसी भी प्रकार परमानुगृहित राष्ट्र सन्धियाँ करें जिससे उनके विरुद्ध भेदभाव न वरता जा सके। इंगलैण्ड ने, जो आज भी अमेरिका सहित स्वतन्त्र व्यापार का समर्थक बना हुआ है, ऐसी ही संधियाँ स्वतन्त्र व्यापार अवधि में की थीं। उसे इन संधियों में सफलता मिलने का कारण कुछ तो उसकी राजनैतिक शक्ति अधिक होना था और कुछ अन्य राष्ट्रों में यह भावना होना था कि जो राष्ट्र उनकी वस्तुओं को अपने यहाँ बेरोकटोक आने देता है उसे अन्य देशों की अपेक्षा अच्छा व्यवहार पाने का अधिकार है।

परमानुगृहित-राष्ट्र व्यवहार प्रणाली के लाभ :

अनेक देश अपने प्रशुल्कों की मात्रा को अन्य राज्यों के साथ होने वाले ठहरावों पर आधारित नहीं करना चाहते। स्वतन्त्र व्यापारी देशों की भाँति इन देशों के लिये भी सबसे उचित सन्धि-नीति विशुद्ध परमानुगृहित राष्ट्र ठहराव करने की है। उदाहरण के लिये अमेरिका ने सन् 1922 में यह दृष्टिकोण अपनाया कि वह अपना टैरिफ शिड्यूल अपने देश की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर ही बनायेगा और टैरिफ सन्धियों के चक्कर में नहीं फँसा। वह सब देशों को समान अधिकारों का आश्वासन देता है। वह किसी के साथ भेदभाव नहीं रखता, सबके साथ समानता का बर्ताव करता है (अर्थात् सबके साथ बुरा बर्ताव करता है)। लेकिन बदले में वह सब अन्य देशों से समानता के व्यवहार की आशा करता है। इस प्रकार अमेरिका शर्तरहित एवं अप्रतिबन्धित परमानुगृहित राष्ट्र वाक्य का एक प्रबल अनुयायी हो गया।

(1) कोई विशेष लाभ किसी से लेने की इच्छा न करना और न किसी को देना एक लाभप्रद सिद्धान्त है। यदि टैरिफ लगाने आवश्यक ही हैं, तो निसंदेह व्यवहार की समानता होने से विभिन्न राज्यों में शान्ति और अच्छे सम्बन्ध बने रहेंगे। इस समानता के अभाव में संघर्ष के अनगिनती कारण उत्पन्न हो सकते हैं।

(2) छोटे देशों के दृष्टिकोण से भी यह उचित एवं महत्वपूर्ण है कि विश्व इस नीति पर चले। यदि भेदभावपूर्ण व्यवहार की अदूरदर्शी नीति अपनाई गई, तो छोटे

देशों को इससे सबसे अधिक हानि पहुँचेगी, क्योंकि न तो उनके इतने अधिक साधन होते हैं कि वे अन्य देशों को महत्वपूर्ण आर्थिक रिआयतें दे सकें और न उनकी राजनैतिक शक्ति इतनी अधिक होती है कि वे अन्य देशों को भेद-भाव करने से रोकसकें।

(3) यदि यह प्रणाली व्यापक रूप से विश्व-भर में अपनाई जाय, तो एक देश को किसी दिये हुए आयात पर चाहे उसका स्रोत कहीं भी हो, एक ही ड्यूटी देनी पड़ती है। अतः यह आवश्यक नहीं रहता कि कस्टम अधिकारियों को उद्गम स्थान के प्रमाण दिये जायं। इस तरह ड्यूटी की वसूली में सरलता एवं मितव्ययिता आ जाती है।

परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार प्रणाली व्यावहार में :

शर्तरहित एवं प्रतिबन्धहीन परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार की प्रणाली के सम्बन्ध में असंतोष, जो बहुत अरसे से अनुभव किया जा रहा था, प्रथम महायुद्ध के बाद अधिक तीव्र एवं व्यापक हो गया। यद्यपि मित्र राष्ट्रों ने 1916 के आर्थिक सम्मेलन में यह निश्चय किया था कि वे मित्र राष्ट्रों एवं शत्रु-राष्ट्रों के मध्य व्यवस्थित भेद-भाव द्वारा व्यापारिक नीति के क्षेत्र में युद्ध जारी रखेंगे फिर भी यही प्रणाली युद्ध के बाद पुनः स्थापित की गई। शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार प्रणाली की पुनः स्थापना वास्तव में अमेरिका की नई व्यापारिक नीति, ग्रेट ब्रिटेन के प्रयासों एवं जर्मनी द्वारा प्रबल समर्थन के फलस्वरूप की गई थी। सन् 1927 में जर्मनी को अनेक कठिनाइयों के बाद फ्रांस से एक व्यापारिक संधि करने में सफलता मिली, जिसमें शर्तरहित एवं अप्रतिबन्धित परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार का वाक्य सम्मिलित था। यह संधि ही युद्धोत्तर काल में यूरोपियन संधि प्रणाली (European Treaty System) की रीढ़ बनी।

इस प्रणाली के विरुद्ध आक्षेपों में धीरे-धीरे वृद्धि होती गई और कटुता आती गई। सन् 1931 से मन्दी की अवधि में सेंट्रल एवं ईस्टर्न योरुप में इस प्रणाली के अन्दर अनेक दरारें पड़ गईं। कुछ राष्ट्रों के स्वार्थपूर्ण आचरण का परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार प्रणाली के भविष्य पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा, क्योंकि भविष्य में यह प्रणाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक नीति का आधारभूत सिद्धांत रहेगी या नहीं, यह महान् आर्थिक शक्तियों के निर्णय पर निर्भर है।

परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार प्रणाली की आलोचनायें :

यहाँ पर परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार प्रणाली की तथाकथित हानियों पर विचार कर लेना आवश्यक है। यह भी देखना चाहिये कि जिन प्रणालियों के द्वारा लोग इसे प्रतिस्थापित करने की चर्चा करते हैं, वे किस सीमा तक लाभदायक हैं। कुछ लेखकों ने इस प्रणाली की आलोचना इस आधार पर की है कि वे इसे केवल स्वतन्त्र व्यापार को प्रोत्साहित करने की युक्ति मात्र पाते हैं। कुछ एकान्तवादी (Autachists or isolationists) इस प्रणाली के विरुद्ध इसलिये हैं कि वे आधुनिक विश्व-अर्थव्यवस्था के व्यक्तिवादी आधार को पूर्णतः समाप्त करना और इसके स्थान में अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की एक नियोजित प्रणाली लागू करना चाहते हैं। इन

आलोचनाओं से भी अधिक महत्वपूर्ण वे आलोचनाएँ हैं जो व्यक्तिवादी विश्व अर्थ-व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन की स्वीकृति पर आधारित हैं। इन पर ही हम यहां विशेष ध्यान देंगे। ये आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(1) शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार के अन्यायपूर्ण होने का तर्क :

यह तर्क अमेरिका और फ्रांस की तरफ से प्रयोग किया गया था। इस तर्क के अनुसार उन देशों को, जो प्रतिपरक क्षतिपूरक रिआयतें (Reciprocal compensatory concession) देने को तैयार नहीं होते, रिआयतें देना (जिन्हें प्राप्त करने में अन्य देशों को बहुत त्याग करना पड़ता है) अन्यायपूर्ण है।

जब एक देश दूसरे देश को उसके शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार के बदले में स्वयं भी उसके साथ ऐसा व्यवहार करने का आश्वासन देता है तो किसी तीसरे देश के पक्ष में भेद-भाव बरतने की संभावना समाप्त हो जाती है। किसी भी देश के साथ भेद-भाव न बरता जाना, अर्थात् सबके साथ एक सा बर्ताव होना, स्वयं में एक बहुत लाभदायक चीज है। यदि हमारे माल पर विदेशों में अत्यधिक कर लगाये जायें, तो इससे व्यापार में कुछ कमी आ सकती है लेकिन, जब भेदभावपूर्ण कर लगाये जाते हैं, तो हानि इससे भी अधिक होगी—कुछ देशों से व्यापार बिल्कुल ही समाप्त हो सकता है और उसकी दिशा भी पलट सकती है। इस प्रकार परमानुगृहित वृद्धि हो जाती है। अतः पूर्ण परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार का आश्वासन एक बहुमूल्य कन्सेशन है।

यदि सम्बन्धित देश अन्य टैरिफ सन्धियाँ करने से विरत रहे, तो फिर इस कन्सेशन का कोई मूल्य नहीं है। उदाहरण के लिये, यूरोपियन देश आपस में जो ड्यू-टियों की कमी करते थे वे अमेरिका को भी परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार के रूप में प्राप्त हो जाती थीं और इसे स्वयं अपने टैरिफ में कोई कमी नहीं करनी पड़ती थी क्योंकि वह किसी अन्य टैरिफ संधि में किसी देश के साथ प्रविष्ट ही नहीं हुआ था। उसकी इस नीति के ही कारण शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र वाक्य यूरोप में बदनाम हो गया।

यदि ऐसा विश्वास हो कि जो देश ऊँची ड्यूटीज लगाता है तथा टैरिफ वार्त्ताओं में भी भाग नहीं लेता, उसे अन्य देशों द्वारा उसके विरुद्ध भेद-भाव की नीति अपना कर तथा परमानुगृहित राष्ट्र का व्यवहार अस्वीकृत करके सही रास्ते पर लाया जा सकता है, तो सर्वोत्तम मार्ग यह है कि उसके साथ विद्यमान परमानुगृहित राष्ट्र सन्धियाँ रद्द करदी जायें अथवा, जैसा कि जर्मनी ने किया था, उसके साथ पूर्ण परमानुगृहित राष्ट्र का व्यवहार इस शर्त पर किया जाय कि वह अन्य पक्ष के प्रति टैरिफ रिआयतें करने को तैयार हो जायेगा।

(2) टैरिफ कमियों के मार्ग में परमानुगृहित राष्ट्र प्रणाली के बाधक होने का तर्क :

यह कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार की अवधि से जबकि ड्यूटीज में कमी हो रही है, शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार की नीति निस्संदेह टैरिफ स्तरों में सामान्य गिरावट ला देती है, किन्तु उन अवधियों में जबकि संरक्षण प्रचलित है,

वह उल्टा प्रभाव दिखाती है, क्योंकि तब एक देश ऐसी टैरिफ घटौती करने में हिचकिचाता है जोकि उसे सम्पूर्ण विश्व के प्रति विस्तृत करनी पड़े।

छोटे देशों के लिये यह बहुत जरूरी है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों में समान अधिकारों का सिद्धांत स्वीकार किया जाता रहे, क्योंकि यदि विश्व ने कन्सेशनों के प्रति कंसेशन देने की अल्पदर्शी नीति अपनाई तो उन देशों को बहुत हानि पहुंचेगी जिनके पास बाजार को देने के लिये कुछ नहीं है तथा जिनकी क्रयशक्ति महान् देशों की तुलना में बहुत कम है।

शर्तरहित परमानुगृहित राष्ट्र प्रणाली के विरुद्ध यह भी आरोप लगाया जाता है कि यह विशेष टैरिफ संधियों या आर्थिक संघों (Preferential-tariff treaties or Economic Unions) के निर्माण को, जो कि टैरिफों में कुछ कमी ला सकती थी, रोकती है। प्रायः देखा गया है कि कुछ देश दूसरे देश के लिये टैरिफों में कमी करने को तैयार हो जाते हैं बशर्ते ये कमियां सारे संसार के प्रति न करनी पड़ें। यह तर्क दिया जाता है कि भौगोलिक एवं सांस्कृतिक सामीप्य वाले देशों के लिये इस प्रकार की टैरिफ घटौतियों का बड़ा महत्व है, अतः उन्हें इनका लाभ उठाने देना चाहिये, परमानुगृहित राष्ट्र व्यवहार की नीति को इसमें बाधक नहीं होना चाहिये।

यही नहीं, देशों द्वारा सन्धियों का समय भी छोटा कर दिया गया है। संधि को छोड़ने का नोटिस भी 2-3 माह पूर्व देना पड़ता है। इस अनिश्चितता एवं अस्थिरता ने टैरिफों के प्रभाव में वृद्धि कर दी है तथा आर्थिक हानि पहुंचाई है।

प्रायः यह धारणा प्रचलित है कि टैरिफ में कमी करना एक बुराई है और एक आर्थिक बोझ है, जिसे तब ही सहन किया जा सकता है जबकि अन्य देश भी कम से कम उतनी ही सीमा तक अपने टैरिफों में कमी करें। इस गलत दृष्टिकोण को लेकर ही टैरिफ सम्बन्धी वार्त्ताएं की जाती हैं तथा कम से कम त्याग पर विदेशी टैरिफों में अधिक से अधिक कमी कराने का प्रयास किया जाता है।

किन्तु यह मानने से भी समस्या खत्म नहीं हो जाती, कि एकतरफा स्वतन्त्र व्यापार लाभदायक है और भुगतान संतुलन के बारे में कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। टैरिफ वार्त्ताओं की आवश्यकता तो बनी ही रहती है। जो देश सिद्धांततः स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक हैं उन्हें भी अपने संरक्षणवादी पड़ोसियों को अपनी ड्यूटियां कम करने के लिये प्रेरित करने की समस्या है। यह कहा जा सकता है कि इस हेतु की पूर्ति के लिये सम्बन्धित देश अपनी ड्यूटी को अच्छा साधन बना सकता है, बशर्तें सही अवसर आने पर उन्हें पूर्ण रूप से हटा सकता हो।

इस प्रकार एक विवेक संगत व्यापार-नीति का उद्देश्य टैरिफ वार्त्ताओं द्वारा अपनी ड्यूटियों में घटौतियां और विदेशी ड्यूटियों में घटौतियों के बीच [एक अनुकूल बैलेन्स प्राप्त करना नहीं है, अपनी ड्यूटियों को हटाने या कम करने के बदले विदेशी ड्यूटियों में अधिक से अधिक घटौती कराना है।

अध्याय 5

भारत का विदेशी व्यापार

(INDIA'S FOREIGN TRADE)

Q. 55. Enumerate briefly the recent changes in the Volume, composition and direction of India's foreign trade and commercial policy envisaged by the Five Year Plans.

OR

Explain the main changes in India's foreign trade during the last 20 Years or so. (Sagar & Raj. 1961)

भारत के विदेशी व्यापार में पिछले 20 वर्षों में हुए प्रमुख परिवर्तन

प्रारम्भिक :

द्वितीय महायुद्ध (1939-45) एवं युद्धोत्तरकाल (1945 से 1962) में भारत के विदेशी व्यापार में अनेक परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों को लाने में अनेक कारण उत्तरदायी हैं। युद्धकाल में यातायात की कठिनाई, कच्चे माल एवं रसायनों आदि का अभाव, विदेशी विनिमय सम्बन्धी बाधायें और विभिन्न सरकारी नियन्त्रणों के कारण व्यापार में अनेक अड़चनें पड़ीं। युद्धोत्तर काल में भारत के विदेशी व्यापार को अस्त-व्यस्त करने वाली सबसे प्रमुख घटना की आवश्यकताओं ने भी हमारे विदेशी व्यापार को प्रभावित किया है। विदेशी व्यापार में हुए परिवर्तनों को हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं :—

(I) विदेशी व्यापार की मात्रा में परिवर्तन।

(II) विदेशी व्यापार की रचना में परिवर्तन।

(III) विदेशी व्यापार की दिशा में परिवर्तन।

(IV) व्यापारिक नीति में अन्तर।

(I) विदेशी व्यापार की मात्रा में परिवर्तन
(Change in the Volume of Foreign Trade)

आयात व्यापार की मात्रा में परिवर्तन :

द्वितीय महायुद्ध की अवधि में भारत में निर्यातों की अपेक्षा आयातों पर अधिक रोक लग गई थी, क्योंकि भारत सरकार ने कड़ा विनिमय-नियन्त्रण लगा दिया तथा अनेक वस्तुओं का आयात बिल्कुल ही बन्द कर दिया था और साथ ही

भारत को माल बेचने वाले अनेक देश अपने देश की आवश्यकता पूर्ति के लिये वस्तुयें एवं सैनिक सामग्री उत्पादन करने में व्यस्त हो गये थे। अत: उनके पास निर्यात के लिए बहुत कम आधिक्य बचता था। यातायात की कठिनाइयों एवं ऊँची भाड़ा दरों ने आयात को कम किया। 1942 में भारतीय आयात 110½ करोड़ रु० के न्यून स्तर तक गिर गए।

जब युद्धकालीन माँग विदेशों में घट गई तथा वहाँ औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा तो भारत को निर्यात के लिये अधिक मात्रा उपलब्ध होने लगी। इस बीच यातायात सम्बन्धी दशाओं में भी सुधार हुआ। सन् 1948 में सरकार ने अधिक उदार आयात नीति अपनाई, जिसका उद्देश्य मुद्रा प्रसार से लड़ना और भारतीय उपभोक्ताओं व भारतीय उद्योगों की रुकी हुई माँगों को पूरा करना था। परिणामत: भारत में आयात सन् 1945 में 643·85 करोड़ तक बढ़ गये और सन् 1951 में तो 943·13 करोड़ रु० तक पहुँच गये। इतने अधिक आयात का मुख्य कारण खाद्यान्नों एवं कच्चे मालों का भारी मात्राओं में आयात होना था।

पहली योजना के दौरान में कुल मिलाकर 3620 करोड़ रु० के सामान का आयात हुआ—यानी औसतन 724 करोड़ रु० का सामान प्रति वर्ष विदेशों से मंगाया गया। दूसरी योजना में पूँजीगत सामान, कच्ची सामग्रियाँ, मध्यवर्ती सामान तथा पुर्जों, आदि की बढ़ी हुई जरूरतों के कारण आयात का स्तर काफी ऊपर उठ गया। योजना के पहले दो वर्षों में आयात बड़ी तेजी से बढ़ा—सन् 1955-56 के 746 करोड़ रु० की तुलना में सन् 1956-57 में 1,099 करोड़ रु० मूल्य के और सन् 1957-58 में 1,233 करोड़ मूल्य के सामान का आयात हुआ। बाद के दो वर्षों में कुल आयात की मात्रा घटी। सन् 1959-60 में आयात का स्तर घटकर 920 करोड़ रु० हो गया। आयात की मात्रा घटने का कारण यह था कि सरकार ने विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के कारण आयात-लाइसेंस देने में कड़ाई की नीति बरती। दूसरी योजना के अन्तर्गत वर्ष में लगभग 1,080 करोड़ रु० मूल्य के आयात का अनुमान है। दूसरी योजना में कुल मिलाकर 5,360 करोड़ रु० मूल्य के आयात का अनुमान है। इस हिसाब से वार्षिक औसत 1072 करोड़ रुपये का पड़ा और यह पहली योजना के औसत स्तर से लगभग 50 प्रतिशत अधिक है।

चूँकि तीसरी योजना में पूँजी विनियोग का कार्यक्रम और भी विशाल है, इसलिये इसमें आयात की आवश्यकतायें दूसरी योजना से भी अधिक होंगी। अनुमान है कि तीसरी योजना के दौरान में कुल मिलाकर 5,750 करोड़ रु० मूल्य की सामग्रियों का आयात होगा।

निर्यात व्यापार की मात्रा में परिवर्तन :

अनेक कठिनाइयों के होते हुये भी युद्धकाल में भारत के निर्यात उतने कम

नहीं हुये, जितने कि आयात हुये। यद्यपि निर्यात (पुनर्निर्यात को अलग रखते हुये) सन् 1942 में 187·6 करोड़ रु० के न्यून स्तर तक घट गये थे तथापि बाद को उनमें सुधार हुआ और सन् 1947 में बढ़कर 395·3 करोड़ हो गये, क्योंकि :— (i) भारतीय कच्चे मालों एवं निर्मित वस्तुओं की युद्ध कार्यों के लिये बड़ी माँग थी; और (ii) उनका सबसे प्रबल प्रतिस्पर्धी जापान विश्व बाजार से समाप्त हो गया। भारतीय निय सन् 1948 में 458·72 करोड़ रु० से सन् 1949 में 506·02 करोड़, सन् 1950 में 601·35 करोड़ तथा सन् 1951 में 732·94 करोड़ रु० की शिखर सीमा तक जा पहुंचे।

सन् 1951-52 से 1960-61 तक के दशक में कुल मिलाकर निर्यात में कोई प्रगति नहीं हो सकी। कोरिया में युद्ध छिड़ जाने से अगर सन् 1951-52 में बहुत ही अधिक निर्यात न हुआ होता, तो पहली योजना में जो 609 करोड़ रु० का वार्षिक औसत रहा, वह और भी कम होता तथा सन् 1958 में अमेरिका और ब्रिटेन में जो मन्दी आ गई, वह अगर न आई होती, तो दूसरी योजना में 614 करोड़ रु० वार्षिक का जो औसत रहा, वह और अधिक होता। जहाँ तक परिमाण का सवाल है, दूसरी योजना में 9 प्रतिशत अधिक नियात हुआ, परन्तु वस्तुओं के मूल्यों में गिरावट आ जाने के कारण निर्यात से होने वाली आय में इस अनुपात से वृद्धि नहीं हुई। देश में आर्थिक विकास होने से घरेलू माँगें बढ़ गई और जो अतिरिक्त माल निर्यात के लिए मिल जाता था, उसमें कमी आ गई। इस प्रकार हालांकि इन दस वर्षों में कुल मिलाकर समग्र विश्व-निर्यात-व्यापार दुगुना हो गया, पर इसमें भारत का हिस्सा सन् 1950 के 2·1 प्रतिशत से घटकर सन् 1960 में 1·1 प्रतिशत रह गया।

(II) विदेशी व्यापार की रचना में परिवर्तन

(Changes in the Composition of Foreign Trade)

आयात व्यापार की रचना में परिवर्तन :

भारत के आयात व्यापार की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। सन् 1938 में प्रमुख आयात वस्तुयें महत्वानुसार क्रम में निम्न थीं—मशीनरी, तेल, कपास का सूत एवं सामान, खाद्य पदार्थ एवं आटा, कच्ची कपास। सन् 1948 तक मशीनों का स्थान खाद्य पदार्थों ने ले लिया, कपास का सूत एवं सामान आयात की प्रमुख वस्तुओं की श्रेणी से निकल गये तथा कच्ची जूट एवं कच्ची कपास का महत्व बढ़ गया। सन् 1951 में मशीनरी का दूसरा स्थान कच्ची कपास ने ले लिया। सन् 1952 में पुनः मशीनरी का महत्व बढ़ गया। सन् 1953 में खाद्य पदार्थों का प्रथम स्थान छिन गया, क्योंकि देश में ही खाद्य उत्पादन बढ़ने लगा। आजकल हमारे आयातों में प्रथम स्थान मशीनरी को प्राप्त है। तत्पश्चात् लोह एवं स्पात निर्मित वस्तुयें एवं खनिज तेल आते हैं। इससे भारत के बढ़ते हुये औद्योगीकरण की झाँकी मिलती है। कच्ची कपास, रसायन एवं दवाइयाँ अब क्रमशः तीसरे, चौथे एवं पाँचवें

स्थान पर हैं। इस प्रकार हमारे आयातों में निर्मित वस्तुओं का महत्व घट रहा है तथा कच्चे मालों का महत्व बढ़ रहा है।

निर्यात व्यापार की रचना में परिवर्तन :

सन् 1938 में हमारे निर्यात की प्रमुख वस्तुयें महत्वानुसार निम्न थीं :— जूट का सामान, कच्ची कपास, चाय, बीज एवं कच्चा, जूट। सन् 1948 में प्रमुख निर्यात वस्तुयें इस प्रकार थीं :—जूट का सामान, चाय, कपास, तथा सूत एवं निर्मित माल, कच्ची कपास, तेल एवं चमड़ा।

सन् 1952 में निम्न क्रम था :—जूट का सामान, चाय, कपास का सूत एवं निर्मित माल, धात्विक खनिज, कच्ची कपास एवं तेल। सन् 1953 से सन् 1955 तक प्रमुख निर्यात वस्तुयें इस क्रम से थीं—जूट का सामान, चाय, कपास का सूत एवं निर्मित माल, धात्विक खनिज, कमाया हुआ चमड़ा व खालें और कच्ची कपास। सन् 1956, 1957, 1958 एवं 1959 में जूट निर्मित माल का पहला स्थान चाय को मिल गया। सन् 1960 में जूट के निर्मित माल ने पुनः पहला स्थान प्राप्त कर लिया।

(III) विदेशी व्यापार की दिशा
(Direction of Foreign Trade)

निम्न तालिका से उन परिवर्तनों का ज्ञान होता है जो कि भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में प्रथम एवं द्वितीय योजनावधियों में हुए हैं :—

भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

(प्रतिशत भाग)

देशी क्षेत्र	निर्यात			आयात		
	1952	1956	1960	1952	1956	1960
1. इकेफी देश	25·7	16·3	17·0	13·6	12·4	13·1
जापान	4·1	4·9	5·5	2·4	5·2	5·4
2. पश्चिमी एशिया	5·7	5·8	6·5	7·7	10·8	7·5
3. अफ्रीका	3·6	3·9	2·5	3·8	4·0	4·4
4. प० यूरोप	29·6	39·8	38·5	30·1	50·1	40·4
यू० के०	20·5	29·8	27·5	18·5	23·0	20 0
यूरोपियन आर्थिक समुदाय	7·5	8·3	8·0	8·8	20·0	18·0
5. पूर्वी यूरोप एवं चीन	1·3	3·5	8·0	2·2	4·2	3·7
6. उत्तरी अमेरिका	21·1	17·7	18·7	37·3	12·4	25·2
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	19·0	14·7	16·0	23·6	11·3	23·7
7. लेटिन अमेरिका	1·4	1·0	2·5	...	0·1	0·1
8. ओसनिया	4·3	4·4	3·1	2·0	1·7	2·3
9. अन्य	7.3	8·3	3·2	3·3	4·3	3·3
कुल	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0	100·0

इस समय प० यूरोप से भारत के निर्यात व्यापार का 39% भाग होता है, जिसमें यू० के० का भाग 28% है। यू० के० का शेयर कई वर्षों से न्यूनाधिक इसी स्तर पर स्थिर है। उत्तरी अमेरिका का शेयर सन् 1952 में 21% से घटकर सन् 1956 में 17% रह गया लेकिन बाद में पुनः बढ़ कर सन् 1960 में 19% तक जा पहुँचा। इकेफी देशों को निर्यात हाल के वर्षों में सापेक्षिक रूप से स्थिर रहे हैं। जापान को निर्यात में वृद्धि खनिज लोहे के निर्यात के कारण हुई है।

यूरोपीयन आर्थिक समुदाय का भाग गत दस वर्षों में 6·3 एवं 9·5% के बीच घटता-बढ़ता रहा है। रूस एवं पूर्वी यूरोप के देशों का भाग पहली पंचवर्षीय योजना में 1% से द्वितीय योजना के अन्त तक 8% हो गया है।

प० यूरोप से आयात पहली पंचवर्षीय योजना में 30% से 50% हो गये। द्वितीय योजना के अन्त में इस क्षेत्र का आयात भाग 40% था। पूर्वी यूरोप से आयात सन् 1952 में 2·2% से बढ़ कर सन् 1956 में 4·6% हो गया लेकिन सन् 1960 में घटकर 3·7% रह गया। उत्तरी अमेरिका से आयात सन् 1952 में 37% थे किन्तु सन् 1956 में घट कर 12·4% रह गये लेकिन सन् 1960 में 25·7% तक बढ़ गये। इस घटा-बढ़ी का मुख्य कारण खाद्य आयात था। इकेफी देशों से आयात इस अवधि के भीतर 12 से 14% के मध्य रहे हैं।

(IV) योजनाओं के अन्तर्गत विदेशी व्यापार-नीति

प्रथम पंचवर्षीय योजना :

व्यापक रूप से 'व्यापार-नीति' के अन्तर्गत अनेक समस्याओं का समावेश होता है, जैसे—बहुपक्षवाद के गुण-दोष, गृह उद्योगों को संरक्षण देने के नियम, कोटे, द्विपक्षीय व्यापार समझौतों एवं सामूहिक क्रय के सापेक्षिक लाभ। ये सभी व्यापार-नीति के अन्तर्गत आते हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में व्यापार नीति का निर्देशन करने के लिये निम्न 5 सिद्धान्त निश्चित किये गये थे :—

(i) योजना के उपयोग एवं उत्पादन सम्बन्धी लक्ष्यों की पूर्ति करना।

(ii) निर्यातों का एक उच्च-स्तर स्थापित रखना।

(iii) भुगतान-संतुलन के घाटे को देश के विदेशी-विनिमय साधनों की सीमा के अन्तर्गत ही रखना।

(iv) सरकार की प्रशुल्क एवं मूल्य-नीतियों के साथ आयातों एवं निर्यातों को समायोजित करना, तथा

(v) व्यापार नीति में निरन्तरता (Continuity) रखना, जिससे कि अन्य देशों से हमारे व्यापारिक सम्बन्धों में तथा गृह-उद्योग एवं व्यापार की योजनाओं में बार-बार विघ्न न पड़े।

यह आशा की गई थी कि योजना की अवधि में कृषि के कच्चे मालों (जैसे जूट और कपास), सूती सामान, जूट का सामान, तेल, मैंगनीज़, तेल कोयला व

कोक, तम्बाकू एवं ऊनी सामान का अधिक उत्पादन होगा, जिससे निर्यात के लिये काफी आधिक्य बच सकेगा और हमारी विदेश विनिमय सम्बन्धी आय बढ़ जायगी। इसके अतिरिक्त, बिजली का सामान, मशीन-औजार, साइकिल, रसायन, दियासलाई, सीमेंट, साबुन एवं कागज सम्बन्धी उद्योगों का विकास होने से निर्यात के कुछ नवीन मार्ग भी खुल जाने की आशा थी। यह भी प्रस्ताव था कि द्विपक्षीय एवं क्षेत्रीय व्यापार समझौतों के द्वारा निर्यात की मात्रा में वृद्धि की जाय यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसे समझौतों का क्षेत्र कुछ सीमित ही था।

योजना आयोग को आशा थी कि सन् 1950-51 से सन् 1955-56 के बीच निर्यात 10% बढ़ जायेंगे। इसी अवधि के अन्दर आयातों के 16% बढ़ जाने की आशा थी। इसका अर्थ है कि विदेशी विनिमय के घाटे को देश से प्रसाधनों की सीमा में ही रखने के लिये आयातों और निर्यातों पर कड़ा नियन्त्रण होना चाहिये।

द्वितीय योजना :

द्वितीय योजना ने यह स्पष्टतः अनुभव किया कि योजनावधि में निर्यातों में वृद्धि की तात्कालिक संभावना अधिक उज्ज्वल नहीं है। भारत की निर्यात-आय कुछ इनी-गिनी वस्तुओं से प्राप्त होती है। इनमें से तीन (चाय, जूट का सामान एवं सूती वस्त्र) का निर्यात कुल निर्यात का आधे के बराबर है। हमारे इन तीनों ही प्रमुख निर्यातों को विदेशों में बढ़ती हुई प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। इससे अल्पकाल में निर्यातों में कोई भारी वृद्धि होने की आशा क्षीण पड़ जाती है। यद्यपि नई-नई वस्तुओं के निर्यातों को प्रोत्साहित करने तथा देश के प्रमुख निर्यातों के लिये बाजारों को विकसित करने के लिये प्रत्येक संभव प्रयास करना चाहिये तथापि यह नहीं भूलना चाहिये कि कुछ सीमा तक औद्योगीकरण की प्रगति हो लेने पर ही देश में बढ़ी हुई उत्पत्ति के कारण निर्यात-आय में काफी वृद्धि दिखाई पड़ सकेगी। अतः द्वितीय योजना में जिस शीघ्रता से औद्योगीकरण की आशा रखी गई उसके साथ संगति रखते हुए हमें अपने आयातों में अधिक कमी करने का प्रयास करना तथा निर्यात बढ़ाना आवश्यक है।

द्वितीय योजना के अनुसार भारत के निर्यातों को 1960-61 तक 615 करोड़ तक बढ़ाना संभव होगा जबकि उस वर्ष में आयात लगभग 655 करोड़ होंगे। यह मानते हुए कि व्यापार की शर्तें अगले 5 वर्षों में औसतन वही रहेंगी जोकि सन् 1955-56 में थीं, द्वितीय योजना में भारत के व्यापार संतुलन में 1,375 करोड़ रु० के घाटे का अनुमान रखा गया। अदृश्य आयात-निर्यात (सरकारी भेंटों के अतिरिक्त) के प्रति वर्ष औसतन 51 करोड़ रु० के अनुकूल शेष को विचार में रखते हुए उक्त घाटा केवल 1,120 करोड़ रु० रह जायगा। द्वितीय योजना के अनुसार 300 करोड़ रु० हमारे स्टलिंग कोष से अगले 5 वर्षों में मिल सकेंगे। इस प्रकार हमारे विदेशी विनिमय साधनों में 800-900 करोड़ रु० का घाटा होने की आशा थी।

तृतीय योजना :

निर्यातों की वृद्धि के लिये अब तक जो कदम उठाये गये हैं उन पर हम यदि उन घटकों के संदर्भ में विचार करें, जो कि निर्यातों में बाधा डाल रहे हैं, तो वे पर्याप्त प्रतीत नहीं होते। भूतकाल में सबसे बड़ा दोष यह है निर्यात सम्बन्धी कार्यक्रम को पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश के विकास प्रयत्नों का अभिन्न अंग नहीं समझा गया है। यदि निर्यातों में पर्याप्त वृद्धि लानी है, तो कई दिशाओं में एक साथ प्रयास करने की आवश्यकता है। ये दिशायें विशेष रूप से निम्न हैं :—

(i) देश में होने वाली खपत को उचित सीमा में रखना होगा, जिससे निर्यात के लिये माल बचे।

(ii) ऐसे कदम उठाना जरूरी होगा, जिससे देश में खपत के मुकाबले माल को बाहर भेजना अधिक लाभप्रद बन जाय।

(iii) निर्यात किया जाने वाला माल तैयार करने वाले उद्योगों को शीघ्र से शीघ्र अपनी उत्पादकता बढ़ानी और लागत घटानी होगी, जिससे वे दूसरों से होड़ कर सकें। उद्योगों के लिये लाइसेन्स देने की नीति भी इस प्रकार संशोधित करनी होगी कि उससे निर्यात को प्रोत्साहन मिले; और

(iv) जनमत को निर्यात के पक्ष में करना होगा, उद्योग और व्यवसाय को पूरे प्रयत्न के लिये तैयार करना होगा, मंडियों सम्बन्धी जानकारी और अनुसंधान के लिये सरकारी संगठनों और विदेशों में व्यापारिक प्रतिनिधियों के काम को सुधारना होगा और ऋण, बीमा आदि सुविधाओं को बढ़ाना होगा।

निर्यात बढ़ाने के प्रयत्नों तथा विदेशों में माँग के लिये बड़े पैमाने पर जिस प्रकार प्रयास किये जाने का अनुमान है उसके आधार पर यह आशा है कि तीसरी योजना की अवधि में 3700 करोड़ रु० मूल्य का निर्यात होगा। वास्तव में इससे भी अधिक निर्यात का प्रयत्न किया जाना चाहिए। तृतीय पंचवर्षीय योजना में निर्यात बढ़ाने पर अधिक जोर देने का एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि इस अवधि में हमारे निर्यात इतने काफी बढ़ जाने चाहिए जो कि चौथी योजना के लिये अनुमानित बहुत अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हों। विदेशों को ऋण सम्बन्धी अदायगी, और अर्थ-व्यवस्था के संचारण (Maintenance) और उसके विकास में सहायक आयात की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर यह अनुमान लगाया गया है कि चौथी योजना के अन्त तक निर्यात प्रतिवर्ष 1300 करोड़ रु० से 1400 करोड़ रु० तक, अर्थात् वर्तमान स्तर से दुगना बढ़ाना होगा। पाँचवीं योजना तक भारत की अर्थ-व्यवस्था को आत्मनिर्भर और आत्मवाहक बनाने के लिये यह एक आवश्यक शर्त है।

तीसरी योजनावधि में कुल आयात 5,750 करोड़ रु० (आर्थिक वार्षिक औसत आयात 1,150 करोड़ रु०) और कुल निर्यात 3,700 करोड़ रु० अर्थात् वार्षिक औसत निर्यात 740 करोड़ रु०) होने के अनुमान पर व्यापारिक घाटा 2,050 करोड़ रहेगा । हमारे विदेशी विनिमय कोषों से कोई सहायता मिलने की गुंजाइश नहीं है तथा भारत को 550 करोड़ का प्रबन्ध ऋणों की वापसी या ब्याज आदि के भुगतान के लिये भी करना होगा । इससे भुगतान-संतुलन के घाटे की पूर्ति के लिये 2600 करोड़ रु० की सीमा तक विदेशी सहायता की आवश्यकता पड़ेगी ।

तीसरी योजना में विदेशी व्यापार सम्बन्धी कार्यक्रम के कई दोष हैं :— (i) आयातों का कम अनुमान लगाया गया है जबकि निर्यातों के सम्बन्ध में अधिक ऊंची आशा रखी गई है । अत: यदि आयात-निर्यात सम्बन्धी हमारी आशायें साकार नहीं हुई, तो विदेशी विनिमय सम्बन्धी घाटा अधिक हो सकता है । (ii) मुद्रा प्रसारिक शक्तियों के नियंत्रित रहने की कल्पना दोषपूर्ण है । यदि भारत में तृतीय पंचवर्षीय योजनावधि में भी मूल्य-स्तर उसी गति से बढ़ते गये, जिस गति से कि वे द्वितीय योजनाकाल में बढ़े हैं; तो आर्थिक विकास की वांछित दर को कायम रखने के लिये हमारे आयात अधिक होने की संभावना है जबकि उत्पादन लागतों में वृद्धि होने से तथा निर्यात बाजार के लिये आवश्यक मात्रा में माल स्पेयर करने में हमारी अक्षमता में निर्यातों में वांछित स्तर तक वृद्धि होना शंकापूर्ण है ।

उपसंहार :

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि योजनाओं की अवधि में भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा, उसकी रचना एवं दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं । सन् 1951-1961 की अवधि में आयातों का स्तर निर्यातों के स्तर की अपेक्षा तेजी से बढ़ा । जबकि आयातों में 40% वृद्धि हुई । निर्यातों में केवल 32% वृद्धि हो सकी है । यही नहीं, आयात व निर्यात दोनों में प्रतिवर्ष बहुत उतार-चढ़ाव रहे हैं । आयातों में उतारों चढ़ावों का मुख्य कारण प्रशुल्क एवं आयात नियंत्रण नीतियाँ हैं जोकि समय-समय पर सरकार द्वारा मुद्रा प्रसार को रोकने, आन्तरिक आवश्यकताओं तथा संतुलन में सुधार के लिये अपनाई गईं । निर्यातों में उतार-चढ़ाव का मुख्य कारण विदेशों में बदलता हुआ आर्थिक एवं राजनैतिक वातावरण तथा स्वदेश में माँग एवं पूर्ति सम्बन्धी स्थिति थी । भारत के विदेशी व्यापार की रचना में भी परिवर्तन हुए जो कि देश के आर्थिक विकास का स्वभाविक परिणाम थे । मशीनें एवं तत्सम्बन्धी मदों का आयातों में महत्वपूर्ण स्थान रहा तथा खाद्य पदार्थों एवं कच्चे मालों का स्थान योजना के प्रारम्भिक वर्षों में प्रमुख था । व्यापार की दिशा में भी परिवर्तन हुए । भारत का घाटा स्टर्लिंग, डॉलर एवं अन्य देशों से काफी बढ़ गया ।

☞ Q. 56. What are the chief commodities of import and export in India's foreign trade ? What is their importance for the Five Year Plans ?

भारत के विदेशी व्यापार में आयात और निर्यात की प्रमुख वस्तुयें तथा पंचवर्षीय योजनाओं में उनका महत्व

प्रारम्भिक :

द्वितीय महायुद्ध में एवं युद्धोत्तरकाल में भारत के विदेशी व्यापार में अनेक परिवर्तन हो गये हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय में यातायात की कठिनाई, कच्चे माल एवं रसायनों आदि का अभाव, विदेशी विनिमय सम्बन्धी बाधाएँ और विभिन्न सरकारी नियन्त्रणों के कारण व्यापार में बहुत अड़चनें पड़ीं। युद्धोत्तरकाल में भारत के विदेशी व्यापार को अस्त-व्यस्त करने वाली सबसे प्रमुख घटना भारत का विभाजन होना था। सन् 1947 के पूर्व भारत इतनी पर्याप्त मात्रा में कच्ची कपास, जूट, तिलहन खालें व चमड़ा उत्पन्न कर लेता था कि अपनी निजी आवश्यकताएँ पूरी करने के उपरान्त भी वह उन्हें निर्यात करने की स्थिति में था। किन्तु, विभाजन के बाद, देश उक्त अनेक कच्चे मालों में अभावग्रस्त हो गया, जिससे इनके निर्यात में कमी आ गई, इन पर निर्भर उद्योग अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सके और हमें ऊँचे मूल्यों पर विदेशों से आवश्यक कच्चे माल (विशेषतः कपास) खरीदने पड़े। विभाजन के पूर्व, पाकिस्तान में सम्मिलित हुए क्षेत्र भारत की अधिकांश खाद्य-आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे किन्तु विभाजन के फलस्वरूप देश के कुछ बहुत उत्पादक क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये, जिससे भारत को अभूतपूर्व खाद्य-संकट का सामना करना पड़ा। इसके समाधान के लिये भारत में खाद्य पदार्थों के आयात में बहुत वृद्धि हुई। विभाजन के पूर्व उन क्षेत्रों को जो कि अब पाकिस्तान के अन्तर्गत हैं, बेचा गया माल भारत के आन्तरिक व्यापार का अंग था, लेकिन अब वह हमारे विदेशी व्यापार के अन्तर्गत आता है।

आयात व्यापार की वस्तुयें एवं पंचवर्षीय योजनाओं में इनका स्थान :

भारत के आयात व्यापार की रचना में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये हैं। सन् 1938 में प्रमुख आयात वस्तुयें महत्वानुसार क्रम में निम्न थीं :—मशीनरी, तेल, कपास का सूत एवं सामान, खाद्य पदार्थ एवं आटा, कच्ची कपास। सन् 1948 तक मशीनों का स्थान खाद्य-पदार्थों ने ले लिया, कपास का सूत एवं सामान आयात की प्रमुख वस्तुओं की श्रेणी से निकल गये तथा कच्चा जूट एवं कच्ची कपास का महत्व बढ़ गया। सन् 1951 में मशीनरी का दूसरा स्थान कच्ची कपास ने ले लिया किन्तु सन् 1952 में पुनः मशीनों का महत्व बढ़ गया। सन् 1953 में अनाज, दाल और आटे का प्रथम स्थान छिन गया, क्योंकि देश में ही खाद्य-उत्पादन बढ़ने लगा। आजकल हमारे आयातों में प्रथम स्थान मशीनरी को

प्राप्त है, तत्पश्चात् लोह एवं स्पात निर्मित वस्तुएँ एवं खनिज तेल आते हैं। इससे भारत के बढ़ते हुए औद्योगीकरण की झाँकी मिलती है। वहीं कच्ची कपास, रसायन और दवाइयाँ अब क्रमशः तीसरे, चौथे एवं पाँचवें स्थान पर हैं। इस प्रकार हमारे आयातों में निर्मित वस्तुओं का महत्व घट रहा है तथा कच्चे मालों का महत्व बढ़ रहा है। यह हमारे विदेशी व्यापार की एक सन्तोषजनक विशेषता है। देश के औद्योगीकरण की अधिकाधिक प्रगति के साथ-साथ यह विशेषता अधिक मजबूत होती जायगी। निम्न तालिका वस्तुओं की तीन मुख्य श्रेणियों के लिये प्रथम एवं द्वितीय योजनाकाल में औसत वार्षिक आयात दिखाती है :—

आयात (1951-61)

(करोड़ रु० में)

श्रेणी	1951-56 वार्षिक औसत	1956-61 वार्षिक औसत
1. उपभोक्ता-वस्तुएँ	235	247
2. कच्चा माल एवं मध्यम वस्तुएँ	364	502
3. पूँजीगत सामान	125	323
कुल	724	1,072

तीसरी योजना में अधिक विनियोग का कार्यक्रम रखा गया है तथा आधार-भूत एवं स्थूल पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों के विकास को प्राथमिकता पहले की तरह दी जाती रहेगी। इससे द्वितीय योजना की अपेक्षा अधिक मात्रा में आयात करना आवश्यक होगा। योजना के प्रोजेक्टों के लिये 1900 करोड़ की मशीनें व इक्विप-मेन्ट का आयात होने का अनुमान है। इसके अतिरिक्त, पूँजीगत सामान के घरेलू उत्पादन में काम आने वाले कुछ पुर्जों का आयात भी किया जायेगा, जिसके लिये कम से कम 200 करोड़ का अनुमान है। कच्चे माल, मध्यम वस्तुएं (Intermediate Products) आदि की आवश्यकता 3650 करोड़ रु० कूती गई है। P. L. 480 के अन्तर्गत भी 600 करोड़ के आयात का अनुमान है। इस प्रकार तीसरी योजनावधि के लिये आयात-बिल अनुमानतः 6,350 करोड़ रु० बैठेगा अर्थात् वार्षिक औसत आयात 1270 करोड़ रु० होगा।

निर्यात व्यापार की प्रमुख वस्तुयें एवं पंचवर्षीय योजनाओं में इनका महत्व :

सन् 1938 में हमारे निर्यात की प्रमुख वस्तुयें महत्वानुसार निम्न थीं :—जूट का सामान, कच्ची कपास, चाय, बीज एवं कच्चा जूट। सन् 1948 में प्रमुख निर्यात वस्तुयें इस प्रकार थीं :—जूट का सामान, चाय, कपास का सूत एवं निर्मित माल, तेल और चमड़ा। सन् 1952 में निम्न क्रम था :—जूट का सामान, चाय, कपास का सूत एवं निर्मित माल, धात्विक खनिज, कच्ची कपास एवं तेल। सन्

1953 से सन् 1955 तक प्रमुख निर्यात वस्तुएँ इस क्रम से थीं :—जूट का सामान, चाय, कपास का सूत एवं निर्मित माल, धात्विक खनिज, कमाया हुआ चमड़ा व खालें और कच्ची कपास। सन् 1956, 1957, 1958 एवं 1959 में जूट निर्मित माल का पहला स्थान चाय को मिल गया। सन् 1960 में जूट के निर्मित माल ने पुनः पहला स्थान प्राप्त कर लिया। इस एक परिवर्तन के अलावा कोई अन्य महत्वपूर्ण परिवर्तन हमारी निर्यात-रचना में नहीं हुआ।

स्पष्ट है कि जूट के निर्मित माल एवं चाय का महत्व अब भी काफी बना हुआ है जबकि कच्ची कपास एवं कच्ची जूट का महत्व निर्यात व्यापार में कम हो गया है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि विभाजन के पश्चात् भारत में इन दोनों वस्तुओं की कमी पड़ गई है तथा स्वयं देशी उद्योगों को इनके आयात पर निर्भर रहना पड़ता है। कपास का सूत एवं निर्मित माल, चमड़ा एवं तेल, जिनका भूतकाल में कोई महत्व न था, अब निर्यात व्यापर में एक महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। कुल पर यह स्वीकार करना होगा कि विदेशी व्यापार की रचना कुछ अन्य देशों की भांति अभी व्यापक नहीं बन सकी है। निम्न तालिका से हमारे निर्यात व्यापार की रचना के परिवर्तनों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :—

निर्यात 1951-60[1]

(करोड़ रु० में)

	1950-51	1951-56	1958-59	1959-60
(१) कृषि वस्तुएँ एवं सम्बन्धित निर्मित माल	496·5	489·3	453·5	473·6
कपास एवं जूट का निर्मित माल (1 के अन्तर्गत सम्मिलित)	250·5	181·7	153·4	180·5
(२) अन्य निर्मित माल	58·4	61·0	53·3	105·0
नवीन निर्मित वस्तुएं (2 के अन्तर्गत सम्मिलित)	8·9	8·6	12·5	25·0
(३) खनिज	23·4	34·4	46·2	53·0
कुल	578·3	584·7	553·0	631·6

इधर कुछ वर्षों से, खासतौर से द्वितीय योजना के मध्य काल से निर्यात बढ़ाने के लिये कई तरह की कार्यवाईयां प्रारम्भ की गई हैं। संभव है कि यदि ये कदम न उठाये जाते, तो पिछले कुछ वर्षों में निर्यात और भी कम होता। इन कार्यवाइयों में निम्न बातें शामिल हैं :—(i) निर्यात संवर्द्धन परिषदें, जिनकी स्थापना सूती वस्त्रों रेशम और रेयन, इंजीनियरी के सामान, रासायनिक

पदार्थों, तम्बाकू, मसाले, काजू, चमड़ा, प्लास्टिक के सामान, खेल के सामान और अभ्रक के लिये की गई है (ii) निर्यात जोखिम बीमा निगम की स्थापना ; (iii) प्रचार, मेलों और प्रदर्शनियों की अधिक सहूलियतें (iv) निर्यात निर्यात नियन्त्रण और कोटा प्रतिबन्ध का अन्त (v) अधिकांश निर्यात शुल्कों की समाप्ति एवं उत्पादन-शुल्कों की वापिसी। (vi) निर्यात के लिए कच्चे माल के लिये विशेष आयात लाइसेंस दिये जाने का प्रारम्भ। (vii) परिवहन सुविधाओं के लिये प्राथमिकता। (viii) राज्य व्यापार निगम के जरिये भारत के विदेशी व्यापार में विविधता लाना।

☞ **Q. 57. Discuss the factors which have been responsible for a deficit in India's balance of payments after the Second World War and comment upon the measures adopted by the Government to meet the situation.**

भारत के भुगतान-संतुलन में घाटा, इसके कारण एवं उपचार

प्रारम्भिक—

'व्यापार-संतुलन' (Balance of Trade) में केवल प्रत्यक्ष अथवा दृश्य मदें (या वस्तुओं का आयत-निर्यात) ही सम्मिलित किया जाता है। लेकिन भुगतान-संतुलन में अदृश्य मदें (Invisible items) भी सम्मिलित होती हैं, जैसे ऋण, दान, यातायात व्यय, डाक, बीमा, विदेशी यात्रियों द्वारा व्यय आदि। स्पष्ट है कि भारत के भुगतान-संतुलन को समझने के लिये इसके व्यापार संतुलन पर ध्यान देना होगा।

भारत का व्यापार संतुलन—

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तक भारत का व्यापार संतुलन साधारणतः भारत के अनुकूल रहता था। प्राचीन तथा मध्य युग में तो भारत की विश्व के व्यापारिक राष्ट्रों में शीर्ष स्थिति थी। वह विदेशों को जितने मूल्य का माल भेजता उससे कम मूल्य का माल वहाँ से मँगाता था और इस तरह जो अन्तर रहता उसके बदले भारत को सोना-चाँदी प्राप्त होती थी। प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार डा० राबर्टसन ने सन् 1817 में लिखा था कि "हर युग में सोना और चाँदी (विशेषतः चाँदी) दूसरे देशों से हिन्दुस्तान भेजी जाती थी। इसमें हिन्दुस्तान को बहुत लाभ था....।"

ब्रिटिश काल में भी भारत अधिक निर्यात करता रहा किन्तु निर्यात की यह अधिकता भारत में सोने-चाँदी के रूप में न आकर 'होम-चार्जेज' (Home charges) के भुगतान में काम आई। सौभाग्य से द्वितीय महायुद्ध में भारत ने समस्त ऋण ही

---

1. Third Five Year Plan, p. 148.

नहीं चुका दिया, वरन् वह एक लेनदार देश के रूप में भी प्रकट हुआ। अब अपने निर्यात-आधिक्य के फलस्वरूप वह विदेशों से सोना-चाँदी प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता था किन्तु युद्धोत्तर आयात-वृद्धि देश-विभाजन एवं खाद्यान्न की कमी के कारण व्यापार-संतुलन, जो सन् 1945 से पहले तक अनुकूल था, अब उसके प्रतिकूल रहने लगा और यह प्रतिकूलता बढ़ती गई।

सन् 1949 में रुपये का अवमूल्यन किया गया। अवमूल्यन वास्तव में एक आर्थिक आवश्यकता थी। इसके कारण व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता कुछ कम हुई। सन् 1949-50 में यह 109 करोड़ रु० रह गया और 1950-51 में 50 करोड़ ही बचा। इसके बाद में घाटे में पुनः वृद्धि हुई। सन् 1960-61 में घाटा 354·67 करोड़ तक जा पहुँचा।

भारत का भुगतान संतुलन—

युद्धोत्तर काल में अप्रत्यक्ष मदों में वृद्धि हुई। कोलम्बो योजना और इन्डो-अमेरिकन समझौते के कारण भी भारत को पर्याप्त सहायता मिली। सन् 1956-57 से भारत के भुगतान संतुलन की स्थिति का अनुमान निम्न आंकड़ों से लगता है :—

भुगतान-संतुलन

(करोड़ रु० में)

वर्ष	दृश्य मदों का शेष (व्यापार संतुलन)	अदृश्य मदों का शेष	भुगतान संतुलन
1956-57	464·3	152·0	312·3
1957-58	639·5	138·1	501·5
1958-59	452·7	126·6	326·1
1959-60	301·3	112·8	182·6
1960-61	456·1	91·0	365·1

सन् 1959-60 में भुगतान संतुलन की स्थिति में जो सुधार हुआ उसका मुख्य कारण निर्यातों में काफी वृद्धि और आयातों में काफी कमी होना था। सन् 1960-61 में (प्रारम्भिक आंकड़ों के आधार पर) घाटे की अर्थ-व्यवस्था इस प्रकार की गई थी :—

भुगतान संतुलन के घाटे का अर्थ प्रबन्धन

अर्थ प्रबन्ध की मद		राशि (करोड़ रु०)
सरकारी ऋण (शुद्ध)	....	240·2
मुद्रा कोष से ऋण	....	—10·7
अन्य पूंजीगत सौदे	....	75·7
विदेशी विनिमय कोष से अपहरण	....	59·2
विविध		0·7
	कुल	365·1

भारत के व्यापार संतुलन की प्रतिकूलता के कारण—

अब हम उन कारणों पर विचार करेंगे जिन्होंने भारत के व्यापार-संतुलन को प्रतिकूल बना दिया है। ये कारण निम्नलिखित हैं :—

(1) युद्धकाल में निर्यातों की अधिकता—द्वितीय महायुद्ध के समय में भारत ने निर्यात अधिक किन्तु आयात कम किया। निर्यात-आधिक्य में से उसने इंगलैण्ड के प्रति अपना ऋण चुकाया तथा इंगलैण्ड का लेनदार भी बन गया। उसे इंगलैण्ड से स्टर्लिंग-प्रतिभूतियाँ मिलीं, जिनके आधार पर रिजर्व बैंक ने नोट छापे। इससे मुद्रा स्फीति बढ़ गई और परिणामस्वरूप भारत बिक्री के लिये अच्छा किन्तु खरीद के लिये खराब देश बन गया।

(2) खाद्यान्न का आयात—इन्हीं दिनों भारत में खाद्य-समस्या ने बहुत विकराल रूप धारण कर लिया। इसके कई कारण थे :—(i) सन् 1937 में बर्मा का भारत से पृथक्करण ; (ii) भारत की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि ; (iii) 1947 में देश-विभाजन जिससे प्रमुख गेहूं क्षेत्र भारत के लिये विदेशी हो गये एवं ; (iv) लगातार कई वर्षों तक सूखा, अतिवृष्टि, एवं बाढ़ों का प्रकोप। इनसे भी खाद्यान्न का उत्पादन कम हो गया। अपनी खाद्य समस्या को हल करने के लिये भारत ने डॉलर क्षेत्र से अनाज लिया, जहाँ संतुलन पहले से ही प्रतिकूल था।

(3) देश विभाजन—पाकिस्तान बन जाने पर भारत को कच्चे जूट और कपास का बहुत अभाव हो गया, जिसकी पूर्ति के लिये ये पदार्थ उसे पाकिस्तान, सूडान और मिस्र देश से मंगाने पड़े। पाकिस्तान भारत की अपेक्षा अन्य देशों से वस्तुएं मंगाना अच्छा समझता है। इससे भी हमारे नियात कम हो गये और आयात बढ़ गये।

(4) मुद्रा का अवमूल्यन—सन् 1949 में भारत ने तो अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया लेकिन पाकिस्तान ने ऐसा नहीं किया। तब से वहाँ की वस्तुओं के लिये भारत को ऊँचे दाम देने पड़े जबकि पाकिस्तान को किये जाने वाले निर्यातों से विशेष लाभ होना बन्द हो गया। अतः पाकिस्तान को निर्यात कम हो गये जबकि वहाँ से आयातों का मूल्य बढ़ गया। यह भी व्यापार-संतुलन हमारे विपक्ष में होने का एक महत्वपूर्ण कारण था।

(5) निर्यात में कमी—ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं (जैसे तिलहन, लोहा, कपास आदि) जिनकी खपत अब देश में ही बढ़ गई है, इनका प्रयोग करने वाले कारखाने देश में खुलने लगे हैं। फलतः इनका निर्यात कम हो गया। आजकल प्रत्येक देश स्वावलम्बी होने का प्रयास कर रहा है। इस प्रवृत्ति के कारण भी निर्यात में कमी हुई है। निर्यात में कमी होने का एक अन्य कारण यह भी है कि मुद्रा प्रसार के फलस्वरूप देश में उत्पादन व्यय बढ़ गये हैं और निर्यात वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो गई है।

(6) दोषपूर्ण व्यापारिक प्रणाली—अभी हमारा देश इंग्लैंड या जापान की भाँति सस्ती और टिकाऊ वस्तुएं बनाने में अधिक समर्थ नहीं हुआ है। पारस्परिक सहयोग और संगठन का भी अभाव है। विज्ञापन पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। इन कारणों से भी हमारे निर्यातों की मात्रा कम है।

(7) पूंजीगत वस्तुओं का अत्यधिक आयात—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश का औद्योगिक विकास तेजी से हो रहा है। इस हेतु हमें बहुत से पूंजीगत सामान की आवश्यकता है। अतः इनका आयात करना बहुत जरूरी है और औद्योगीकरण की अधिक प्रगति के साथ यह अभी बढ़ता ही जाता है।

(8) गिरा हुआ उत्पादन स्तर—आवश्यक सामग्री का अभाव, श्रमिकों की हड़ताल, एवं प्राकृतिक प्रकोपों के कारण देश में कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन तेजी से नहीं बढ़ पाता। इससे हमें आयात पर निर्भर रहना पड़ता है तथा निर्यात अधिक नहीं बढ़ते।

(9) अन्य कारण—स्वतन्त्रता के पश्चात् विदेशों में दूतावासों पर खर्चा बढ़ गया। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल जब-तब भेजे जाते हैं। विद्याध्यन के लिये विदेशों को जाने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी बढ़ गई है। इन सबका भी अदृश्य मदों पर कुप्रभाव पड़ा है :

भारत के प्रतिकूल संतुलन को सुधारने के उपाय :

युद्ध के पूर्व व्यापार-संतुलन का अनुकूल रहना आवश्यक समझा जाता था, जिससे कि होम चार्जेज का भुगतान होता रहे। लेकिन अब व्यापार-संतुलन की अनुकूलता उतनी आवश्यक नहीं रह गई है। सच तो यह है कि कुछ समय तक भारत के लिये व्यापार-संतुलन को अपने अनुकूल रखना सम्भव भी न होगा। भारत जैसे देश के लिये, जो कि पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विशाल विकास कार्यक्रम चला रहा है संतुलन की प्रतिकूलता एक स्वाभाविक बात है। यदि उसका व्यापार-संतुलन प्रतिकूल है तो इससे केवल यह प्रकट होता है कि योजना की सफलता के लिये उसे भारी मात्रा में मशीनें, कच्चा माल आदि का आयात करना पड़ रहा है, जिनके बिना विकास-कार्यक्रम अधूरे रह जायेंगे। फिर, भारत ने युद्ध काल में काफी पौंड पावना अर्जित कर लिया है, जो एक समय तो 1733 करोड़ रु० तक पहुँच गया था। उसे विश्व बैंक, मुद्रा कोष, अमेरिकन सरकार से विशाल सहायता भी मिल रही है। इनसे वह अपने प्रतिकूल व्यापार-संतुलन का अर्थ प्रबन्धन सहज ही कर सकता है। अतः प्रतिकूल व्यापार-संतुलन कोई घबड़ाने की बात नहीं है।

किन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि व्यापार-संतुलन की प्रतिकूलता कमजोरी का एक चिन्ह है, जो यदि एक अनुचित या दीर्घ अवधि तक बनी रहे, तो निस्सन्देह यह चिन्ता का कारण होगा। अतः सरकार को चाहिये कि इस प्रतिकूलता को सीमित करने का भरसक प्रयत्न करे। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों

ने व विशेषज्ञ समितियों ने जो सुझाव दिये हैं तथा समय-समय पर सरकार द्वारा इन सुझावों पर जो कार्यवाही की गई उसे संक्षेप में नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

(I) निर्यात की वृद्धि—सन् 194८ में नियुक्त की गई गोरवाला निर्यात प्रोत्साहन कमेटी ने भारत के निर्यातों में वृद्धि करने के लिये निम्न सुझाव दिये थे :—(i) निर्यात व्यापार में सरकार कम से कम हस्तक्षेप करे; (ii) निर्यात की वस्तुओं पर कम से कम कर लगाये जाएँ, और कुछ कर तो बिल्कुल ही न लगाये जाएँ, जैसे, विक्रय-कर (iii) भारत के साथ मनमुटाव रखने वाले देशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध यथाशक्ति स्थिर रखे जायँ; (iv) भारतीय वस्तुओं की किस्म श्रेष्ठ होनी चाहिये, जिससे वे अन्य देशों की प्रतियोगिता में टिक सकें; (v) उत्पादकों को कच्चा माल प्राप्त करने की पूर्ण सुविधा देनी चाहिये; (vi) निर्यात की वस्तुओं में सट्टे को बन्द करना देना चाहिये; (vii) भारत में कुछ ऐसे संगठनों की भी स्थापना करनी चाहिये, जो देशवासियों में निर्यात बढ़ाने की भावना पैदा कर सकें।

भारत सरकार ने गोरवाला समिति के सुझावों को स्वीकार कर लिया और आवश्यक कार्यवाही भी की है, जैसे :—

(1) उसने एक **निर्यात सलाहकार परिषद की स्थापना** की, जिसका काम निर्यात बढ़ाने के सम्बन्ध में परामर्श देना है और इस समय विभिन्न वस्तुओं के लिये अलग-अलग **निर्यात प्रोत्साहन काउन्सिलें (Export Promotion Councils)** भी कार्यशील हैं जो स्वदेशी उत्पादकों और विदेशी आयात-कर्त्ताओं के मध्य सम्पर्क स्थापित कराती है, स्वदेशी उत्पादकों को समझाती हैं कि उन्हें विदेशियों की माँग सावधानी से पूरी करनी चाहिए, विदेशी बाजारों में विज्ञापन भी करती हैं, आदि।

(2) निर्यात बढ़ाने के लिये सरकार ने **निर्यातकों को विशेष प्रोत्साहन देने की योजना** भी बनाई है, जिसके अन्तर्गत निम्न उपायों का समावेश है:—(अ) पिछले वर्ष की तुलना में नए वर्ष में अधिक निर्यात करने पर आय कर रियायती दर से लगाना। (आ) डाक पार्सल दरों में कमी करना। (इ) कुछ वस्तुओं के लिये निःशुल्क लाइसेन्स देना। (ई) कुछ निर्यात की गई वस्तुओं पर उत्पादन-शुल्क की वापिसी और (उ) निर्यात की कुछ वस्तुओं के लिये रेल-भाड़ों में कमी।

(3) निर्यात जोखिम बीमा निगम की स्थापना की गई है, जिसका कार्य निर्यातकों की जोखिम को कम करना है ताकि वे निःसंकोच निर्यात कर सकें। सन् 1961 में निगम ने 426 पालिसियाँ जारी की थीं और उन पर 13·02 करोड़ का दायित्व उठाया।

(4) विदेशों को, वहाँ के बाजारों का अध्ययन करने तथा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने व बढ़ाने के लिये अनेक सरकारी एवं गैर सरकारी

प्रतिनिधिमंडल भेज गये। मध्य व सुदूर पूर्व के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाने का विशेष यत्न किया जा रहा है।

(5) उद्योगों को इस बात के लिये राजी किया जाता है कि वे अपने उत्पादन का कम से कम 15% भाग निर्यात के लिये सुरक्षित रखें।

(II) आयातों पर प्रतिबन्ध—निर्यातों में वृद्धि के साथ-साथ आयातों को भी कम से कम रखने का प्रयास करना आवश्यक है। इस हेतु भारत सरकार ने निम्न उपाय किये हैं :—(i) एक आयात सलाहकार परिषद (Import Advisory Council) की स्थापना की है। इसका काम आयात व्यापार का नियन्त्रण करने के सम्बन्ध में परामर्श देना है। (ii) आयात के लाइसेन्स की प्रथा चलाई गई है। जब तक केन्द्रीय वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय से लाइसेन्स न लिये जायें तब कोई व्यक्ति विदेशों से आयात नहीं कर सकता। लाइसेन्स प्राप्त व्यापारी भी केवल निर्दिष्ट मात्रा में ही आयात कर सकते हैं। (iii) कई वस्तुयें जो पहले 'स्वतन्त्र आयात की सूची' (Open General Licence) में थीं, अब उसमें से हटा कर नियन्त्रित आयात के अन्तर्गत रख दी गई हैं। (iv) जिन वस्तुओं के आयात के बिना देश काम चला सकता है अथवा जिनका उत्पादन देश में ही किया जा सकता है, उनका आयात पूर्णतः रोक दिया गया है। (v) आयात वस्तुओं की एक प्राथमिक सूची बनाई गई है, जिसमें उपभोग वस्तुओं की अपेक्षा पूंजीगत वस्तुओं के आयात को प्रिफरेन्स दिया जाता है। (vi) प्रति छटे माह आयात नीति पर पुनिवचार किया जाता है ताकि उसे भुगतान-संतुलन सम्बन्धी नवीन स्थिति के साथ समायोजित किया जा सके। (vii) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्रों से आयातों को सुलभ मुद्रा क्षेत्रों की दिशा में मोड़ा जा रहा है। स्टर्लिंग वाले देशों से घाटे की स्थिति होने पर उन देशों से भी आयात करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। (viii) 'स्थगित भुगतान पद्धति' (Deferred Payment System) आधार पर आयात करने की व्यवस्था की गई है।

(III) 'अधिक उत्पादन करो' आन्दोलन – जिस प्रकार स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया गया था और खाद्य समस्या को हल करने के लिये 'अधिक खाद्यान्न उपजाओ' चलाया गया, उसी प्रकार सरकार ने 'अधिक उत्पादन करो आन्दोलन' छेड़ दिया है। उत्पादकता को बढ़ाने के लिये बहुमुखी प्रयास जारी हैं, जैसे—बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना, हड़तालों पर अंकुश रखना, आधुनिकीकरण की योजनायें लागू करना आदि। वास्तव में बिना अधिक उत्पादन के अधिक निर्यात का नारा बेकार है।

(IV) मुद्रा-स्फीति पर नियंत्रण—मुद्रा-स्फीति पर नियन्त्रण रखने से देश में सामान्य मूल्य-स्तर कम हो जायेगा, और इससे निर्यात प्रोत्साहित होंगे। इसी उद्देश्य से सरकार ने 'बचत आन्दोलन' का भी गणेश किया है। मूल्य नियन्त्रण एवं कोटे आदि की पद्धति भी अपनाई है।

(V) अवमूल्यन—जब मुद्रा का अवमूल्यन किया जाता है, तो विदेशों में देशी माल की कीमतें घटने लगती हैं जबकि स्वदेश में विदेशी वस्तुओं की कीमत बढ़ जाती है। इससे आयात निरुत्साहित और निर्यात प्रोत्साहित होते हैं। अतः भारत सरकार ने सन् 1949 में रुपये का अवमूल्यन कर दिया, जिससे व्यापार-संतुलन की प्रतिकूलता काफी कम हुई।

(VI) विनिमय नियन्त्रण—भारत सरकार ने रिजर्व बैंक को विनिमय नियंत्रण सम्बन्धी विस्तृत अधिकार दे दिये हैं। विनिमय नियन्त्रण का उद्देश्य यह है कि व्यर्थ वस्तुओं पर विदेशी मुद्रा का व्यय न हो। देश को व्यापारियों को अपने विदेशी विनिमय सम्बन्धी सभी सौदे रिजर्व बैंक के द्वारा करने पड़ते हैं। विनिमय-नियंत्रण सम्बन्धी नियमों के तोड़ने वाले व्यक्तियों को कठोर दण्ड दिया जाता है।

(VII) द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते—भारत सरकार ने अभी हाल में अनेक देशों से द्विपक्षीय व्यापारिक समझौते (Bilateral Trade Agreements) किये हैं। इन समझौतों के अन्तर्गत विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना किये बिना आवश्यक माल सम्बन्धित देशों से आयात किया जा सकता है तथा निर्यात बाजार भी प्राप्त हो जाता है। रूस, इटली, पोलैंड, आदि देशों से ही समझौते सम्पन्न हुए हैं।

(VIII) राजकीय व्यापार निगम—भारतीय आयात-कर्त्ताओं के कुछ अवांछनीय कार्यों से खिन्न होकर भारत सरकार ने व्यापार में भी हस्तक्षेप किया है। उसने सन् 1956 में एक राजकीय व्यापार निगम (State Trading Corporation) की स्थापना की। साथ ही बैंकिंग और बीमा का राष्ट्रीयकरण भी कुछ सीमा तक कर दिया। व्यापार निगम के द्वारा अब उन देशों से व्यापार बढ़ाने में सुविधा हो गई है, जहाँ समाजवादी सरकारों का शासन है।

(IX) अन्य उपाय—निर्यात की वृद्धि के लिये किस्म-सुधार पर भी ध्यान दिया गया है। इसके लिये आधुनिक उत्पादन प्रणालियाँ अपनाने पर जोर दिया जाता है। राष्ट्रीय मान संस्था (Indian Standard Institute) उत्पादन की किस्म के स्तर को ऊँचा रखने में बड़ा योग दे रही है। विभिन्न राज्य सरकारों ने भी अपने किस्म-नियंत्रण विभाग स्थापित कर दिये हैं। अब तक राष्ट्रीय मानक संस्था ने 1000 से भी अधिक प्रतिमान प्रकाशित किये हैं।

अध्याय 6

भारत की विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीति

(INDIA'S FOREIGN TRADE POLICY)

Q. 58. Write a short essay on the policy of Discriminating Protection in India.

भारत में विवेचनात्मक संरक्षण की नीति

प्रारम्भिक :

सन् 1923 के पूर्व भारत सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई हुई थी तथा उसकी प्रशुल्क नीति रेवेन्यू दृष्टिकोण से ही निर्धारित होती थी। जहाँ तक आयात का सम्बन्ध है कोई ड्यूटी ऐसी नहीं लगाई जाती थी जो देशी उद्योग को संरक्षण दे सके और जो वस्तु ब्रिटेन में उत्पादन की जा सकती है उस पर कोई ड्यूटी तब तक नहीं लगाई जाती थी जब तक कि उतनी ही ड्यूटी भारतीय उत्पत्ति पर भी न लगी हों। इस प्रकार उन दिनों आयात करों का उद्देश्य गृह-उद्योगों को संरक्षण देने का न होकर रेवेन्यू अर्जित करना था। यदि किसी रेवेन्यू टैरिफ के कारण कुछ उद्योग देश में पनप गये और इससे रेवेन्यू में गिरावट आई, तो इसके सुधार के लिये टैरिफों में तत्काल ही कमी कर दी जाती थी, चाहे सम्बंधित उद्योगों पर इसका कितना ही बुरा प्रभाव क्यों न पड़े ? किन्तु कुछ कारणों से स्वतंत्र व्यापार की नीति तो छोड़ना अनिवार्य हुआ। ये परिस्थितियाँ निम्नलिखित थीं :—

(i) प्रथम महायुद्ध में रेवेन्यू बढ़ाने के लिये सरकार ने जो ऊँचे आयात कर लगाये थे उनके प्रोत्साहन से कई नये उद्योग पैदा हो गये तथा स्थापित उद्योगों ने भी बहुत विस्तार कर लिया। अतः यह अनुभव किया गया कि टैरिफ संरक्षण की नीति द्वारा भविष्य में भी काफी आर्थिक विकास संभव हो सकेगा। इस बात को औद्योगिक कमीशन 1916-18) ने भी स्वीकार किया था।

(ii) सन् 1931 में जो राजनैतिक सुधार हुये उनसे भी यह अनुभव किया गया कि राजनैतिक प्रगति, प्राशुल्किक स्वतन्त्रता तथा देश के औद्योगिक एवं आर्थिक प्रसाधनों के विकास का अधिकार हुये बिना, कदापि संभव न थी।

(iii) सारे विश्व में यह बात अधिकाधिक अनुभव की जा रही थी कि पिछड़े देशों के लिये स्वतंत्र व्यापार की नीति से विशेष लाभ नहीं होगा। इनके औद्योगिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि शिशु-उद्योगों को संरक्षण दिया जाय।

प्रशुल्क आयोग सन् 1921 :

इन परिस्थितियों के कारण सन् 1921 में एक प्रशुल्क आयोग नियुक्त किया गया, जिसे भारत की प्रशुल्क नीति को जाँचने व सुझाव देने का कार्य सौंपा गया। कमीशन ने अपनी जांच के दौरान में यह देखा कि यद्यपि भारत एक साधन सम्पन्न देश है तथापि इन साधनों का प्रयोग नहीं किया जा सका है। अतः कमीशन ने संरक्षण के पक्ष में मत प्रकट किया। उसने पूर्ण संरक्षण की सिफारिश तो नहीं की, जिसे किसी भी और प्रत्येक उद्योग को बिना भेदभाव प्रदान किया जा सके वरन् उसने केवल योग्य उद्योगों को ही संरक्षण देने का सुझाव दिया। प्रार्थी उद्योग संरक्षण पाने के योग्य हैं या नहीं, यह निर्णय करने के लिये कमीशन ने कुछ शर्तें निर्धारित की थीं। इसे ही 'विभेदात्मक संरक्षण' कहते हैं।

विभेदात्मक संरक्षण या ट्रिपिल फार्मूला :

कमीशन ने तीन मुख्य शर्तें निर्धारित की थीं, जोकि त्रिसूत्र (Triple Formula) के नाम से विख्यात हैं। ये शर्तें निम्न थीं :—

(1) "उद्योग ऐसा होना चाहिये, जिसे प्राकृतिक लाभ (जैसे कच्चे माल की असीमित पूर्ति, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति) प्राप्त हो अथवा जिसे स्वदेश में विशाल बाजार की सुविधा हो।"

(2) "उद्योग ऐसा होना चाहिये जो संरक्षण की महायता के बिना, या तो बिल्कुल भी विकसित नहीं हो सकता हो अथवा इतनी शीघ्रता से विकसित नहीं हो सकता हो जितना शीघ्र देश के हितों को ध्यान में रखते हुए आवश्यक है। संरक्षण का मुख्य उद्देश्य या तो ऐसे उद्योगों को विकसित करना है जो अन्यथा विकसित नहीं हो सकते हैं, अथवा, उद्योगों को तेजी से विकसित करना है।"

(3) "उद्योग ऐसा होना चाहिये जो कालान्तर में संरक्षण के बिना ही विश्व-प्रतियोगिता का सामना करने में समर्थ हो जाय। यह शर्त रखना इसलिये आवश्यक है कि हम उद्योगों को केवल अस्थाई संरक्षण देने के पक्ष में हैं।"

उपरोक्त तीन मुख्य शर्तों के अतिरिक्त प्रशुल्क आयोग ने निम्न सहायक शर्तें भी निर्धारित की थीं, जिन्हें संरक्षण देने का निर्णय करते समय विचार में लेना आवश्यक था :—(i) उन उद्योगों को प्रिफरेन्स दिया जाय, जो कि घटती हुई लागत के अधीन हैं तथा जिन्हें बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ मिलने की सम्भावना है ; (ii) जो उद्योग कालान्तर में देश की सम्पूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ हो सकते हैं उन्हें भी प्रिफरेन्स देना चाहिये ; सामरिक महत्व एवं राष्ट्रीय सुरक्षा के उद्योगों को तथा आधार-भूत उद्योगों को संरक्षण दिया जा सकता है भले ही वे 'त्रिसूत्र' की शर्तों को पूरा करते हों।

प्रशुल्क आयोग ने यह भी सुझाव दिया कि एक स्थाई टैरिफ बोर्ड गठित किया जाय जिसका कर्त्तव्य उद्योगों के संरक्षण सम्बन्धी दावों की जाँच-पड़ताल करना, टैरिफ के प्रभावों का विश्लेषण करना तथा सरकार व विधान सभा की कमीशन द्वारा निर्धारित नीति को कार्यान्वित करने में उचित परामर्श देना हो। कमीशन ने शर्तयुक्त इम्पीरियल प्रिफरेन्स के लिये भी सिफारिश की थी यद्यपि इसे उसने भारत के लिये विशेष आर्थिक महत्व का नहीं माना।

उपरोक्त सिफारिशों को आयोग के 11 सदस्यों में से 5 ने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। उसकी आलोचना मुख्य रूप से उन तीन शर्तों के सम्बन्ध में थी, जिनकी पूर्ति करने पर ही उद्योग को संरक्षण दिया जा सकता था। सच तो यह है कि ब्रिटिश हितों का आयोग के अनेक सदस्यों पर गहरा प्रभाव था। उसके मस्तिष्क में यही विचार मँडरा रहा था कि अपने घर (इंगलैंड) के स्वार्थों को किसी भी कीमत पर ठेस न पहुंचे। इस बात को उन सदस्यों ने स्वयं भी स्वीकार किया था।[1]

संरक्षण नीति के साथ इतनी कठिन शर्तें लगा दी गई थीं कि उनसे औद्योगिक प्रगति में बड़ी बाधा पड़ने की संभावना हो गई।

(1) पहली और तीसरी शर्तें व्यवहारतः एक ही समान थीं और इनका आशय यह था कि ऐसे किसी उद्योग को संरक्षण नहीं देना चाहिये जो कि समाज पर स्थाई भार बन जाय। वास्तव में पहली शर्त तीसरी शर्त का स्पष्टीकरण करने वाली थी। लेकिन इन दोनों को पृथक्-पृथक् कर दिया गया और यह स्पष्ट रूप से निर्धारित कर दिया गया कि उद्योग को तुलनात्मक लाभ होने चाहिये (जैसे श्रम की असीमित पूर्ति या विशाल गृह बाजार)। परिणाम यह हुआ कि अनेक दशाओं में वे लाभ जो केवल उदाहरण के रूप में गिनाये गये थे कठोर शर्तें बन गईं, जिन्हें पूरा करने पर ही संरक्षण मिल सकता था।

(2) दूसरी शर्त सत्याभास (Truism) है। वस्तुतः इसे 'शर्त' ही नहीं कहना चाहिये, क्योंकि जब कि किसी उद्योग को प्रतिस्पर्धा का भय नहीं है, तब वह संरक्षण के लिये प्रार्थना ही क्यों करने लगा। यही नहीं विश्व में कोई भी देश ऐसा नहीं है जोकि अपने उद्योगों को पूर्वारम्भ के लाभ के बिना या संरक्षण-नीति के बिना ही विकसित कर सका हो। संरक्षण के अलावा, सभ्य देशों की सरकारों ने तो अपने उद्योगों का विकास करने के लिये उन्हें शिपिंग सुविधाएँ, आर्थिक सहायता, अनुकूल रेल भाड़ा दरें, औद्योगिक साहस सम्बन्धी सुविधाएँ भी दी हैं। किसी भी

---

1. "We do not forget that the U. K. is the heart of the Empire, on its strength depends the strength and cohesion of the Empire. Unless U. K. maintains its export trade, heart of the empire will weaken and this is a contingency to which no part of the Empire can be indifferent."

देश के इतिहास में संरक्षण इतने अधकचरे एवं उपेक्षित हृदय से नहीं दिया गया जिस तरह से भारत में दिया गया है।

(3) संरक्षण की नीति में एक मौलिक दोष यह भी है कि संरक्षण को सामान्य आर्थिक विकास का साधन न मानते हुए केवल कुछ विशेष उद्योगों को विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने में समर्थ बनाने का एक उपाय मात्र माना गया और वह भी तब अमल में लाने के लिये जबकि सम्बन्धित उद्योग प्रार्थना करे। ऐसे दृष्टिकोण को अपनाने पर आधारभूत एवं कुन्जी उद्योगों के लिये विकास करने का कोई अवसर नहीं रहता। यही नहीं, केवल वही एकाकी उद्योग पनप सकते थे जिनको संरक्षण मिले और स्थापित सम्बन्धित उद्योगों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया गया।

विभेदात्मक संरक्षण व्यवहार में :

जो भी हो, सरकार ने प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों को स्वीकृत कर लिया तथा फर्वरी 1923 में 'त्रिसूत्र' पर आधारित एक टैरिफ संरक्षण की नीति अपनाई। जुलाई 1923 में टैरिफ बोर्ड भी संगठित कर दिया गया। टैरिफ बोर्ड ने अनेक उद्योगों के बारे में संरक्षण सम्बन्धी जांच की तथा उसकी सिफारिशों के फलस्वरूप लोह एवं स्पात तथा इनसे सम्बन्धित (Allied) उद्योग, सूती वस्त्र एवं सैरीकल्चर उद्योग, बेम्बू पेपर उद्योग, दियासलाई, चीनी, स्थूल रसायन एवं स्वर्णतार उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हुआ। सीमेन्ट, कोयला, कांच एवं तेल उद्योग को संरक्षण देना अस्वीकृत कर दिया गया।

विभेदात्मक संरक्षण की नीति ने, दोषों के होते हुए भी, बहुत अच्छे परिणाम दिखलाये। भारतीय लोह एवं स्पात, सूती वस्त्र और अन्य उद्योगों की प्रगति का श्रेय बहुत हद तक इस नीति को ही है। टैरिफ संरक्षण की नीति की सफलता इस तथ्य से प्रदर्शित होती है कि इन उद्योगों की उत्पत्ति काफी बढ़ गई और कुछ इने-गिने उद्योगों को छोड़कर शेष उद्योगों में उत्पादन-लागत विदेशों की उत्पादन लागत से प्रतिस्पर्धात्मक बन गई। अनुमान लगाया गया है कि संरक्षण उद्योगों के वर्ग में रोजगार सन् 1923 में 580 हजार से बढ़कर सन् 1937 में 881 हजार तक पहुँच गया अर्थात् 46·8% वृद्धि हुई, जबकि इसी अवधि के अन्दर असंरक्षित उद्योगों में रोजगार की वृद्धि केवल 23·6% हुई थी संरक्षण के फलस्वरूप द्वितीयात्मक रोजगार में भी काफी वृद्धि हो गई।

संरक्षण उद्योगों पर निर्भर कुछ नये उद्योग भी स्थापित हुए जैसे—(i) लोह एवं स्पात उद्योग के विकास ने टिन प्लेट, तार, इंजीनियरिंग, लोकोमोटिव, एवं कृषि उपकरण उद्योगों को बढ़ावा दिया। (iii) कागज उद्योग की प्रगति ने (Cellulose industry) से सम्बन्धित समस्याओं पर अनुसंधान प्रोत्साहित किये, (iii) सूत्री वस्त्र उद्योग ने स्टार्च उद्योग को विकसित किया ; (iv) चीनी उद्योग ने

अपने अनेक उपोत्पादों (By-Products) के प्रयोग के साधनों की खोज को प्रोत्साहन दिया।

कृषि पर भी संरक्षण नीति का अच्छा प्रभाव पड़ा। सूती वस्त्र उद्योग के विस्तार से कपास की खेती करने वाले कृपकों को बहुत लाभ हुआ और मूल्यवान लम्बे एवं मध्यम रेशे की कपास के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला। सन् 1923-24 में कपास की खेती का क्षेत्र 15 मि० एकड़ था, जो सन् 1936-37 में 25 मि० एकड़ हो गया। गन्ने की कृषि करने वाले किसानों को और भी अधिक लाभ हुए गन्ने का उत्पादन-क्षेत्र काफी बढ़ गया, उन्नत किस्में उत्पन्न की जाने लगीं तथा प्रति एकड़ पैदावार भी काफी बढ़ गई। सन् 1930-31 में गन्ने की खेती का क्षेत्र 26 लाख एकड़ से बढ़कर सन् 19-9 में 36 लाख एकड़ के लगभग हो गया। इस प्रकार, "चूंकि संरक्षित उद्योगों ने कच्चे मालों की अधिकाधिक मात्रा उपभोग की थी, इसलिये मूल्यों में गिरावट की प्रवृत्ति मन्द पड़ गई तथा तत्कालीन विश्व परिस्थितियों के परिणामों पर शुभ प्रतिबन्ध लग गये।"[1]

सरकार की विभेदात्मक संरक्षण नीति के दोष :

(1) प्रशुल्क आयोग ने जो शर्तें निश्चित की थीं उनका अक्षरशः पालन इस तरह किया गया कि **अनेक उद्योग संरक्षण से वंचित हो रहे**।[2] उदाहरण के लिये, कांच एवं ऊन उद्योग को इस आधार पर संरक्षण देना अस्वीकृत कर दिया गया कि देश में आवश्यक कच्चा माल (सोडा एश एवं कच्चा ऊन) उपलब्ध नहीं था। सल्फर की पर्याप्त पूर्ति न होने के आधार पर स्थूल रसायन उद्योग को भी संरक्षण नहीं दिया गया यद्यपि यह देश के लिये अत्यधिक महत्व का आधारभूत उद्योग था।

(2) संरक्षणात्मक ड्यूटियां लगाने के साथ-साथ **अन्य आवश्यक कदम नहीं उठाये गये**, जैसे औद्योगिक शिक्षा एवं अनुसंधान। वास्तव में सरकार की ओर से औद्योगीकरण के प्रति कोई सच्ची कामना नहीं थी।

(3) सरकार को स्वतन्त्र व्यापार सिद्धान्तों से अधिक प्रेम था और **संरक्षण के प्रति उपेक्षा भाव था**। ऐसी दशा में संरक्षण की उपयोगिता बहुत कम हो गई। यद्यपि प्रशुल्क आयोग ने प्रारम्भ में यह सिफारिश की थी कि एक स्थाई टैरिफ बोर्ड की नियुक्ति की जाय किन्तु वास्तव में Adhoc Boards ही स्थापित किये गये तथा उनके सदस्यों में बार-बार परिवर्तन किया जाता था। इससे दीर्घकालीन

---

1. "So far as the protected industries have consumed large and increasing quantities of raw material, they have tended to stem the tide of a fall in prices and acted as a welcome brake to the consequences of abnormal world factors."—(L. C. Jain—The Working of the Protective Tariff in India, p. 14)
2. "The policy of discriminating protection led in practice to an indiscriminating refusal of protection."

दृष्टिकोण से विचार करने में, अनुभव का संचय और कुशल टेक्नीक का निर्माण होने में बड़ी बाधा पड़ी।

(4) संरक्षणात्मक ड्यूटियों की प्रभावशालीनता इस कारण भी कम हो गई थी कि आयात-मूल्यों के परिवर्तनों के साथ (जो कि राशिपतन, विनिमय ह्रास एवं अन्य आपत्तिजनक प्रथाओं के कारण हुए) संरक्षण की मात्रा को समायोजित करने में बहुत देरी लगती थी।

(5) विदेशी औद्योगिक उपक्रमों ने भी अड़ंगे की नीति अपनाई थी :— उदाहरण के लिये यूरोप के व्यापारिक हितों ने प्रारम्भ से ही संरक्षण की नीति का विरोध किया।[1] दियासलाई उद्योग की दशा में यूरोपियन स्वार्थों ने स्वीडन की मैच कम्पनी के इस तर्क का समर्थन किया था कि देशी उद्योग कभी भी आयातित वस्तु से प्रतिस्पर्धा न कर सकेगा। आसाम के चाय-उत्पादकों के विरोध के कारण प्लाइवुड एवं टी चैस्ट उद्योग को संरक्षण से वंचित रहना पड़ा। ऊन उद्योग की दशा में सरकार ने वी० आई० सी० द्वारा टैरिफ बोर्ड के समक्ष साक्षी देने से इन्कार करने को ही संरक्षण की अस्वीकृति का एक बहाना बना लिया।

उपसंहार :

उक्त दोषों के कारण ही विभेदात्मक संरक्षण की नीति को 'संरक्षण रहित' (Without Protection) बताया गया है।[2] प्रो० अदारकर का कहना था कि इस नीति ने देश को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचाया, केवल मामूली सहायता मात्र ही

---

1. "The influence of Manchester Capitalists is written large in the Indian tariff history. They have been as anxious to preserve the Indian market for the benefit of British manufacturers, merchants, bankers and shippers as American capitalists have to preserve the American market for themselves." (Dr. Buchanan : Development of Capitalistic Enterprise in India, p. 465.)
2. "As we see it today there was a fundamental defect in the approach of the last Fiscal Commission to the problem of protection. Protection was not visualised as an instrument of general economic development but was viewed as a means of enabling particular industries to withstand foreign competition, when they applied for protection. This resulted in somewhat lopsided development. with such an approach, it was not possible for the key and basic industries to develop. It is also likely that the protection of isolated industries without a positive effort being made at the same time to provide facilities for the establishment of allied industries added to the total burden on the community." (—Fiscal Commission Report, 1950, p. 49.)

की थी। क्योंकि उद्योगों को उपेक्षापूर्वक एवं हिचकिचाहट के साथ संरक्षण दिया गया।[1]

☞ Q. 59 **Briefly discuss India's post war Tariff Policy.**

युद्धोत्तरकाल में भारत की प्रशुल्क नीति

प्रारम्भिक—अंतरिम प्रशुल्क आयोग :

द्वितीय महायुद्ध की प्रारम्भिक अवस्था में ही यह अनुभव हो गया कि भारत में अनेक अनिवार्य उद्योगों का अभाव है। चूंकि युद्ध-प्रयासों को गति एवं दृढ़ता प्रदान करने के लिये इन उद्योगों की स्थापना करना आवश्यक था, इसलिये भारत सरकार ने सन् 1940 में यह घोषणा की, कि युद्धकाल में प्रारम्भ किये गये उद्योगों को पर्याप्त संरक्षण दिया जायगा बशर्ते उनका स्वस्थ व्यापारिक परिपाटी पर संगठन हुआ हो। इससे भारत में टैरिफ संरक्षण का क्षेत्र विस्तृत हो गया और सरकार को टैरिफ पालिसी को एक नया रूप मिला। लेकिन, क्योंकि एक दीर्घकालीन टैरिफ नीति का निर्माण तथा एक स्थाई मशीनरी की व्यवस्था करने में बहुत देर लग जाती, इसलिये भारत सरकार ने 3 नवम्बर 1945, को एक अंतरिम टैरिफ बोर्ड युद्ध-काल में स्थापित हुए उद्योगों के संरक्षण देने के दावे की जाँच-पड़ताल करने के लिये प्रयुक्त किया। किसी उद्योग को संरक्षण देने या न देने की सिफारिश करने में इन्टेरिम टैरिफ बोर्ड का पथप्रदर्शन करने के लिये निम्न शर्तें निर्धारित की गईं :—

(1) कि उसका संचालन स्वस्थ व्यापारिक ढङ्ग से किया जाता हो, एवं

(2) (अ) कि उद्योग को प्राप्त प्राकृतिक या आर्थिक लाभों तथा उसकी वास्तविक या संभावित लागतों को ध्यान में रखते हुए यह प्रतीत होता है कि वह एक उचित अवधि के भीतर इतना विकसित हो जायगा कि बाद की, संरक्षण या सरकारी सहायता के बिना ही, सफलतापूर्वक कार्य जारी रख सकेगा, अथवा,

(ब) प्रार्थी-उद्योग ऐसा हो जिसे राष्ट्रीय हित में संरक्षण (या सहायता) देना आवश्यक है तथा ऐसी सहायता की संभावित लागत अत्यधिक नहीं होगी।

जब उक्त शर्तों के आधार पर संरक्षण का दावा स्थापित हो जाय, तो टैरिफ बोर्ड यह सिफारिशें करेगा कि (i) किस दर से तथा उद्योग की किन वस्तुओं के सम्बंध

---

1. It has vouchsafed nothing better than a perfunctory assistance, indifferently and grudgingly rendered to industries whose subsequent development has been left to take its own course. —(B. P. Adarkar)

में संरक्षणात्मक ड्यूटी लगाई जाय ? (ii) उद्योग की रक्षा या सहायता के लिये क्या अतिरिक्त कदम उठाये जायें ? एवं (iii) किस अवधि तक (जो 3 वर्ष से अधिक न हो) उक्त टैरिफ या अन्य उपाय चालू रहें ?

नवीन नीति की आलोचना :

सरकार द्वारा निर्धारित उक्त नये फार्मूले के बारे में यह कहा गया कि वह नीति का एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है, क्योंकि इसमें आर्थिक लाभों पर आधारित उद्योग की संभावित या वास्तविक लागत पर बल दिया गया है। उक्त फार्मूला व्यापक है तथा राष्ट्रीय हितों को उचित महत्व देता है। किन्तु दुर्भाग्य से ये विचार निम्न आधार पर उचित नहीं ठहराये गये :—

(1) सरकार द्वारा निर्धारित पहली शर्त के कारण Embroyonic industries टैरिफ बोर्ड के विचार क्षेत्र से छूट गईं क्योंकि वे उस समय विद्यमान नहीं थीं और यह कहा गया कि उनके बारे में सही तथ्य उपलब्ध नहीं हैं।

(2) दूसरी शर्त भी बहुत ढीले-ढाले शब्दों में व्यक्त की गई थी तथा विभेदात्मक संरक्षण के ट्रिपिल फारमूले से बहुत मिलती-जुलती थी।

(3) इन्टैरिम टैरिफ बोर्ड केवल दो वर्ष के लिये नियुक्त किया गया था, तथा वह केवल 3 वर्ष तक के लिये संरक्षण स्वीकार कर सकता था। यह अवधि इतनी अल्प थी कि बोर्ड संरक्षण के प्रभावों का उचित रूप से अध्ययन भी नहीं कर सकता था और न उद्योगों को ही इतना पर्याप्त समय मिलता था कि वे संरक्षण के बिना ही काम चला सकने योग्य बन सकें।

अंतरिम टैरिफ बोर्ड ने सरकार को 42 मामलों में सिफारिशें की थी जबकि उसके सामने 49 मामले रखे गये थे। उसने 38 युद्धकालीन एवं 4 अन्य उद्योगों के बारे में रिपोर्ट दी थी और युद्धकालीन उद्योगों के लिये पर्याप्त संरक्षण देने का सुझाव दिया। चीनी उद्योग को संरक्षण जारी रखने तथा सूती वस्त्र, स्पात एवं कागज उद्योगों से संरक्षण हटा लेने की सिफारिश भी गई।

पुनर्गठित टैरिफ बोर्ड :

नवम्बर सन् 1947 में टैरिफ बोर्ड का पुनर्गठन किया गया और अन्तरिम बोर्ड के कर्त्तव्यों के अतिरिक्त निम्न कर्त्तव्य भी उसे सौंपे गये :—

(i) जब सरकार आवश्यक समझे तब देश में उत्पन्न की गई वस्तुओं की उत्पादन लागतों की जाँच-पड़ताल करना तथा मूल्य पता लगाना व रिपोर्ट देना।

(ii) सरकार को उन उपायों का सुझाव देना जो कि उद्योगों को विदेशों की राशिपतन-कार्यवाहियों से बचाने के लिये आवश्यक हों ;

(iii) ड्यूटियों के प्रभावों का अध्ययन करना; एवं

(iv) यह देखना कि संरक्षण देने के साथ जो शर्तें जोड़ी गई थीं उनका पूर्णतः पालन हो रहा है या नहीं तथा संरक्षित उद्योग कुशलतापूर्वक सचालित किये जा रहे हैं या नहीं।

पुनर्गठित टैरिफ बोर्ड के कार्यकलापों की प्रमुख विशेषतायें निम्न थीं :—

अनेक उद्योगों की दशा में, जिन्हें पहले से ही संरक्षण प्राप्त था, संरक्षण की स्वीकृति केवल 3 वर्ष तक की अल्प अवधि के लिये दी गई। इससे संरक्षण का उद्देश्य अपूर्ण रह गया। चूंकि उद्योगपतियों को यह निश्चय नहीं था कि टैरिफ संरक्षण भविष्य में जारी रहेगा या नहीं, इसलिये उन्होंने उद्योग स्थापित नहीं किये यद्यपि ऐसा करना लाभदायक था।

(2) **पुनर्गठित टैरिफ बोर्ड ने अनेक नये उद्योगों को संरक्षण देने का सुझाव दिया** ; जैसे साइकिल-पुर्जे, ग्राइंडिंग व्हील्स, कांच, सोडा एवं सूती वस्त्र मशीनरी, मशीन पेंच, प्लास्टिक, पेंसिल, बटन मैन्यूफैक्चरिंग आदि। इससे भारत के औद्योगिक विकास की कतिपय दुर्बलताएँ (Gaps) दूर हो गईं।

(3) **कुछ उद्योगों को विभिन्न आधारों पर संरक्षण देने से मना कर दिया गया।** जैसे, लिवर एक्सट्रैक्ट, कॉपर सल्फेट, स्लेट एवं स्लेट पैन्सिल उद्योगों को इस आधार पर संरक्षण नहीं दिया गया कि भारत में इन वस्तुओं के विक्रय-मूल्य आयात-मूल्यों से कम थे, जिससे इन्हें संरक्षण देने का कोई औचित्य नहीं है। इलैक्ट्रिक फैन उद्योग के बारे में कहा गया कि वर्तमान रेवेन्यू ड्यूटी से ही उन्हें पर्याप्त संरक्षण मिल रहा है और यदि उद्योगपति चाहें तो इतने ही संरक्षण के अन्तर्गत उद्योग का भली प्रकार विकास कर सकते हैं। मिल्क पाउडर एवं छोटे औजारों के उद्योग के बारे में कहा गया कि फिलहाल उनके पक्ष में संरक्षण का कोई आधार नहीं है।

(4) **कई उद्योग जिन्हें भूतकाल में संरक्षण प्राप्त था, संरक्षण से मुक्त कर दिये गये।** जैसे—फासफोरस, फासफोरिक एसिड, पोटेशियम परमैंगनेट, स्टील, बैल्ट एवं चीनी निर्माण, **संरक्षण से मुक्त** कर दिये गये। कुछ विशेषज्ञों के अनुसार इस अवस्था पर संरक्षण हटाना जल्दबाजी थी क्योंकि संरक्षित उद्योगों को अपनी योग्यता दिखाने के लिये कम से कम 25-30 वर्ष का समय दिया जाना चाहिये था।

(5) **टैरिफ बोर्ड ने न केवल आयात-करों द्वारा वरन् आर्थिक सहायता (Subsidies) व अन्य सरकारी मदद के द्वारा भी संरक्षण देने का सुझाव दिया,** जैसे—कुछ उद्योगों की सहायता के लिये विकास कोष स्थापित करने का सुझाव दिया गया। इससे भारत में टैरिफ संरक्षण अधिक व्यापक एवं पूर्ण बन गया।

टैरिफ बोर्ड ने कई जाँचें (Inquiries) कीं और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, उद्योगों को विकसित करने तथा अनुचित कार्यकलापों को रोकने के लिये अमूल्य सुझाव दिये।

प्रशुल्क आयोग 1949-50 :

इस बीच राष्ट्रीय सरकार ने सन् 1948 में अपनी औद्योगिक नीति के साथ-साथ टैरिफ नीति भी घोषित की। इस घोषणा में कहा गया था कि, "सरकार की टैरिफ नीति इस प्रकार बनाई जायगी जो कि विदेशों से अनुचित प्रतिस्पर्धा को रोके तथा उपभोक्ताओं पर अनुचित भार डाले बिना ही भारतीय प्रसाधनों का सदुपयोग करने को बढ़ावा दे।" इस नीति के अनुसार भारत सरकार ने अप्रेल सन् 1949 में बी० टी० कृष्णामाचारी की अध्यक्षता में एक प्रशुल्क आयोग स्थापित किया।

प्रशुल्क आयोग ने सन् 1950 में अपनी रिपोर्ट सरकार को दी। इसमें यह स्पष्ट बताया गया कि टैरिफ संरक्षण के प्रश्न पर एकाकी रूप में (In Isolation) विचार नहीं किया जा सकता। इसने बताया कि, "टैरिफ संरक्षण को अब देश के आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण साधन माना जाने लगा है अतः उद्योगों को संरक्षण देने की व्यवस्था आर्थिक विकास की सम्पूर्ण योजना का एक अभिन्न अंग बनाई जानी चाहिये अन्यथा भारों (Burdens) का वितरण असमान हो जायगा तथा उद्योगों की प्रगति असमन्वित होगी।"[1]

कमीशन ने उद्योग को संरक्षण देने के सिद्धान्त भी बनाये और इस आशय के लिये उद्योगों को तीन प्रमुख श्रेणियों में बांटा (i) आधारभूत उद्योग ; (ii) सुरक्षा एवं सामरिक महत्व के उद्योग तथा (iii) अन्य उद्योग।

आधारभूत (Basic and key) उद्योगों के बारे में कमीशन ने यह सुझाव दिया कि टैरिफ अधिकारी को संरक्षण के स्वरूप तथा उनकी मात्रा का निर्णय करना चाहिये और उन शर्तों को निर्धारित कर देना चाहिये जिन पर संरक्षण दिया जायगा। समय-समय पर उसे इस बात की भी जाँच करते रहना चाहिये कि उद्योगों द्वारा इन शर्तों की पूर्ति कहाँ तक की जा रही है। उसे इन उद्योगों को संरक्षण देने के लिये कोई कठोर शर्तें नहीं रखनी चाहिये।

सुरक्षा उद्योगों के सम्बन्ध में कमीशन ने यह सुझाव दिया था कि इन्हें प्रत्येक सुविधा एवं सहायता देनी चाहिये चाहे इनका व्यय कुछ भी हो।

अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में कमीशन ने निम्न शर्तें निर्धारित की "उद्योग को मिली हुई आर्थिक सुविधाओं एवं उसकी वास्तविक अथवा सम्भावित उत्पादन लागत

---

1. "The old conception of protection as an alternative of commercial policy has long given a way to more pragmatic approach. Tariff Protection is now looked upon primarily as a means to an end—as one of the instruments of policy which the State must employ to further the economic development of the country. The protection of industries should be related to an over-all plan of economic development. Otherwise there may be unequal distribution of burdens and uncoordinated growth of industries."

को ध्यान में रखते हुए यदि यह सम्भव प्रतीत होता हो कि वह एक उचित अवधि के भीतर संरक्षण या सहायता के बिना ही सफलतापूर्वक कार्य करते रहने योग्य बन सकेगा, अथवा, यदि उद्योग ऐसा हो जिसे राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से संरक्षण देना वांछनीय है तथा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लाभों को देखते हुए ऐसे संरक्षण (या सहायता) की सम्भावित लागत समाज के लिये अत्यधिक नहीं है, तो संरक्षण देना चाहिये।"

कमीशन ने उक्त शर्तें रखने के अतिरिक्त ट्रिपिल फार्मूले की समस्याओं पर भी अपना मत प्रकट किया जो इस प्रकार है—(i) यदि किसी उद्योग को अन्य आर्थिक लाभ (जैसे, आन्तरिक बाजार, श्रम पूर्ति, आदि) प्राप्त हैं, तो संरक्षण केवल इस कारण ही अस्वीकृत नही कर देना चाहिये कि कच्चा माल देश के अन्दर उपलब्ध नहीं है। (ii) उद्योग के लिये यह आवश्यक नहीं होना चाहिये कि वह सम्पूर्ण आन्तरिक बाजार की आवश्यकताओं की संतुष्टि करे। केवल इतना ही पर्याप्त होना चाहिये कि टैरिफ अधिकारी उद्योग की विस्तार-सम्भावनाओं के बारे में यह सन्तोष रखता हो कि वह उचित समय के भीतर आन्तरिक बाजार की काफी माँग पूरी कर सकेगा। (iii) संरक्षित उद्योगों की वस्तुओं का प्रयोग करने वाले उद्योगों को 'क्षति पूरक संरक्षण' देना चाहिये। (iv) भारी मात्रा में प्रारम्भिक पूँजी विनियोग वाले नये उद्योगों को विशेष रूप से संरक्षण मिलना चाहिये। (v) यदि राष्ट्रीय हित में हो, तो कृषि उत्पादन को भी संरक्षण देना चाहिये। लेकिन ऐसा संरक्षण एक बार में 5 वर्ष से अधिक नहीं होना चाहिये। सरकार को चाहिये कि कृषि-सुधार के कार्य-क्रमों का इस प्रकार संचालन करे कि संरक्षण की उक्त अवधि में कमी करना सम्भव हो सके। (iv) सामान्यतः संरक्षण की अवधि में उद्योगों पर उत्पादन-करों का भार नहीं लादना चाहिये।

प्रशुल्क आयोग ने यह भी सुझाव दिया था कि एक स्थाई टैरिफ बोर्ड गठित किया जाय, जिसे 'टैरिफ कमीशन' कहें। कमीशन ने इस विचार को अस्वीकृत कर दिया कि टैरिफ कमीशन प्लानिंग कमीशन का ही एक अंग हो। कमीशन के सुझावों पर उचित ध्यान दिया जा सके, इसलिये प्रशुल्क आयोग ने यह निर्धारित किया कि (i) जैसे ही कोई जाँच पूर्ण हो वैसे ही टैरिफ कमीशन को चाहिये कि अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के सम्बन्धित मंत्रालय को प्रस्तुत कर दे और सरकार भी दो माह के भीतर उस पर उचित निर्णय कर ले; (ii) चाहे सरकार कमीशन के सुझावों को स्वीकार करे या न करे, कमीशन की रिपोर्ट उसे अवश्य ही प्रकाशित करानी चाहिये। एवं (iii) यदि सरकार कमीशन की सिफारिशों को स्वीकार नहीं करे, तो उसे अपने एक स्टेटमेन्ट द्वारा इस असमर्थता के कारणों को स्पष्ट करना चाहिये।

संरक्षणात्मक एवं रेवेन्यू टैरिफों के सम्बन्ध में टैरिफ कमीशन को चाहिये कि वह चार प्रकार की जाँचें (Inquiries) करे:—(i) संरक्षण सम्बन्धी प्रार्थना-पत्रों की जाँच; (ii) राशिपतन के आरोपों की जाँच; (iii) संरक्षण-करों के परिवर्तनों की जाँच; एवं (iv) व्यापार-समझौतों के अन्तर्गत टैरिफ रिआयतें देने के बारे में जाँच।

पहली और चौथी जांच भारत सरकार द्वारा प्रारम्भ (Initiate) कराई जानी चाहिये, लेकिन कुछ दशाओं में टैरिफ कमीशन सम्बन्धित उद्योगों से सीधे ही प्रार्थना-पत्र ले सकता है। अन्य दो दशाओं में कमीशन स्वयं अपनी ओर से या सरकार की प्रार्थना पर जांच का कार्य आरम्भ कर सकता है।

टैरिफ संरक्षण के अन्य ढंगों (जैसे आयातों पर परिमाणात्मक प्रतिबन्ध) के बारे में प्रशुल्क आयोग ने यह सुझाव दिया कि सरकार कुछ दिशाओं में उद्योग को नकद आर्थिक सहायताएँ (Cash Subsidies) दे। (भारत सरकार ने अभी इस ढंग का अधिक प्रयोग नहीं किया है। उसे चाहिये कि वह प्रशुल्क आयोग की इस सिफारिश पर पुनः गम्भीरता से विचार करे।) आयोग ने निम्न दशाओं में नकद आर्थिक सहायता को संरक्षण के अन्य ढंगों से श्रेष्ठ माना है:—(i) जबकि घरेलू उत्पादन से घरेलू मांग का केवल एक मामूली भाग ही पूर्ण होता है। (ii) जबकि सम्बन्धित वस्तुएं आवश्यक कच्चे माल हैं। (iii) जबकि देश में उत्पादित किसी वस्तु की कुछ किस्मों के निर्माण के लिये ही संरक्षण की आवश्यकता हो। (लेकिन किस्मों का निश्चय करना प्रायः कठिन होगा)। उक्त नकद आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिये यह सुझाव भी दिया गया कि सरकार संरक्षण-करों की रेवेन्यू में से एक विकास-कोष स्थापित करे।

प्रशुल्क आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि भारत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ का सदस्य बना रह सकता है तथा चार्टर की पुष्टि कर सकता है, क्योंकि इसमें भारतीय उद्योग को कुछ हानि नहीं पहुँचेगी। (अब भारत हवाना चार्टर एवं जी० ए० टी० टी० का हस्ताक्षर करने वाला सदस्य है।

टैरिफ कमीशन :

प्रशुल्क आयोग की सिफारिशों पर सन् 1951 में टैरिफ कमीशन एक्ट पास किया गया। इस एक्ट की धारा 26 के अन्तर्गत 21 जनवरी, 1952 को भारत सरकार ने तीन सदस्यों का एक स्थाई वैधानिक टैरिफ कमीशन बनाया। इन सदस्यों में से ही एक को चेयरमैन चुना गया है। कमीशन की मुख्य-मुख्य विशेषतायें निम्न-लिखित हैं:—

(1) इसे न केवल स्थापित उद्योगों से (जैसा कि भूतकाल में था) वरन् उन उद्योगों से भी, जिन्होंने अभी उत्पादन प्रारम्भ नहीं किया है, लेकिन जो संरक्षण मिलने पर कर देंगे, संरक्षण के लिये प्राप्त हुये प्रार्थना-पत्रों पर विचार करने का अधिकार है।

(2) कमीशन स्वयं अपनी ओर से भी जांच आरम्भ करने का अधिकार रखता है। हाँ, संरक्षण की प्रारम्भिक स्वीकृति (Initial Grant) देना और विशेष वस्तुओं (चाहे संरक्षित या असंरक्षित) के मूल्यों से सम्बन्धित जाँच इसके अधिकार-क्षेत्र में नहीं है)।

(3) कमीशन के लिये यह जरूरी है कि वह संरक्षण की प्रगति पर समय-समय पर जांच-पड़ताल करके रिपोर्ट देता रहे ।

(4) टैरिफों के निर्धारण तथा संरक्षित उद्योगों के दायित्वों से सम्बन्धित सामान्य सिद्धान्तों के बारे में कमीशन को व्यापक इच्छानुगत अधिकार (Discretionary Powers) दिये गये हैं जो कि टैरिफ बोर्डों को अब तक प्राप्त न थे ।

(5) कमीशन को यह अधिकार है कि प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार संरक्षण की अवधि निश्चित करे । युद्धोत्तर टैरिफ बोर्डों की तरह उस पर 3 वर्ष से अधिक के लिये संरक्षण न देने का बन्धन नहीं लगाया गया है ।

(6) टैरिफ कमीशन एक्ट में सरकार को यह आदेश दिया गया है कि वह कमीशन की रिपोर्ट के बारे में की गई कार्यवाही से पार्लियामेन्ट को, रिपोर्ट देने के तीन माह के भीतर ही, सूचित करे । यदि उसने कोई कार्यवाही नहीं की है, तो इसके कारणों को भी स्पष्ट करना आवश्यक है ।

इस प्रकार, टैरिफ कमीशन एक स्वतन्त्र एवं शक्तिशाली संस्था है, जिसके कार्य-कलापों से देश को लाभ ही पहुंचना चाहिये ।

टैरिफ कमीशन के कार्यों का संक्षिप्त विवरण :

सन् 1952 से सन् 1958 तक की अवधि में टैरिफ कमीशन ने जो कार्य किया उसकी संक्षिप्त झांकी निम्न तालिका से मिलती है :—

Working of the Tariff Commission, 1952-58

	Tariff Inquiries			Price Inquiries
	Fresh	Continuation	Total	
1953-54	4	11	15	3
1954-55	5	17	22	1
1955-56	3	17	20	2
1956-57	2	4	6	4
1957-58	—	22	22	1
1960-61	—	—	14	2
Total	14	71	99	13

कमीशन के कार्यों की एक गम्भीर आलोचना यह की गई है कि इसने संरक्षण की मात्रा का हिसाब लगाने में एक रूढ़िवादी दृष्टिकोण अपनाया है । संरक्षण की मात्रा देशी उत्पादन की Ex-works Price और C. I. F. Price व आयातित वस्तु की उतराई-मूल्य (Landed Cost) की तुलना पर आधारित रखी गई है । इस प्रकार की गणना से एक विकासोन्मुख अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं की उपेक्षा हो जाने का डर है ।

टैरिफ कमीशन की कार्यवाही के रिव्यू से यह पता चलता है कि जिन 40 उद्योगों को संरक्षण मिला हुआ है उनमें से आधे से अधिक उद्योगों की दशा में रेवेन्यू-करों को ही संरक्षण करों में बदल कर संरक्षण दिया गया था। प्रायः रेवेन्यू कर के बराबर ही संरक्षण कर रखे गये। केवल छह दशाओं में रेवेन्यू करों की मात्रा, उनको संरक्षण करों में बदलने पर बढ़ा दी गई थी।

उपसंहार :

देश के औद्योगिक विकास में संरक्षण की जो भूमिका रही है उसका अनुमान उन उद्योगों की सूची का विश्लेषण करने से लगाया जा सकता है, जिन्हें हाल के वर्षों में उन संरक्षण से मुक्त किया गया है। जब से (1923 से सरकार द्वारा विभेदात्मक संरक्षण की नीति अपनाई गई है, तब से अब तक 108 मामलों पर, जिनमें उद्योगों ने संरक्षण या सहायता के लिये प्रार्थना की थी, टैरिफ बोर्ड एवं टैरिफ कमीशन द्वारा विचार किया गया है। इनमें से 63 मामलों में संरक्षण स्वीकार किया गया और शेष मामलों में संरक्षण का दावा अस्वीकार कर दिया गया। संरक्षण पाने वाले उद्योगों में से अब तक 19 को संरक्षण मुक्त किया जा चुका है तथा 34 उद्योग संरक्षण का लाभ उठा रहे हैं। विभिन्न उद्योगों को प्राप्त संरक्षण अवधि 2 से 12 वर्ष तक के बीच रही यद्यपि अधिकांश दशाओं में संरक्षण 6 वर्ष से अधिक ही चला। युद्धोत्तर काल में संरक्षण प्राप्त उद्योगों की अपेक्षा युद्ध-पूर्व के संरक्षण प्राप्त उद्योगों को अधिक समय तक संरक्षण के अन्तर्गत रखा गया। लेकिन संरक्षण-मुक्त हो जाने का यह अर्थ नहीं है कि उद्योगों ने विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने योग्य पर्याप्त शक्ति अर्जित करली है। अनेक दशाओं में संरक्षण-करों को उतनी ही राशि के रेवेन्यू करों में परिणत कर दिया है।

☞ Q. 70. Discuss the role played by protection in India's Economic Development.

भारत के औद्योगिक विकास में संरक्षण की महत्वपूर्ण भूमिका

देश के औद्योगिक विकास में संरक्षण की जो भूमिका रही है उसका अनुमान उन उद्योगों की सूची का विश्लेषण करने से लगाया जा सकता है, जिन्हें हाल के वर्षों में संरक्षण से मुक्त किया गया है। जब से (1923) सरकार द्वारा विभेदात्मक संरक्षण की नीति अपनाई गई है, तब से अब तक 108 मामलों पर, जिनमें उद्योगों ने संरक्षण या सहायता के लिए प्रार्थना की थी, टैरिफ बोर्ड एवं टैरिफ कमीशन द्वारा विचार किया गया है। इनमें से 63 मामलों में संरक्षण स्वीकार किया गया और शेष मामलों में संरक्षण का दावा अस्वीकार कर दिया गया। संरक्षण पाने वाले उद्योगों में से अब तक 19 को संरक्षण-मुक्त (Deprotected) किया जा चुका है। प्रमुख संरक्षण मुक्त उद्योग निम्न हैं :—

(1) सन् 1947 में सूती वस्त्र, लोह एवं स्पात तथा कागज उद्योगों को क्रमशः 20 वर्ष, 23 वर्ष एवं 22 वर्ष तक संरक्षण का लाभ उठाने के बाद मुक्त किया गया।

(2) सन् 1948 में मैगनेशियम क्लोराइड एवं गोल्ड व सिल्वर थ्रेड उद्योगों को 17 वर्ष बाद, संरक्षण-मुक्त किया गया।

(3) सन् 1949 में फास्फेट एवं फासफोरिस एसिड उद्योग को $2\frac{1}{2}$ वर्ष तक संरक्षण का आनन्द उठाने के बाद मुक्त किया गया।

(4) 19 वर्ष के बाद सन् 1950 में चीनी उद्योग पर से भी संरक्षण हटा लिया गया।

(5) सन् 1950 में, $2\frac{1}{2}$ वर्ष बाद, स्टील बैल्ट, लेसिंग एवं पोटेशियम परमेंगनेट उद्योगों को भी संरक्षण से मुक्त किया गया।

(6) सन् 1953 में फ़ैरो सिलिकन, ड्राई बैट्रीज, फाउन्टेन पैन इन्क व पैंसिल उद्योगों को क्रमशः $5\frac{1}{2}$ वर्ष, 3 वर्ष एवं 3 वर्ष के बाद संरक्षण से मुक्त किया गया।

(7) सन् 1954 में हरीकेन लालटेन, पिकर्स, सीने-पिरोने की मशीन एवं जिप फैसनर्स उद्योगों को क्रमशः 8 वर्ष, 6 वर्ष, 7 वर्ष एवं $\frac{1}{2}$ वर्ष बाद संरक्षण मुक्त किया गया।

(8) सन् 1955 में कैलशियम क्लोराइड, अलाय, टूल एवं स्पेशल स्टील्स, मोटर व्हीकल बैट्री, सोडियम थियोसल्फेट, सोडियम बाइसल्फेट, स्टार्च, ग्लूकोज, स्टील बेलिंग हूप्स एवं कोटेड एवं जिंक उद्योगों को क्रमशः 9, $7\frac{1}{2}$, 7, $9\frac{3}{4}$, $7\frac{1}{2}$, $7\frac{1}{2}$, एवं $9\frac{3}{4}$ वर्ष के बाद संरक्षण से मुक्त किया गया।

(9) सन् 1956 में प्लास्टिक उद्योग के इलेक्ट्रिक सामान बनाने वाले अंग को 7 वर्ष बाद संरक्षण से मुक्त किया गया।

(10) सन् 1957 में इलेक्ट्रिक ग्लास लैंप होल्डर्स, प्लेन लूम्स, आयल प्रेसर लैम्प, सुरक्षित फल एवं नॉन-फैरस मैटल सम्बन्धी कुछ विभाग क्रमशः $6\frac{1}{2}$ वर्ष, 8 वर्ष, 7 वर्ष, $10\frac{1}{2}$ वर्ष एवं $9\frac{1}{2}$ वर्ष के बाद संरक्षण से मुक्त हो गये।

(11) सन् 1958 में इलैक्ट्रिक मोटर्स, कोकोआ पाउडर एवं चाकलेट, अल्यूमिनियम, एन्टीमोनी, बाइक्रोमेट्स, कैलशियम कारबाइड, कास्टिक सोडा एवं ब्लीचिंग पाउडर, सरीकल्चर, नकली रेशम तथा सागो एवं सोडा एश को संरक्षण-मुक्त किया जाना था।

(12) इस समय लगभग 34 उद्योग संरक्षरण का लाभ उठा रहे हैं :— Aluminium, caustic soda, dyestuffs, grinding wheels, machine screws, ball bearings, copper and aluminium

conductors, ACSR conductors, bicycles, cotton textile machinery, power and distribution transformers, calcium carbide electric motors, automobiles and plywood and tea-chest industries.

विभिन्न उद्योगों को प्राप्त संरक्षण अवधि 2 से 12 वर्ष तक के बीच रही यद्यपि अधिकांश दशाओं में संरक्षण 6 वर्ष से अधिक ही चला। युद्धोत्तर काल में संरक्षण प्राप्त उद्योगों की अपेक्षा युद्ध-पूर्व के संरक्षण प्राप्त उद्योगों को अधिक समय तक संरक्षण के अन्तर्गत रखा गया। लेकिन संरक्षण-मुक्त हो जाने का यह अर्थ नहीं है कि उद्योगों ने विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने योग्य पर्याप्त शक्ति अर्जित कर ली है। अनेक दशाओं में संरक्षण-करों को उतनी ही राशि के रेवेन्यू-करों में परिणित कर दिया गया है।

सन् 1959-60 में टैरिफ कमीशन ने 14 वस्तुओं के सम्बन्ध में संरक्षण की नीति जारी रखने के विषय में तट-कर की जांच की। 3 बड़ी जांचों का सम्बन्ध वस्तुओं के मूल्य से था। सरकार ने 10 उद्योगों के सम्बन्ध में आयोग की प्रमुख सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। तदनुसार साबूदाना, मशीनी पेच, हाइड्रोक्विनोन, मोटरगाड़ियों से लीफ स्प्रिंग आदि को प्राप्त कर तटकर-सम्बन्धी संरक्षण जनवरी 1960 से समाप्त कर दिया गया। जहां तक स्टियरिक तथा आलिक तेजाबों और डीजल ईंधन-सामग्री-उद्योग का सम्बन्ध है, संरक्षण की अवधि 1 जनवरी 1960, से क्रमशः तीन और चार वर्षों के लिए बढ़ा दी गई। प्लास्टिक-उद्योग के क्षेत्र में बटनों को प्राप्त संरक्षण 1 जनवरी 1960 से वापिस ले लिया गया। अलोह धातु-उद्योग के क्षेत्र में तांबे तथा पीतल की चादरों, चाय के बक्सों में काम आने वाली व्यवसायिक तथा औद्योगिक सीसे की चादरों और सीसे की पट्टियों पर से संरक्षण 1 जनवरी, 1960 से हटा लिया गया। दूसरी ओर, सीसे की चादरों (चाय के बक्सों में आने वाली चादरों के अलावा), जस्ते की चादरों (जिनका विशेष रूप से उल्लेख न हुआ हो), जस्ते की पट्टियों, तांबे की छड़ों, (एलेक्ट्रोप्लेटिक तांबे की छड़ों के अलावा), पीतल की छड़ों, तांबे तथा पीतल की पाइपों और ट्यूबों पर शुल्क की वर्तमान दरों पर 1 जनवरी 1960 से आगामी 3 वर्षों तक संरक्षण की नीति जारी रहेगी। मूल्य सम्बन्धी जांच कागज तथा गत्ते और चीनी के बारे में की गई।

☞ Q. 61 Critically examine the working of State Trading Corporation in India.

भारत में स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन के कार्यों का वितरण

प्रारम्भिक :

यदि व्यापार के स्वामित्व एवं संचालन का भार जनता पर छोड़ दिया जाय और जनता के कुछ व्यक्ति अकेले या अन्य लोगों की सहायता से कोई व्यापार करें

तो ऐसे व्यापार को 'व्यक्तिगत व्यापार' (Private Trade) कहते हैं। लेकिन जब व्यापार का संचालन राजकीय कर्मचारियों द्वारा हो, तो ऐसे व्यापार को 'राजकीय व्यापार' (State Trading) कहते हैं। विभिन्न देशों द्वारा राजकीय व्यापार प्रणाली मुख्यतः विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में अपनाई गई है। **राजकीय व्यापार के निम्न गुण बताये गये हैं** :—(i) नियोजित अर्थ-व्यवस्था के लिये अनिवार्य; (ii) साम्यवादी देशों से व्यापार में सुविधा; (iii) देश को क्रेता एवं विक्रेता दोनों ही रूप से अधिकतम लाभ; (iv) देनदार देशों के लिये विशेष लाभदायक; (v) स्वदेशी उत्पादकों के लिये संरक्षण का सर्वोत्तम साधन; (vi) संकटकाल के लिये स्टाक रखने में सुविधा; (vii) विदेशी विनिमय की कठिनाई के बिना आवश्यक वस्तुओं का आयात; (viii) द्विपक्षीय व्यापार में सुविधा एवं (ix) लाभ का जन उपयोगी कार्य में उपयोग। **राजकीय व्यापार के निम्न दोष भी हैं** :— (i) उच्चस्तरीय निहित स्वार्थों का हस्तक्षेप, (ii) बड़े पैमाने के उत्पादन पर रोक; (iii) स्वतन्त्र एवं बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली के विरुद्ध; (iv) अकुशलता को बढ़ावा; (v) विश्व बाजार का विभाजन; (vi) कूटनीति के साथ मिश्रित होना; (vii) समाज के हितों को खतरा एवं (viii) उपभोक्ताओं की चुनाव स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध।

भारत में राजकीय व्यापार—देशमुख कमेटी की सिफारिशें :

भारत में राजकीय व्यापार की समस्या पर देशमुख कमेटी ने सन् 1950 में गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। कमेटी के मतानुसार कुछ व्यवसायों पर तो राज्य का एकाधिकार हो, और शेष (जो राज्य व्यापार में इष्ट नहीं हैं) व्यक्तिगत व्यापारियों के लिये छोड़ दिये जायें। कमेटी ने इस बात पर जोर दिया कि सम्पूर्ण आयात और निर्यात व्यापार पर राज्य का पूर्णाधिकार होना अनिवार्य है। इस कार्य के हेतु एक राजकीय व्यापार संस्था होनी चाहिये जिसकी स्थापना एक विशेष अधिनियम द्वारा की जाय। इसकी अधिकृत पूंजी 10 करोड़ रु० रखनी चाहिये, जिसमें केन्द्रीय सरकार 51% और शेष धन राज्य सरकारें व अन्य स्रोत दें। प्रतिदिन के कार्य-प्रबन्ध के लिये एक मैनेजिंग बोर्ड गठित किया जाय, जिसमें कर्त्तव्यपरायण व ईमानदार व्यक्ति ही रखे जायें। बोर्ड का एक प्रबन्ध संचालक भी होना चाहिये। राजकीय व्यापार संस्था को निम्न कार्य करने चाहिये :—(i) खाद्य सामग्री, स्पात, पूर्व अफ्रीकन कपास व अन्य वस्तुओं (जिनका विनिमय सरकार द्वारा किया गया हो) का आयात अपने हाथ में लेना ; (ii) कोयला व छोटे रेशे की कपास के निर्यात का एकाधिकार इसे ही मिलना ; (iii) कुटीर वस्तुओं से निर्यात का कार्य ; (iv) आवश्यकता पड़ने पर विदेशी सरकार से सीधा क्रय विक्रय करना ; (v) भारतीय व्यापारियों की प्रार्थना पर विदेशी व्यापारियों से सौदे करना ; एवं (vi) सरकार को राजकीय व्यापार के विषय में परामर्श देना।

राजकीय व्यापार निगम के कार्यों का ब्यौरा—

मई 1956 में पूर्णतः सरकार के नियंत्रण में एक व्यापार-निगम की स्थापना

हुई। इसकी अधिकृत पूंजी इस समय 5 करोड़ रु० है। निगम का प्रमुख कार्य भारत के विदेशी व्यापार की वृद्धि करना है। स्थापित होने के बाद से ही यह निगम नियंत्रित अर्थ-व्यवस्था वाले देशों के साथ भारत के निर्यात-व्यापार का विस्तार करने का प्रयास कर रहा है जिससे भारत के पौण्ड-पावने पर प्रभाव डाले बिना इन देशों से इस्पात, सीमेंट तथा औद्योगिक उपकरण आदि प्राप्त किए जा सकें।

यह निगम भारतीय व्यापार को बहुमुखी बनाने तथा भारत की परम्परागत तथा अपरम्परागत निर्यात वस्तुओं के लिए नये बाजार ढूंढने का यत्न कर रहा है। इससे भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के बदले में आवश्यक पूंजी-गत सामान तथा औद्योगिक कच्ची सामग्रियां मंगाने के सम्बन्ध में कुछ देशों के साथ व्यवस्था की है। इसने बड़े अनुबन्ध तथा मुख्य कच्ची सामग्रियों के सम-वितरण की भी व्यवस्था की है ताकि इन वस्तुओं के मूल्य उचित स्तर तक गिराये जा सकें। इन वस्तुओं में कास्टिक सोडा, सोडा ऐश, पारा अखबारी कागज, कपूर, रंग के सामान आदि सम्मिलित हैं। आयात की मात्रा तथा समय इस प्रकार निश्चित किया गया है कि उपलब्धि में बार-बार बाधा न आए और भारत में इन वस्तुओं के अधिक परिमाण में उत्पादन के लिए अनुकूल परिस्थितियां पैदा हों तथा बनी रहें। जिन वस्तुओं के निर्यात की व्यवस्था निगम ने की है, उनमें ये भी सम्मिलित हैं : खनिज कच्चे पदार्थ, जूते, हस्तशिल्प की वस्तुएं, नमक, चाय, कहवा तथा ऊनी सामान। निगम ने पत्तन की सुविधाओं, खानों तथा परिवहन के विकास के क्षेत्र में भी एक महत्वपूर्ण भाग लिया है। भारतीय कच्चे लोहे का निर्यात बढ़ाने के लिए जापान तथा कुछ अन्य देशों के साथ निगम ने दीर्घ अवधि के अनुबन्धों की जो व्यवस्था की थी, उसके कारण खानों तथा जहाज-रानी केन्द्रों के बीच रेल-सम्पर्क के विकास में बड़ी सहायता मिली। अपने स्थापना-काल से 1960-61 के अन्त तक निगम ने 1 अरब 83 करोड़ रु० के मूल्य का व्यापार किया जिसमें 1960-61 के व्यापार के 65 करोड़ रु० (निर्यात 37 करोड़ रु० तथा आयात 28 करोड़ रु०) भी सम्मिलित हैं।

जुलाई 1956 में निगम को भारतीय उत्पादकों से सीमेंट प्राप्त करने, विदेशों से सीमेंट मंगाने तथा भारत के सभी प्रमुख रेल-केन्द्रों पर सन्तुलित दर से उसके समवितरण का काम सौंपा गया था। देश में सीमेंट का उत्पादन बढ़ जाने के कारण 1958 में निगम को भारत से सीमेंट का निर्यात करने का भी अधिकार दे दिया गया।

राजकीय व्यापार निगम की आलोचना—

राजकीय व्यापार निगम के विरुद्ध निम्न आरोप लगाये जाते हैं :—
(i) इसने सुपुर्दगी देने में देर की है; (ii) यह निर्णय लेने व उन्हें कार्यान्वित करने में बहुत देरी करता है (iii) चूंकि निगम न तो यह एक खान-स्वामी है और न खान-संचालक, इसलिये उत्पादन एवं सुपुर्दगी पर इसका कोई नियंत्रण नहीं है;

(iv) यह क्रेताओं एवं उत्पादकों के साथ टेक्नीकल समस्याओं पर विचार नहीं करता ; (v) माँग, पूर्ति एवं मूल्य के सम्बन्ध में यह बाजार की दशाओं को विचार में नहीं लेता, (vi) व्यापारिक दृष्टिकोण से कार्य नहीं करता, तथा इसमें अफसरशाही की भावना प्रबल है ; एवं (vii) राजकीय व्यापार निगम के कर्मचारियों में बार-बार परिवर्तन होता रहता है, जिससे अपनाई गई नीति पर एक सी कार्यवाही नही होने पाती है।

निगम की कुछ सफलतायें इस प्रकार हैं :—(i) निगम की बदौलत ही रुपये-भुगतान समझौते (Rupee Payment Agreements) प्रचलित हुये जिनके द्वारा कम्यूनिस्ट देशों एवं भारत के मध्य समस्त व्यापार 'अपरिवर्तनीय रुपया भुगतान खातों' (Non-Convertible Rupee Payment Accounts) के द्वारा निपटाया जाने लगा है। (ii) प्रति वर्ष विदेशों से वार्ता द्वारा अधिक से अधिक मदें भारत की निर्यात लिस्ट में सम्मिलित कराने का प्रयास किया जाता है। (iii) पब्लिक एवं प्राइवेट उपक्रमों को उससे कही अच्छा माल प्राप्त होने लगा, जो कि वे अन्य स्रोतों से प्राप्त करते थे। (iv) वस्तुओं के लिये थोड़ी-थोड़ी मात्रा के बजाय थोक आर्डर दिये गये जिससे मूल्य एवं यातायात व्यय में बहुत मितव्ययिता संभव हो गई, पर्याप्त स्टाक रखे जाने लगे तथा उपभोक्ताओं की पूर्ति की नियमित व्यवस्था की गई। जो मूल्य उपभोक्ताओं से लिया गया उसमें निगम ने लाभ का बहुत कम मार्जिन लिया। (v) निगम ने ही बिजनेस एसोसियेट प्रणाली चलाई जिसके अनुसार उसने निर्यातकों (विशेषत: अल्प पूंजी वाले निर्यातकों) को वस्तुओं का निर्यात करने में सहायता दी। इस सहायता के बिना ये लोग निर्यात नहीं कर सकते थे। निगम की सहायता से ही उन्हें 90% रुपया रेल पर माल का लदान कराते ही मिल जाता था। इसके अतिरिक्त निगम उनकी ओर से निर्यात सम्बन्धी अन्य व्यवस्थाएं भी करता है।

राजकीय व्यापार निगम का भविष्य :

राजकीय व्यापार निगम की भावी भूमिका के बारे में भारत सरकार ने 2 दिसम्बर, 1961 को एक महत्वपूर्ण स्टेटमेंट दिया था, जिसमें उसने इसके कार्यों की आलोचना को अस्वीकृत करते हुए कारपोरेशन को निर्यात-वृद्धि के कार्यक्रम में एक अधिक गतिशील भूमिका प्रदान की। अब राजकीय व्यापार निगम के उद्देश्यों में निम्न का भी समावेश हो जायगा :—

(1) सौंपी गई वस्तुओं के सम्बन्ध में राजकीय व्यापार वाले देशों से तथा अन्य देशों से भी व्यापार करना।

(2) निर्यात की परम्परागत वस्तुओं के लिये नये बाजार खोजना और निर्यात व्यापार को बढ़ाने व विविधमुखी बनाने के लिये निर्यात की गई मदों का विकास करना।

(3) सरकार की प्रार्थना पर किसी भी अल्पपूर्ति वाली वस्तु के आयात

अथवा और आन्तरिक वितरण का कार्य करना, ताकि मूल्यों में स्थायित्व आवे।

(4) जन-हित में सरकार द्वारा सौंपी गई किसी वस्तु के सम्बन्ध में उसके आयात, निर्यात अथवा और आन्तरिक वितरण के लिये विशेष प्रबन्ध करना।

यूनियन कॉमर्स मिनिस्टर श्री नित्यानन्द कानूनगो ने घोषित किया है कि निगम के कार्यों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करके सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची है, कि यह अब सरकार की व्यापारिक नीति का एक महत्वपूर्ण साधन बन गया है। इसने न केवल प्राइवेट सैक्टर की क्रियाओं को पूरा किया है और प्राइवेट व्यापार को सहायता पहुँचाई है वरन् सरकार को भी विविध जटिल व्यापारिक समस्याओं को सुलझाने में सहायता दी है। व्यापार निगम की ही बदौलत पूर्वी यूरोप के देशों से हाल के वर्षों में वृद्धि हुई है तथा संतुलित आधार पर 50 करोड़ रु० का व्यापार किया गया है।

☞ Q. 62 What is Imperial Preference ? How far is it desirable for India to adopt a policy of Imperial Preference ? Discuss them fully.

'इम्पीरियल प्रिफरेन्स से आशय एवं भारत को इससे लाभ हानियाँ

'इम्पीरियल प्रिफरेन्स' से आशय :

'साम्राज्य अधिमान' या इम्पीरियल प्रिफरेन्स (Imperial Preference) शब्द से आशय प्रिफरेन्स (या विशेष सुविधा अथवा अधिमान) का है जो कि एक उपनिवेश या अधीन राज्य द्वारा साम्राज्य या मातृदेश के प्रति विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में दिया जाय, चाहे मातृदेश उसे भी बदले में प्रिफरेन्स दे या न दे। प्रिफरेन्स केवल आयात या केवल निर्यात अथवा दोनों के बारे में दिया जा सकता है। अतः साम्राज्य अधिमान योजना के अन्तर्गत उपनिवेश या अधीन राज्य अपने ऊपर यह दायित्व लेता है कि वह विदेशी देशों से कम मूल्य पर माल का आयात करने की अपेक्षा मातृदेश से अधिक मूल्य पर भी उस माल का आयात करेगा, अथवा वह मातृदेश से अपने निर्यातों के लिये कम मूल्य लेगा।

भारत और साम्राज्य अधिमान :

भारत साम्राज्य अधिमान की नीति के विरुद्ध था; क्योंकि इससे उस साम्राज्य की शक्ति मजबूत होती थी, जिसने उसे गुलाम बना रक्खा था। आर्थिक दृष्टिकोण से भी उसके पास साम्राज्य को देने के लिये अधिक न था और जो वह दे सकता था उसके बदले में प्राप्तियां बहुत कम थीं :—(i) भारत अधिकतर निर्मित वस्तुओं का

आयात और कच्चे माल व भोजन पदार्थों का निर्यात करता था; (ii) प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक उसके अधिकतर आयात इंगलैंड से थे जबकि निर्यात साम्राज्य से बाहर के देशों को होता था एवं (iii) प्रथम महायुद्ध के बाद तो इंगलैंड व साम्राज्य के देशों का महत्त्व आयात व निर्यात दोनों ही दृष्टियों से घटने लगा था। अतः भारत को डर था कि साम्राज्य को विशेष सुविधा देने के कारण कहीं अन्य देश उसके प्रति कड़ी नीति न अपना लें। इस नीति के विरुद्ध होते हुए भी अपनी दास-स्थिति के कारण उसे सन् 1927 में ब्रिटिश फौलाद एवं सूती वस्त्र पर सुविधाएँ देनी पड़ीं और आगे चल कर उसे ऐसे समझौते को स्वीकार करना पड़ा जो कि साम्राज्य अधिमान की नीति पर आधारित था।

ओटावा समझौता सन् 1932 :

सन् 1932 में ओटावा में साम्राज्य के सदस्य देशों की आर्थिक कान्फ्रेंस हुई, जिसमें पारस्परिक सुविधायें देने के आधार पर कई व्यापारिक समझौते किये गये। भारत को भी इसमें भाग लेना पड़ा यद्यपि वह साम्राज्य अधिमान के विरुद्ध था। 20 अगस्त सन् 1932 को भारत सरकार और इंगलैंड के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जो कि ओटावा समझौते के नाम से विख्यात है। इस समझौते के पक्ष-विपक्ष में अनेक बातें कही गईं।

पक्ष में बातें—(i) भारत के निर्यात व्यापार में, जो कि साम्राज्य के बाहर के देशों में होता था, बड़ी हानि हो रही है, क्योंकि विश्वव्यापी मंदी से कच्चे माल के दामों में बड़ी गिरावट आ गई है, विश्व के अनेक भागों में नई कृषि-भूमि काम में ली गई है, जिसकी पैदावार उन्नत यातायात द्वारा बाजारों में आने लगी है, दूसरे देशों का भी निर्यात बढ़ने लगा है, सं० राष्ट्र अमेरिका व अनेक यूरोपीय देश अपने उपनिवेशों की पैदावार को बढ़ावा दे रहे थे, भारतीय निर्यात की कई वस्तुओं के स्थानापन्न विकसित किये जा चुके थे एवं अनेक देशों ने आत्मनिर्भरता की नीति अपनाते हुए अपने यहाँ आयात नियन्त्रण कड़े कर दिये थे; (ii) विश्व के प्रमुख देशों की करेंसी में बड़े उलट-फेर हुए, किन्तु जब कि अन्य विदेश अपनी करेंसी सम्बन्धी कठिनाइयों में उलझे हुए थे, स्टर्लिंग देश इन कठिनाइयों से लगभग निकल चुके थे; (iii) ग्रेट ब्रिटेन ने अपने यहाँ आयात की अनेक वस्तुओं पर कर लगा दिये थे। हाँ साम्राज्य के देशों को पारस्परिक सुविधा के आधार पर समझौता होने तक उनको इससे मुक्त रखा गया था। यदि भारत ऐसे समझौतों में भाग नहीं लेता, तो उसके प्रति इङ्गलैंड की नीति कड़ी हो जाती। संक्षेप में भारत को विदेशी बाजारों में अपनी स्थिति कायम रखना कठिन हो रहा था, इसलिये आत्मरक्षा के लिये उसे विशेष सुविधाओं का ढंग अपनाना आवश्यक था।

विपक्ष में बातें—ओटावा समझौते के विरोधियों का कहना था कि (i) यह समझौता भारत के व्यापार को उसकी प्राकृतिक दशाओं से मोड़कर नुकसान पहुँचायेगा;

(ii) विशेष सुविधायें देने से सरकार की आय कम होती है, क्योंकि व्यापार को ऊँचे करों से कम करों की ओर लाया जाता है, (iii) साम्राज्य अधिमान साम्राज्य के अन्य देशों के लिये, जिनका ब्रिटेन के साथ व्यापार 'पूरक स्वभाव' का है उपयुक्त हो सकता है लेकिन भारत के लिये; क्योंकि उसकी सर्वसाधन-सम्पन्नता यह आवश्यक करती है कि वह आत्मनिर्भर बने, कई ब्रिटिश निर्मित वस्तुओं से, जिनका भारत में आयात किया जाता है, संरक्षण प्राप्त करे और अपनी उत्पत्ति के लिये ब्रिटेन से अन्यत्र अधिक लाभदायक बाजार ढूंढ़े। (iv) भारत का विदेशी व्यापार अभी हाल में साम्राज्यान्तर्गत देशों से कम हो गया है, जिसकी क्षतिपूर्ति के लिये अन्य विदेशी बाजारों को बनाये रखना जरूरी है। इसके लिये उसे अन्य देशों से द्विपक्षीय व्यापार समझौते करने होंगे। किन्तु, साम्राज्य अधिमान की नीति अपना लेने से वह उक्त समझौते करने में कम समर्थ हो जायगा। (v) यह डर बेबुनियाद है कि हमारे आयातों के प्रति इङ्गलैंड कड़ी नीति अपनावेगा। वह तो हमारा प्रधान लेनदार है। उसको तब ही भुगतान मिल सकता है जबकि वह हमारे यहाँ से अधिक आयात करे।

उपसंहार :

सच तो यह है कि ओटावा समझौते से ब्रिटेन को ही अधिक लाभ हुआ, भारत को नहीं। निस्संदेह हमारे निर्यात इंगलैंड को बढ़े किन्तु दूसरी ओर अन्य विदेशों को निर्यात कम हो गये। दूसरे देशों ने यह कह कर हमसे सम्बन्ध तोड़ दिया कि हमने इङ्गलैंड के साथ पक्षपात किया है। सन् 1939 में ओटावा समझौता समाप्त कर दिया गया और इसके स्थान में नया भारत-ब्रिटेन समझौता (1939) हुआ।

नये समझौते का उद्देश्य भी ब्रिटेन के उद्योगों को लाभ पहुँचाना था न कि भारतीय व्यवसाय को प्रोत्साहन देना।

☞ Q. 63. What are Bilateral Trade Agreements ? Are they likely to prove advantageous to India in the near future ?

OR

Would you recommend policy of free multilateral trade for this country ? Give reasons for your answer.

'द्विपक्षीय व्यापार समझौतों' से आशय ; भारत के लिये द्विपक्षीय व्यापार समझौतों तथा स्वतन्त्र बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के सापेक्षिक लाभ

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों से आशय :

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'बहुपक्षीय व्यापार' (Multilateral Trade) की अपेक्षा 'द्विपक्षीय व्यापार' (Bilateral Trade) प्रणाली नई है। लेकिन द्वितीय महा-

युद्ध के काल में और इसके बाद 'द्विपक्षीय व्यापार' की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है और अनेक देशों ने द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये हैं। द्विपक्षीय व्यापार समझौते वे हैं जो दो देशों अथवा व्यक्तियों अथवा फर्मों के बीच वस्तुओं के सीधे विनिमय के लिये किये जाते हैं, जिससे भुगतान करने की आवश्यकता नहीं होती। इनका मुख्य लक्ष्य विदेशी विनिमय के निगमन के लिये व्यापार की इस तरह व्यवस्था करना है कि आयात और निर्यात के बीच संतुलन स्थापित हो जाय।

भारत और द्विपक्षीय व्यापार समझौते :

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों की ओर भारत का ध्यान सर्व प्रथम सन् 1929-30 में गया। उन दिनों मन्दी के कारण व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल रहने लगा था जिससे भारतीय व्यापारियों में बड़ी घबराहट फैल गई। व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल रहने का कारण यह था कि भारतीय वस्तुओं के विदेशी क्रेताओं ने अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये थे, यथा—निषेध (Prohibition), एकाधिकार, कोटा, विनिमय-प्रतिबन्ध, लाइसेंस प्रणाली, इत्यादि। व्यापारिक समझौतों के आधार पर नियोजित व्यापार की प्रवृत्ति का जोर बढ़ रहा था। स्वयं इंगलैण्ड भी व्यापारिक संधियाँ कर रहा था। अतः भारत में द्विपक्षीय समझौते द्वारा व्यापारिक विकास करने के पक्ष में आन्दोलन दृढ़ हो गया। देश के सामने यह प्रश्न था कि क्या उसे 'परम अनुगृहीत राष्ट्र व्यवहार' (Most Favoured Nations Treatment) को छोड़कर द्विपक्षीय समझौते की नीति अपना लेनी चाहिये। मार्च, 1936 में धारा सभा में ओटावा समझौते को समाप्त करने के पक्ष में दिये गये मत से इस विवाद को और भी बल मिला।

द्विपक्षीय व्यापार-समझौतों के विरोध में :—

भारत सरकार को द्विपक्षीय समझौतों की नीति पर पूरा विश्वास न था। उसका मत था कि भारत की एवं विश्व की आर्थिक परिस्थितियों में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं हुआ है, जिससे उक्त नीति परिवर्तन की आवश्यकता हो। द्विपक्षीय व्यापार-समझौतों की नीति के पक्ष में सरकार ने निम्न तर्क किये :—

(1) भारत के निर्यात में कच्चे माल का मुख्य स्थान है। कच्चा माल विश्व-बाजारों में तब ही पहुँच सकता है जबकि इन बाजारों में उसका मुक्त प्रवेश हो। परमानुगृहित राष्ट्र के आधार पर उसे यह प्रवेश उपलब्ध है किन्तु द्विपक्षीय समझौतों की नीति अपनाने से मुक्त प्रवेश संभव न रहेगा।

(2) द्विपक्षीय समझौतों के द्वारा सम्बन्धित देशों का न केवल कुल व्यापार ही घट जायेगा, वरन् व्यापार के नवीन दिशाओं में मुड़ जाने से अन्य देश भी हानि उठा सकते हैं। कुल व्यापार की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा अनुकूल व्यापारिक संतुलन की नीति

को पसन्द करने से सभी व्यापारिक संतुलन नष्ट हो जायेंगे और इससे विश्व-व्यापार में स्थाई कमी हो जावेगी।

(3) भारत को इस नीति से लाभ की तुलना में हानि अधिक होगी, क्योंकि उसका विदेशी व्यापार घट जायगा (निर्यात में वृद्धि और आयात में कमी)।

(4) जर्मनी जैसे संकटग्रस्त देशों के लिये तो आयात का नियन्त्रण जरूरी हो सकता है, लेकिन भारत जैसे समृद्ध देश द्वारा ऐसी नीति अपनाना कोरी हार है।

(5) साथ ही, अब भारत की स्थिति विश्व के बाजारों में खाद्यान्न और कच्चे माल के एक प्रधान सप्लायर की नहीं रही। जैसे जर्मनी, जो कि पहले मुख्यतः भारत से कच्चा माल खरीदता था, अब उन देशों से खरीद रहा था, जिनके साथ उनके निकासी समझौते थे। इसी प्रकार कपास, ब्राजील, पीरू, टर्की और मिश्र से, चमड़ा दक्षिणी अमेरिका से, तिलहन अर्जेन्टायना तथा अन्य फ्रेन्च उपनिवेशों से खरीदे जाने लगे।

(6) इन देशों की मुद्रा सम्बन्धी अनिश्चितताएँ और अस्थिर आर्थिक दशाएँ इनके साथ द्विपक्षीय समझौतों के समुचित संचालन में बाधक होंगी। अन्य देशों के साथ भी कितनी ही कठिनाइयां थीं। उदाहरणार्थ, फ्रान्स अपने उपनिवेशों के आयात को प्रोत्साहन दे रहा था। संयुक्त राज्य भी अपनी एकान्तवादी तिकड़मों में संलग्न था तथा विदेशी व्यापार की अपेक्षा देश के वाणिज्य व विकास को विशेष महत्व दे रहा था। इस प्रकार, इन देशों से द्विपक्षीय समझौता करने का अवसर कम था।

(7) दीर्घकालीन दृष्टिकोण से भारत संसार से पृथक रह कर व्यापारिक इकाई के रूप में अपना महत्व नहीं रख सकता। उसे अपनी अतिरिक्त उपज के लिये विश्व के बाजारों में स्थान खोजना पड़ेगा। अतएव उसका हित विश्व-व्यापार के अबाधित और मुक्त प्रवाह में है।

द्विपक्षीय व्यापार समझौतों से लाभ :

इसके विपरीत यह कहा गया कि विश्व में स्वतन्त्र व्यापार की पुनर्स्थापना के आसार बहुत दुर्बल हैं और राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता, आर्थिक राष्ट्रीयता तथा व्यापारिक द्विपक्षीयता दिनों-दिन बढ़ती जायगी। अतः ऐसी दशा में भारत को नवीन व्यापारिक नीति को अपनाना ही चाहिये। युद्धोत्तरकाल में, विशेषतः स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भारत ने विश्व के अनेक देशों से द्विपक्षीय व्यापार समझौते किये हैं, जैसे—यूगोस्लाविया, हंगरी, स्विटजरलैंड, मिश्र अर्जेन्टायना,

सोवियत रूस, पाकिस्तान आदि । निस्संदेह यह नीति बहु-पक्षवाद के विचार के विरुद्ध है, जो कि युद्धोत्तरकाल में विश्व-व्यापार का सबसे वांछनीय स्वरूप माना जाता है। भारत ने द्विपक्षीय समझौते इस कारण किये हैं कि उसे गैर-डॉलर देशों से आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करने में सुविधा हो तथा डॉलर देशों पर निर्भर कम रहना पड़े। द्विपक्षीय व्यापार-समझौते करते समय निम्न बातों का ध्यान रखा गया है :—

(1) भारत को आवश्यक वस्तुओं जैसे खाद्यान्न, मशीनों आदि की सप्लाई निश्चित हो जाय ।

(2) आवश्यक वस्तुओं के आयात, डॉलर देशो से सुलभ मुद्रा देशों को मोड़े जायें ।

(3) निर्यात में अधिक से अधिक वृद्धि हो, जिससे भुगतान संतुलन का घाटा कम हो जाय ।

(4) कुछ देशों (जैसे जर्मनी, रूस, फिनलैंड आदि) के साथ, जहाँ कि विदेशी व्यापार वहाँ की सरकारों के हाथ में है, व्यापार करना सुविधाजनक हो जाय । ऐसे देशों से व्यापार केवल द्विपक्षीय समझौतों के आधार पर ही बढ़ सकता है ।

(5) घनिष्ट व्यापारिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने के दृष्टिकोण से भी द्विपक्षीय व्यापार समझौते जरूरी थे । बर्मा, लंका व मिश्र से किये गये व्यापार समझौतों का आधार यही था ।

उपसंहार—दीर्घकालीन लक्ष्य बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली को अपनाना :

वर्तमान समय में भारत के लिये द्विपक्षीय व्यापार समझौतों की नीति लाभदायक हो सकती है, क्योंकि उसे अपनी आवश्यक वस्तुयें जहाँ से भी मिल सकें, प्राप्त करना जरूरी है अन्यथा उसके आर्थिक विकास की योजनायें अपूर्ण रह जायेंगी, किन्तु इस नीति को दीर्घकालीन लक्ष्य नहीं बनाना चाहिये, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं स्थायित्व कायम होने पर भारत को बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली से अनेक लाभ हो सकेंगे ।

☞ **Q. 64. Describe the Special features of G. A. T. T. How far has it benefitted India ?**

जी० ए० टी० टी० एवं भारत

जी० ए० टी० टी० (गैट) की विशेषतायें :

सन् 1945 में युद्ध की समाप्ति के साथ-साथ विश्व भर के अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लगे कि यदि बड़े देशों ने कोई सम्मिलित कदम नहीं

उठाया तो विश्व पुनः प्रतिस्पर्धात्मक नियन्त्रण एवं प्रतिबन्धों के खौलते पानी के कढ़ाव में गिर जायगा। युद्ध के पूर्व स्वतन्त्र विश्व बाजार लोप से हो गये थे तथा राष्ट्रीय आधार पर अर्थ व्यवस्थाओं का विकास किया जा रहा था, जिससे व्यापारिक कठिनाइयों में वृद्धि हो गई थी। अतः स्वतन्त्र व्यापार के विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता उदय हुई। यह 'अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व्यापार एवं प्रशुल्क विषयक सामान्य समझौते' (General Agreements on Tariffs and Trade or G. A. T. T.) के रूप में हमारे सामने हैं। यह समझौता एक जनवरी 1948 से व्यवहार में लाया गया।

जी० ए० टी० टी० एक अन्तर्राष्ट्रीय कन्ट्रैक्ट है, जिसकी शर्तें इसके विभिन्न अनुच्छेदों (Articles) में दी हुई है। इसका उद्देश्य स्वतंत्र व्यापार को प्रोत्साहित करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभाव-पूर्ण व्यापार को समाप्त कराना है। जी० ए० टी० टी० में यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी लाभ, अधिकार या छूट के सम्बन्ध में, जो कि इस समझौते के किसी भी सदस्य देश द्वारा अन्य देश की किसी उत्पत्ति के लिये स्वीकार की जाय, परमानुगृहित राष्ट्र-व्यवहार तत्काल ही बिना शर्त अन्य सभी समझौतों में भाग लेने वाले देशों के वैसे ही उत्पादन के प्रति भी प्रदान किया जायगा। इस प्रकार गैट (Gatt) परमानुगृहित राष्ट्र-व्यवहार को बहुमुखी बनाता है। विद्यमान इम्पीरियल प्रिफरेन्स सिस्टम (साम्राज्य अधिमान व्यवस्था) को गैट के क्षेत्र में छोड़ दिया गया है।

इन्टरनेशनल ट्रेड चार्टर (या हवाना चार्टर) तथा गैट वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विघ्न डालने वाले अनेक प्रतिबन्धों एवं टैरिफों को हटाने के साहसिक प्रयासों का प्रतीक है। यदि ये प्रतिबन्ध हटा लिए जायें तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रवाह निष्कंटक हो जाय, और इसके परिणामस्वरूप, विश्व का अधिक संतुलित आर्थिक विकास हो सकता है। यह उन विदेशी विनिमय सम्बन्धी कठिनाइयों को भी दूर कर सकेगा, जो कि व्यापार की स्वतंत्रता के अभाव में विभिन्न देशों द्वारा अनुभव की जाती हैं। किन्तु, यद्यपि अमेरिका, कनाडा और अन्य देशों ने अपने टैरिफों में कुछ कमी कर दी है तथा कुछ देशों ने टैरिफों की कमी के लिए द्विपक्षीय व्यापार-समझौते भी किए हैं तथापि हवाना चार्टर और गैट की पुष्टि सभी देशों द्वारा नहीं की जा सकी है, क्योंकि (i) टैरिफ संरक्षण हटा लेने से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं जिसे सम्बन्धित देश सहन करने को तत्पर नहीं होते, और (ii) हवाना चार्टर के होते हुए भी परस्पर शंका और अविश्वास की भावना समाई हुई है।

भारत एवं जी० ए० टी० टी० :

प्रारम्भ में जी० ए० टी० टी० के अन्तर्गत भारत को जो प्रशुल्क सम्बन्धी रिआयतें मिली थीं उनकी भारतीय प्रशुल्क आयोग ने अच्छी तरह से जाँच की। इस आयोग के अनुसार यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता था कि उन रिआयतों

का भारत के व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ेगा। फिर भी उसने यह निश्चय के साथ कह दिया कि 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ' का भविष्य जब तक स्पष्ट ज्ञात न हो जाय भारत को जी० ए० टी० टी० के विरुद्ध नहीं जाना चाहिये। प्रशुल्क आयोग ने यह भी कहा था कि प्रत्येक व्यवहार में भारत को निम्नलिखित सिद्धान्तों का ध्यान रखना चाहिये :—

(I) निम्न वस्तुओं पर रिआयतें पाने की चेष्टा करनी चाहिये :—
- (i) कच्चे माल की अपेक्षा निर्मित माल पर।
- (ii) उन वस्तुओं पर जो कि विश्व की वैसी ही वस्तुओं से प्रतिद्वन्द्विता करें।
- (iii) उन वस्तुओं के सम्बन्ध में, जो कि विश्व में उनकी स्थानापन्न वस्तुओं से प्रतिद्वन्द्विता करें।

(II) निम्न वस्तुओं पर ही रिआयतें देनी चाहिये :—
- (i) उत्पादक माल।
- (ii) अन्य मशीनरी व इक्विपमेण्ट।
- (iii) प्रमुख कच्चा माल।

(III) कुटीर तथा लघु उद्योगों की उन्नति परमावश्यक है। अतः इनके विषय में अधिक से अधिक रिआयतें प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

(IV) जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में जी० ए० टी० टी० के अन्तर्गत व्यापार समझौते हुए हैं उनके आयात और निर्यात पर विशेष दृष्टि रखनी चाहिये तथा प्रति 6 माह के पश्चात् इनसे सम्बन्धित आंकड़े भी प्रकाशित करने चाहिये।

1950 में टोरोके की टैरिफ वार्त्ताओं के फलस्वरूप भारत को सन् 1948-49 की व्यापारिक सांख्यकी के आधार पर अपने निर्यातों के लिये 185 लाख रु० की प्रत्यक्ष तथा 513 लाख रु० की अप्रत्यक्ष टैरिफ रिआयतें प्राप्त हुईं तथा उसके बदले में89 लाख रु० की प्रत्यक्ष एवं 377 लाख रु० की अप्रत्यक्ष टैरिफ रिआयतें दीं। बाद की गैट कान्फ्रेन्सों में भारत को बहुत कम टैरिफ रिआयतें प्राप्त हुईं।

सन् 1952 में भारत ने पाकिस्तान द्वारा जूट के निर्यात पर लगाये गये भेदात्मक करों के विरुद्ध शिकायत की थी। गैट ने दोनों देशों की सरकारों को आमंत्रित किया और पाकिस्तान द्वारा भारत को जूट तथा भारत द्वारा पाकिस्तान को कोयला देने की शर्तों पर एक दीर्घकालीन व्यापारिक समझौता कराया तथा दोनों देश भेदात्मक करों को समाप्त करने के लिये राजी हो गये।

ऐसा प्रतीत होता है कि जनेवा, एनेकी एवं टोरेको सम्मेलनों के समय भारतीय प्रतिनिधियों को देश में औद्योगिक प्रगति की रफ्तार का सही ज्ञान था। परिणाम यह हुआ कि कृषि ट्रैक्टरों, सेफ्टीरेजर ब्लेड, वायरलैस रिसीवर, कोलतार डाईज,

टार्च के एवं ओटोमोबाइल्स के इलेक्ट्रिक बल्बों आदि के लिये उसने अन्य देशों को रिआयतें दे दीं। अतः इनमें से कुछ रिआयतो को वापस लेने की आवश्यकता अनुभव हुई। जैसा कि ऊपर संकेत किया गया था, भारत सरकार ने गैट से फरवरी, 1954 मे कुछ वस्तुओं पर दी हुई रिआयतें वापस लेने की अनुमति देने का अनुरोध किया। यह अनुरोध केवल अंशतः ही स्वीकार किया गया। सन् 1961 के नवम्बर-दिसम्बर सम्मेलन से भारत के उद्योग एवं वाणिज्य मंत्री ने गैट देशों से यह अनुरोध किया कि वे अर्धविकसित देशों को एकमार्गी व्यापार की सुविधा दें।

गैट-देशों के मंत्री-सम्मेलन ने इस अनुरोध पर गम्भीरता से विचार किया तथा यह सिद्धांत स्वीकार कर लिया कि भारत तथा अन्य कम-विकसित देशों को पश्चिम के प्रगतिशील देशों को अपनी अधिक वस्तुयें निर्यात करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये।

☞ **Q. 65. Give the broad features of trade agreements which India has concluded with different countries of the world.**

(Sagar, 1916)

भारत की व्यापारिक संधियाँ

दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन संधियाँ :

भारत की व्यापारिक संधियों को दो मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है :—(I) दीर्घकालीन संधियाँ (Long Term Arrangements) एवं (II) अल्पकालीन संधियाँ (Short Term Arrangements)। दीर्घकालीन संधियों के अन्तर्गत अनेक विषय व अनेक देश आते हैं। ये संधियाँ प्रायः सामान्य प्रकार की होती हैं। उनमें आयात एवं निर्यात के बारे में कोई विशिष्ट आयोजन नहीं होते। केवल यह आश्वासन दिया जाता है कि 'परमानुगृहीत राष्ट्र व्यवहार' सम्बन्धित देशों को भी विस्तृत किया जायगा। नेपाल एवं अफगानिस्तान के साथ भारत की सन्धियाँ इसी श्रेणी में आती हैं। इसके विपरीत, अल्पकालीन सन्धियाँ यह सूचित करती हैं कि कौन-कौन सी वस्तुयें एक देश से दूसरे देश को उपलब्ध होंगी। इन वस्तुओं के नाम संधि के साथ की सूची में दिये होते हैं। कभी-कभी संधियाँ अदल बदल समझौता या थोक क्रय या विक्रय समझौतों का रूप ले सकती हैं। इन अल्पकालीन सन्धियों में भुगतान की शर्तों, शिपिंग, बैंकिंग एवं बीमा सुविधाओं तथा टेक्नीकल सहायता का भी उल्लेख रहता है।

अदल बदल समझौते एवं थोक क्रय समझौते :

अदल बदल समझौते (Barter Agreements) एवं थोक क्रय समझौते (Bulk Purchase Agreements) व्यापारिक संधियों के विशिष्ट रूप हैं। एक देश की विशेष वस्तु के बदले दूसरे देश की विशेष वस्तु का विनिमय करने वाले

समझौते अर्जेन्टाइना, पाकिस्तान, मिश्र, रूस, पूर्वी युगोस्लावियन देशों व चीन के साथ किये गये हैं। सच तो यह है कि उन सब देशों में, जहाँ कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था राज्य-नियंत्रित हो, केवल अदल बदल द्वारा ही विदेशी व्यापार संभव है। भारत ने अदल बदल समझौते मुख्यत: खाद्य पदार्थों की प्राप्ति के लिये (चाय, वनस्पति, तेल, जूट के सामान आदि के बदले में) किये हैं।

जहाँ तक भारत की अल्पकालीन संधियों का सम्बन्ध है, उसने अभी हाल में लगभग 30 देशों से समझौते किये हैं। इनमें से 10 कम्यूनिस्ट देशों से हैं और इसलिये कुछ भिन्न हैं। भारत के द्विपक्षीय व्यापार समझौतों (Bilateral Trade Agreements) में वस्तुओं के कोटे निश्चित नहीं होते, केवल विनिमय की जाने वाली वस्तुओं की सूची दी होती है। ये समझौते व्यापार के द्विपक्षीय संतुलन पर भी बल नहीं देते। वस्तु सूची उदाहरणात्मक होती है सम्पूर्ण नहीं। सूची के अतिरिक्त वस्तुओं में भी व्यापार बिना रोकटोक हो सकता है। चूंकि वस्तुओं के आयात निर्यात के कोटे निश्चित नहीं होते, इसलिये वस्तुओं का वास्तविक विनिमय क्रमिक देशों के आयात-निर्यातों पर तथा वस्तुओं के लिये माँग पर निर्भर होता है। व्यापार समझौतों में केवल बर्मा, चिली, लंका पाकिस्तान, प० जर्मनी एवं अफगानिस्तान के साथ कुछ वस्तुओं के लिये कोटे निश्चित हैं। ऐसे कोटे दुर्लभ वस्तुओं की माँग को पूरा करने के हेतु या किसी परम्परागत वस्तु के लिये स्थाई बाजार खोजने के हेतु निश्चित किये गये हैं।

कम्यूनिस्ट देशों से व्यापार समझौते :

भारत ने सभी पूर्वी यूरोपियन देशों से (केवल अलबानिया को छोड़ कर) व्यापार समझौते किये हैं। इनका उद्देश्य इन देशों से समानता एवं पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर भारत के व्यापार-सम्बन्धों को घनिष्ट बनाना है। चूँकि इन देशों में व्यापार पद्धतियाँ विश्व के स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था वाले देशों से भिन्न हैं इसलिये भारत एवं इन देशों के मध्य व्यापार को बहुपक्षीय व्यापार का सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। अत: इनके साथ हमारे सभी व्यापारिक समझौतों में बकाया बैलेन्स के निपटारे की व्यवस्था की गई है। इसका कारण यह था कि इनसे कोई व्यापारिक समझौता अदल बदल के स्वभाव का न था, जिसमें एक निर्दिष्ट मात्रा में वस्तुओं के विनिमय की व्यवस्था की जाया करती है। व्यापारिक समझौतों की शर्तों के अनुसार आयात-निर्यात लचीले रखे गये हैं अर्थात् मूल्य एवं किस्म सम्बन्धी व्यापारिक घटकों के प्रभाव के लिये गुञ्जाइश रखी गई है (सन् 1958 तक बकाया बैलेन्स स्टर्लिंग में परिणित किये जाते थे लेकिन अब व्यापार खाता रुपयों (Rupees) में रखा जाता है। इस नये परिवर्तन का महत्व यह है कि यदि पूर्वी यूरोपीय देशों का कुछ बैलेन्स भारत पर बकाया हो, तो उन्हें इसके निपटारे के लिये भारतीय माल खरीदना पड़ेगा।

परिशिष्ट

परीक्षा प्रश्नपत्र

AGRA UNIVERSITY

M. A. Examination, 1963

ECONOMICS—International Trade and Foreign Exchange

1. "The outstanding effect of international trade is to bring about specialization among nations. If trade were free from all restraints, and if, further, there were no costs of transport, each country would concentrate upon the production of those commodities for which its relative costs were lowest'. Discuss critically.
2. What are 'terms of trade'? If the terms of trade become favourable to a country does it necessarily mean 'gain' from trade? Illustrate your answer with examples.
3. In approving a change in the par value of a member's currency the I. M. F. has to see whether such a change is essential to correct a fundamental disequilibrium. What is the precise meaning of 'fundamental disequilibrium' and what criteria are used in finding out whether such a condition has arisen?
4. How far do you agree with the view that whereas free trade might be in the best interests of developed economies, it is always harmful to underdeveloped economies? Give reasons for your answer.
5. Write short notes on any three of the following :—
   (a) European Common Market. (b) Export promotion. (c) Dumping. (d) Bilateral trade agreements. (e) Guillotine quota. (f) Exchange Equalization Account.
6. Under what conditions is tariff protection justified in the case of an economically developed country?
7. What problems are faced in restoring full and free convertibility to a country's currency? To what extent and in what manner does the I. M. F. help in this process?

8. Discuss critically the purchasing power parity theory of foreign exchange. Has this theory any practical importance ?

9. Exchange control furnishes no solution to the balance of payments disequilibrium of a country. It deals only with the deficit, not its causes, and it exacerbates those causes, tending to create a more basic disequilibrium. How far do you agree with this point of view ? Give reasons for your answer.

10. What are the main objectives of the G. A. T. T. ? To what extent have they been realized ? What practical suggestions could you make for improving conditions ?

VIKRAM UNIVERSITY

M. A. Examination, 1963

International Trade & Foreign Exchange

1. How will the theory of comparative costs be modified if the factors of 'Diminishing Returns' and 'Transport costs' are introduced in its analysis ?

2. Critically examine the theory of Purchasing Power Parity.

3. What are the effects of price variations on the course of international trade ?

4. Explain the causes and effects of fluctuations in the foreign rate of exchange. Can you suggest some corrections in this regard ?

5. Discuss the concepts of the balance of payments. Can there be an equilibrium in such payments ?

6. Examine the arguments in favour of Protection. How economic planning of a country can get fillip due to Protection ?

7. What are the foreign exchange requirements of the third Five-Year Plan in India ? How are these requirements proposed to be met ?

8. Discuss the economic implications of Devaluation. How exports and imports are affected by it ?

9. Explain the significance of the European Common Market. What are its effects on Trade Foreign Exchange ?

10. Write short notes on any *three* of the following :—
   (a) Gold points.
   (b) Soft and Hard currency.
   (c) Trade preferences.
   (d) G. A. T. T.
   (e) Dumping.
   (f) I. M. F.

RAJASTHAN UNIVERSITY

M. A. Examination, 1963

ECONOMICS

OPTIONAL GROUP E—INTERNATIONAL ECONOMICS

FIRST PAPER—International Trade and Tariffs

1. Explain briefly the advantages of International trade. Are we able to have these advantages under our system of Planning ? Give reasons.
2. State and explain the Commercial Policy of India since 1951.
3. How is it that under conditions of development, we have to think of more exports ?
4. What are the main difficulties in the way of the expansion of our export trade ? What steps would you take to remove them ?
5. What would be the effects on the trade of India if the United Kingdom joins the European Common Market ?
6. Discuss the nature of trade between India and Pakistan since Independence.
7. Examine the growth of trade between the U. S. A. and India since 1951.
8. In what way has the State Trading Corporation helped the growth of our foreign trade ? Give reasons for your answer.
9. Discuss the actual functions of the Tariff Commission in recent years. In what respects have they undergone a change from the main functions of the Commission ? Give reasons.

10. Discuss the nature of trade between Rajasthan and other regions of the country and suggest methods to improve the same.

SECOND PAPER—Foreign Exchange and International Economic Co-operation

1. Discuss a few alternative concepts of 'balance-of-payment deficit'. Which of these do you think is the most significant? Give reasons for your answer
2. Discuss the arguments for and against a policy of flexible exchange rate.
3. Critically examine the purchasing power parity theory of foreign exchange.
4. What are the causes for international capital movements? Point out the differences in the nature of international capital movements durings the two periods, namely, (*a*) inter-war period between 1920 and 1939, and (*b*) the post-second-world-war period since 1946.
5. Describe the rationale and working of the Indian exchange control during World War II, *i. e.*, 1939 to 1945.
6. Discuss the pros and cons of India's membership of the Sterling Bloc.
7. Do you think there is a case for the devaluation of the Indian rupee now or in the immediate future? Give reasons for your answer.
8. In what ways will the Indo-Chinese war, if continued for, say, three years, affect India's balance of payments?
9. Examine the alternative proposals for increasing the liquidity of the International Monetary Fund.
10. Describe the broad changes in the quantity and composition of British investments in India since 1939.